मनुस्मृतिः

तीर्थानन्द झा

श्रीकुल्लूकभट्टकृतमन्वर्थमुक्तावली

एवं

'आरत्ति' भाषा टीका सहित

मनुस्मृति

(२ एवं ७ अध्याय)

तीर्थानन्द झा

प्राध्यापक, श्री समन्तभद्र संस्कृत महाविद्यालय

दरियागंज, नई दिल्ली

निर्माण प्रकाशन

१९/ए, राम नगर लोनी रोड, शाहदरा, दिल्ली-३२

प्रकाशक :
विनोद कुमार शर्मा
निर्माण प्रकाशन
१९/ए, राम नगर लोनी रोड, शाहदरा, दिल्ली-३२

प्रथम संस्करण : १९८५

© तीर्थानन्द झा

मूल्य : ३५.०० (पुस्तकालय-संस्करण)
२५.०० (छात्र-संस्करण)

मुद्रक : रायल प्रिंटर्स
बलवीर नगर, शाहदरा
दिल्ली-३२

अनुक्रम

	पृष्ठ सं०
प्राक्कथन	V
दो शब्द	VII
संकेताक्षर सूची	VIII
१. भूमिका	
(i) अनुबन्ध चतुष्टय	IX
(ii) मनुस्मृति के विषय धर्म का क्षेत्र	X
(iii) द्वितीय अध्याय के प्रमुख प्रतिपाद्य विषय	X
(iv) सातवें अध्याय के प्रमुख प्रतिपाद्य विषय	XIV
२. दूसरा अध्याय	१—१०४
३. सातवां अध्याय	१०५—१८६
४. श्लोकानुक्रमणिका	१८७—१९४

प्राक्कथन

धर्मशास्त्र के साहित्य के सन्दर्भ में याज्ञवल्क्य स्मृति और मनुस्मृति का महत्त्व बहुत प्रशस्त है। धर्म शब्द का अर्थ बहुत व्यापक है। इसका अनुवाद अंग्रेजी में रिलीजन करना सर्वथा अपर्याप्त है। इस सम्बन्ध में अब प्रायः सभी भारतीय तथा विदेशी विद्वानों का मत यही है। धर्म शब्द का अर्थ ड्यूटी या साधारण कर्तव्य भी नहीं है जैसा कि अधिकतर पाश्चात्य विद्वानों ने किया है। धर्म शब्द का सम्बन्ध अपने व्यापक दायरे में सामाजिक, धार्मिक, आचार प्रधान तथा नीतिप्रधान मान्यताओं से जुड़ा हुआ है और हमारे जीवन की प्रतिदिन की आधारभूत क्रियाओं से है। यह सर्वविदित है कि हिन्दू समाज में उत्पन्न बालक जन्म से मरण पर्यन्त धार्मिक संस्कारों से जुड़ा रहता है; गर्भाधान से और्ध्वदेहिक संस्कारों तक।

याज्ञवल्क्य स्मृति श्री मिहिरचन्द्र विरचित मिताक्षरा के साथ विख्यात है। और मनुस्मृति कुल्लूक भट्ट की मन्वर्थमुक्तावली से साथ प्रसिद्ध है। इन दोनों स्मृतियों के यथार्थ अर्थावबोध के लिए इन दोनों टीकाओं का आश्रय नितान्त उपयोगी है। मिताक्षरा के साथ याज्ञवल्क्य स्मृति का हिन्दी अनुवाद ९० वर्ष पहले सम्वत् १९५१ में श्रीवेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई से छपा था। संस्कृत की सात टीकाओं के साथ मनुस्मृति का संस्करण श्री विश्वनाथ नारायण मण्डलीक ने सन् १८८६ में प्रकाशित किया था। मेधातिथि द्वारा विरचित मनुभाष्य के साथ मनुस्मृति के अनेक संस्करण प्रकाशित हुए हैं, जिनमें श्री धारपुडे और डा० गंगानाथ झा के संस्करण उल्लेखनीय हैं। इसी प्रकार कुल्लूक भट्ट की टीका के साथ मनुस्मृति का निर्णयसागर संस्करण भी अत्यन्त विद्वत्प्रिय तथा प्रसिद्ध रहा है। भारत सरकार द्वारा स्थापित संस्कृत आयोग (१९५६) के सुझाव तथा शिफारिश पर श्री जयन्त कृष्ण हरिकृष्ण दुबे ने १९७२ में बम्बई से मनुस्मृति का संस्करण नौ संस्कृत-टीकाओं के साथ प्रकाशित करके संस्कृत विद्या तथा भारतीय संस्कृति के प्रेमियों का महान् उपकार किया है। इस संस्करण में श्री मण्डलीक ने सप्तटीका संस्करण में उपलब्ध टीकाओं के अतिरिक्त श्री मणिराम तथा श्री भारुचि की संस्कृत

टीकाओं का भी सबसे पहली बार प्रामाणिक सम्पादन किया है।

हम जानते हैं कि मनुस्मृति ने धर्म के सन्दर्भ में चार मूल स्रोतों का जिक्र किया है : (१) श्रुति अथवा वेद (२) स्मृति (३) सदाचार (४) स्वान्त:करण। यह स्मरणीय है कि श्रुति परममहेश्वर द्वारा प्रोक्त होने से नित्य तथा परम प्रामाणिक मानी जाती है, 'यस्य निःश्वासितं वेदाः,'। श्रुति किसी मनुष्य द्वारा विरचित नहीं है। श्रुतियों का साक्षात्कार तो मन्त्रद्रष्टा ऋषियों ने ऋतम्भरा प्रज्ञा द्वारा ध्यान नेत्रों से समाधि में किया था। किन्तु यह बात मनुस्मृति के विषय में नहीं मानी जाती। मनुस्मृति के ही अन्त: साक्ष्य से यह सिद्ध हो जाता है कि भृगु को मनुस्मृति के मूल विषयों का ही ज्ञान हुआ था, वह भी साक्षात् नहीं हुआ किन्तु मनु के माध्यम से हुआ था।

मनुस्मृति के आधुनिक भारतीय तथा आधुनिक यूरोपीय भाषाओं में भी अनेक अनुवाद प्रकाशित हुए हैं। जिनमें श्री ओलिविएर लाकोम्ब का 'ल लो आ द मनु' नामक फ्रान्सीसी अनुवाद-संस्करण बहुमूल्य है। जिन पाश्चात्य तथा पौरस्त्य विद्वानों ने मनुस्मृति के रचना काल पर शोध किया है उनमें ब्हूलर, मेक्समूलर, महामहोपाध्याय पाण्डुरंग वामन काणे के नाम विशेष रूप से स्मरणीय हैं। मनुस्मृति के रचनाकाल को समझने के लिए जिज्ञासुओं को श्री काणे का धर्मशास्त्र का इतिहास देखना चाहिए। अधिकतर विद्वान् मनुस्मृति का रचनाकाल ईसा से पूर्व दूसरी शताब्दी से ईसा पश्चात् दूसरी शताब्दी के बीच में मानते हैं।

मेरे प्रिय शिष्य श्री तीर्थानन्द झा ने प्रस्तुत संस्करण में मनुस्मृति के दूसरे तथा सातवें अध्याय को कुल्लूकभट्ट की संस्कृत टीका तथा अपने हिन्दी अनुवाद के साथ प्रस्तुत किया है। साथ में विशिष्ट शब्दों पर व्याख्यात्मक टिप्पणी भी लगाई है। मैंने इस संस्करण को 'स्थालविपुलाक न्याय' से यत्र तत्र देखा है और मुझे यह लिखते हुए बड़ी प्रसन्नता है कि यह संस्करण काफी शुद्ध है और हिन्दी अनुवाद तथा टिप्पणियां भी प्रामाणिक हैं। श्री तीर्थानन्द झा स्वयं पण्डित हैं और पण्डितपुत्र हैं। इनके पिता जी पण्डित श्री गोपानन्द जी झा न्याय, वेदान्त धर्मशास्त्र, कर्मकाण्ड तथा ज्योतिष शास्त्र के दिल्ली के जाने माने विद्वान् हैं श्री तीर्थानन्द की प्रतिभा और उनके कुलक्रमागत संस्कार श्री समन्तभद्र संस्कृत महाविद्यालय में अध्यापन करते-करते निखर गए हैं। मैं तीर्थानन्द झा को इस सुन्दर तथा उपयोगी संस्करण के लिए हार्दिक शुभाशीष देता हूं। मुझे पूर्ण विश्वास है कि यह संस्करण केवल परीक्षार्थी छात्रों के लिए ही नहीं बल्कि अध्यापकों के लिए भी ग्राह्य होगा। कल्याणमस्तु !

रसिक विहारी जोशी
एम० ए०, पी० एच० डी; डी० लिट् (पेरिस)
प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष
संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय दिल्ली

७-२-१९८५
दिल्ली

दो शब्द

दिल्ली विश्वविद्यालय के बी०ए० ऑनर्स (संस्कृत) द्वितीय वर्ष के पाठ्यक्रम में निर्धारित, कुल्लूकभट्टकृत मन्वर्थमुक्तावली सहित 'मनुस्मृति' के दूसरे एवं सातवें अध्याय के छात्रोपयोगी संस्करण का उपलब्ध न होना इस ग्रन्थ के संपादन, अनुवाद तथा व्याख्या का कारण बना। यदि मैं अपने इस उद्देश्य में कुछ भी सफल होता हूं तो मैं अपना सौभाग्य समझूंगा।

मेरे इस प्रयास को परिणाम तक पहुंचाने में हमारे महाविद्यालय के प्राचार्य श्री प्रकाशचन्द जैन का सहयोग अविस्मरणीय है। श्रद्धेय गुरु प्रो० रसिक बिहारी जोशी ने इस पुस्तक को प्रकाशित करने की प्रेरणा देकर तथा प्राक्कथन लिखकर मेरे उत्साह को बढ़ाया है, उनकी इस शिष्य वत्सलता के प्रति मैं नतमस्तक हूं। अपने मित्र डा० सुरेशचन्द मिश्र को धन्यवाद देकर मैं औपचारिकता के बन्धन में नहीं डालना चाहता। अन्त में मैं श्री विनोद कुमार शर्मा, अध्यक्ष, निर्माण प्रकाशन का भी धन्यवाद करना चाहता हूं, जिनके अथक परिश्रम से इतने कम समय में यह पुस्तक प्रकाशित हुई है।

विदुषां वशंवद:
तीर्थानन्द झा
श्री समन्तभद्र संस्कृत महाविद्यालय
दरियागंज, नई दिल्ली

संकेताक्षर सूची

अ०	अन्वयः
अ० को०	अमरकोषः
अर्थ०	अर्थसंग्रहः
आश्व०गृ०	आश्वलायन गृह्यसूत्र
कठो०	कठोपनिषद्
कुल्लू०	कुल्लूक भट्ट
गी०	श्रीमद्भगवद्गीता
गृ०	गृह्यसूत्र
जै० न्या० सू०	जैमिनी गृह्यसूत्र
पा०	पाणिनी अष्टाध्यायी
पा० यो०	पातञ्जल योगदर्शन
बृह०	बृहदारण्यकोपनिषद्
मनु०	मनुस्मृतिः
मणि०	मणिराम
मार्क०	मार्कण्डेयस्मृतिः
याज्ञ०	याज्ञवल्क्यस्मृतिः
राघव०	राघवानन्द
व्या० स्मृ०	व्यासस्मृतिः
वृ० गौ०	वृद्धगौतमस्मृतिः
सर्वज्ञ०	सर्वज्ञनारायण

भूमिका

अनुबन्ध चतुष्टय—किसी भी ग्रन्थ के अध्ययन से पूर्व उसके विषय, सम्बन्ध प्रयोजन तथा अधिकारी के विषय में जानना चाहिए। स्मृति ग्रंथों का प्रतिपाद्य विषय प्रायः धर्म ही होता है, मनुस्मृति भी इसका अपवाद नहीं है। यद्यपि मनुस्मृति के प्रथम अध्याय में सृष्टि का वर्णन है किन्तु मेधातिथि के मत में इस सृष्टि में जो विभिन्न योनियां हैं वे धर्म तथा अधर्म के कारण हैं।[1] इस प्रकार सृष्टि का वर्णन धर्म के फल से ही सम्बन्धित है। कुल्लूकभट्ट के अनुसार मनु ने धर्म के लक्षण में आत्मज्ञानवाच्य विद्या को भी धर्म कहा है, अतः प्रथम अध्याय में आत्मज्ञान स्वरूप परमधर्म के ज्ञान के लिए सृष्टि का वर्णन करने में कोई विरोध नहीं है।[2] मनुस्मृति तथा उपरोक्त विषय धर्म में प्रतिपाद्य प्रतिपादक भाव सम्बंध है। इस का प्रयोजन धर्मज्ञान है जिसके अनुष्ठान से स्वर्गादि की प्राप्ति होती है। इसका अधिकारी वह व्यक्ति है जो अर्थ तथा काम में आसक्त नहीं है तथा जिसके गर्भाधानादि संस्कार मन्त्रों के द्वारा करने का विधान किया गया है।[3] शूद्रों को संस्कार

---

१. ब्राह्माद्याः स्थावरपर्यन्ताः संसार गतयो धर्माधर्मनिमित्ता अत्र प्रतिपाद्यन्ते। मनु० I.५ मनुभाष्य।

२. आत्मज्ञानस्यापि धर्मरूपत्वान्मनुनैव "धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः। धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणं।" इति दशविध धर्माभिधाने विद्याशब्दवाच्यमात्मज्ञानं धर्मत्वेनोक्तम्।
आत्मज्ञानरूपपरमधर्मावगमाय प्रथमाध्यायं कृत्वा संस्कारादिरूपं धर्मं तदङ्गतया द्वितीयाध्यायादिक्रमेण वक्ष्यतीति न कश्चिद्विरोधः।
मनु० I. ५ मन्वर्थ मुक्तावली।

३. अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते।
धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः॥ मनु० II. १३.
निषेकादि श्मशानान्तो मन्त्रैर्यस्योदितो विधिः।
तस्य शास्त्रेऽधिकारोऽस्मिन् ज्ञेयो नान्यस्य कस्यचित्॥ मनु० II.१६.

की आवश्यकता नहीं होती तथा स्त्रियों के संस्कार विवाह को छोड़कर वैदिक मन्त्रों से नहीं होते हैं अतः अर्थ तथा काम में अनासक्त ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य पुरुष ही मनुस्मृति के अध्ययन का अधिकारी हैं।

मनुस्मृति के विषय धर्म का क्षेत्र

धर्म शब्द का प्रयोग कर्तव्य, स्वभाव, गुण संप्रदाय आदि विभिन्न अर्थों में प्रचलित है, अतः मनुस्मृति के विषय धर्म के क्षेत्र का निरूपण आवश्यक है। इस ग्रंथ में ब्राह्मणादि वर्णों के अध्ययनादि कर्तव्यों का अर्थात् वर्णधर्म का, ब्रह्मचर्यादि आश्रमों में भिक्षाटनादि कर्तव्यों अर्थात् आश्रमधर्म का, ब्रह्मचर्यादि आश्रमों में ब्राह्मणादि वर्णों का, बेल या पलाशादि दण्ड धारण आदि कर्तव्यों अर्थात् वर्णाश्रम-धर्म का, अभिषिक्त राजा के प्रजापालनादि कर्तव्यों अर्थात् गुणधर्म का तथा किसी निमित्त से किए गए प्रायश्चित्त आदि कर्तव्यों अर्थात् निमित्त धर्म का निर्देश है। संक्षेप में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र एवं वर्ण संकरों के सामान्य तथा विशेष परि-स्थितियों में कर्तव्यों का निर्देश ही मनुस्मृति के विषय धर्म का क्षेत्र है।

द्वितीय अध्याय के मुख्य विषय

धर्म का लक्षण—सज्जन, सुख में आसक्ति तथा दुःख में घृणा न रखने वाले विद्वानों के द्वारा जिसका अनुसरण किया जाता है तथा वे हृदय से जिसका अनु-मोदन भी करते हैं, वह धर्म है।

विद्वद्भिः सेवितः सद्भिर्नित्यमद्वेषरागिभिः।
हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस्तं निबोधत ॥ मनु० II.१.

धर्मज्ञान के साधन—धर्म के यथार्थ ज्ञान के लिए निरपेक्ष प्रमाण वेद है। वेद के अतिरिक्त स्मृति ग्रंथ, महापुरुषों का आचरण तथा आत्म-संतुष्टि भी धर्मज्ञान के साधन हैं किन्तु ये सभी वेद के विरोधी न होने पर ही मान्य हैं—

वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च ॥ मनु० II.६.

ब्रह्मावर्त, ब्रह्मर्षिदेश, मध्यदेश एवं आर्यावर्त

सदाचार धर्म है, यह धर्म के लक्षण में कहा गया किन्तु उसको कैसे जाना जाए? इस जिज्ञासा को शान्त करने के लिए ग्रंथकार ने सज्जनों के आचरण के अनुकूल व्यवहार को ही सदाचार कहा है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक देश का आचार पृथक्पृथक् होता है, वहां किस प्रकार से यह निर्णय किया जा सकेगा कि किस देश

का आचार सदाचार है ? इसी प्रश्न के उत्तर में ग्रंथकार ने उन स्थानों के नाम गिनवाए हैं जहां का देशाचार सदाचार है। वे हैं :—

ब्रह्मावर्त—देवताओं के द्वारा निर्मित, सरस्वती तथा दृषद्वती नदियों के मध्य का भूभाग ब्रह्मावर्त देश कहलाता है—

सरस्वतीदृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम् ।
तं देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्तं प्रचक्षते ।। मनु० II.१७

ब्रह्मर्षि देश—कुरुक्षेत्र, मत्स्य, पंजाब तथा शूरसेन (मथुरा का प्रान्त भाग) ये मिलकर ब्रह्मर्षि देश कहलाता है। यहां के ब्राह्मण न केवल आर्यावर्त अपितु संपूर्ण पृथ्वी के लिए आदर्श हैं—

कुरुक्षेत्रं च मत्स्याश्च पञ्चालाः शूरसेनकाः ।
एष ब्रह्मर्षिदेशो वै ब्रह्मावर्तादनन्तरः ।।
एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मन ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन्पृथिव्यां सर्वमानवाः ।। मनु० II.१९,२०

मध्यदेश—हिमालय तथा विन्ध्याचल के मध्य में सरस्वती से पूर्व में तथा प्रयाग से पश्चिम में मध्यदेश है। दूसरे शब्दों में मध्यदेश से पूर्व में प्रयाग पश्चिम में सरस्वती उत्तर में हिमालय तथा दक्षिण में विन्ध्याचल है—

हिमवद्विन्ध्ययोर्मध्यं यत्प्राग्विनशनादपि ।
प्रत्यगेव प्रयागाच्च मध्यदेशः प्रकीर्तितः ।। मनु० II.२१

आर्यावर्त—यह देश अत्यधिक चर्चा का विषय रहा है। आजकल भी संप्रदाय विशेष के किसी भी धार्मिक अनुष्ठान के लिए किए जाने वाले संकल्प के समय इस देश के ही किसी खण्ड का नाम लिया जाता है। पूर्व तथा पश्चिम के समुद्र तक तथा हिमालय एवं विन्ध्याचल के बीच के भूभाग को आर्यवर्त के नाम से जाना जाता है—

आ समुद्रात्तु वै पूर्वादा समुद्राच्च पश्चिमात् ।
तयोरेवान्तरं गिर्योरार्यावर्तं विदुर्बुधाः ।। मनु० II.२२

संस्कार

संस्कार का प्रयोजन शुद्धि है। मनुस्मृति के द्वितीय अध्याय में गर्भाधान, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, मुंडन, उपनयन तथा केशान्त संस्कारों के कराने का विधान है। उपरोक्त संस्कारों का उद्देश्य माता तथा पिता के शिशु में संक्रमित दोषों को दूर करना है—

गार्भैर्होमैर्जातकर्मचौडमौञ्जीनिबन्धनैः ।
बैजिकं गार्भिकं चैनो द्विजानामपमृज्यते ।। मनु० II. २७

ग्रन्थकार के अनुसार शूद्रों को कोई दोष नहीं लगता है अतः दोष दूर करने

वाले संस्कारों की उन्हें कोई आवश्यकता नहीं है—

'न शूद्रेपातकं किञ्चन्न च संस्कारमर्हति' मनु० X.१२६

स्त्रियों का वैदिक संस्कार विवाह है, इससे अतिरिक्त उनके सभी संस्कार बिना मन्त्रों के किए जाने चाहिएं—

अमन्त्रिका तु कार्येयं स्त्रीणामावृदशेषतः।
संस्कारार्थं शरीरस्य यथाकालं यथाक्रमम् ।। मनु० II.२६,२७

गर्भाधान-संस्कार—पत्नी में गर्भ स्थापित करने के लिए यह संस्कार किया जाता है। रजोदर्शन से सोलह रात्रियां ऋतु काल है। इनमें से प्रथम चार रात्रियां, ग्यारहवीं एवं चौदहवीं रात्रि वर्जित हैं शेष दस रात इस संस्कार के लिए उपयुक्त हैं। इस संस्कार के लिए मास की ८वीं, १४वी, १५वीं एवं ३०वीं तिथि भी वर्जित हैं[1]।

जातकर्म-संस्कार—शिशु के जन्म के बाद नाभि काटने से पूर्व यह संस्कार होता है। नाभि काटने के बाद जन्म सम्बन्धी अशौच हो जाता है, अतः यह संस्कार उससे पूर्व ही कर लिया जाता है।

इस संस्कार में पिता मन्त्रोच्चारण पूर्वक सुवर्ण पर मधु तथा घी लगाकर शिशु को चटाता है[2]। इस अवसर पर शिशु की बुद्धि, आयु तथा उसके बल की श्रेष्ठता की कामना की जाती है।

नामकरण-संस्कार—यह संस्कार शिशु के जन्म से दसवें अथवा बारहवें दिन या किसी शुभ मुहूर्त में किया जाता है। इस दिन बालक की राशि का तथा लौकिक नाम (बोलता नाम) रखा जाता है। पिता विधि विधान पूर्वक शिशु के दाहिने कान में शिशु के नाम का उच्चारण करता है। नाम वर्ण तथा लिङ्ग की भिन्नता से भिन्न-भिन्न होते हैं।[3]

निष्क्रमण-संस्कार—शिशु को पहली बार घर से बाहर ले जाते समय यह संस्कार किया जाता है। इसका उपयुक्त समय जन्म से चौथा मास है।[4] इस संस्कार की विधि के विषय में भिन्नता है। विष्णु धर्मोत्तर के अनुसार पूजित बालक को अलंकृत माता घर से बाहर लाती है।[5] मुहूर्त संग्रह के अनुसार यह कार्य मामा के

---

१. मनु० III. ४५-४७
२. मनु० II. २९
३. मनु० II. ३०-३३
४. मनु० II. ३४
५. ततस्त्वलंकृता धात्री बालमादाय पूजितम्।
बहिर्निष्कासयेद् गेहात् शङ्खपुण्याहीनः स्वनैः ।। विष्णु धर्मोत्तर

द्वारा होना चाहिए।[1]

अन्न प्राशन—शिशु को प्रथम बार अन्न खिलाने के अवसर पर यह संस्कार होता है। यह संस्कार जन्म से छट्ठे महीने में अथवा जैसी कुलपरम्परा रही हो उस आयु में किया जाता है।

चूड़ाकरण—बालक की शिखा रखने के लिए चूड़ाकर संस्कार किया जाता है। यह संस्कार प्रथम अथवा तृतीय वर्ष में किया जाता है। इस संस्कार में बालक के सिर को जल से आर्द्र किया जाता है, पिता अस्तुरे की स्तुति करता है, कटे हुए केशों को गोबर में मिलाकर छिपा दिया जाता है तथा बालक की शिखा रख दी जाती है।

उपनयन-संस्कार—यह संस्कार गुरुकुल में जाने से पूर्व किया जाता है। इस संस्कार के लिए वर्ण तथा शिशु के बुद्धि वैभव की दृष्टि से भिन्न-भिन्न आयु कही गई है। इस संस्कार के विषय में २६, २७ पृष्ठ पर द्वितीय अध्याय के ३८ वें श्लोक की व्याख्या में कहा गया है।

केशान्तसं-स्कार—यह संस्कार पहली बार दाढ़ी-मूंछ कटवाने के समय किया जाता है। ब्राह्मण का यह संस्कार सोलहवें वर्ष में, क्षत्रिय का बाईसवें तथा वैश्व का चौवीसवें वर्ष में किया जाता है।[2] यह संस्कार गोदान संस्कार के नाम से भी प्रसिद्ध है।

ब्रह्मचारी के कर्त्तव्य—रात्रि के अन्तिम प्रहर में गुरु से पहले उठना तथा रात्रि में गुरु के पश्चात् सोना, प्रातः एवं सायं संध्या, सावित्री जप, होम करना, अध्ययन से पूर्व आचमन, गुरु को प्रणाम, प्राणायाम प्रणव का उच्चारण करना, शास्त्र सम्मत वेश भूषा में भिक्षाटन, भिक्षा में प्राप्त अन्न का बिना छल कपट के गुरु को समर्पण, गुरु की आज्ञा से भोजन, ये सब ब्रह्मचारी की दिनचर्या है।

शराब, मांस, सुगन्धित पदार्थ, माला, मालिश, काजल, जूते, छाते के उपयोग करने काम, क्रोध, लोभ, नृत्य, गीत, वाद्य, जुआ, निरर्थक वार्तालाप, दूसरों की निन्दा, असत्य भाषण, स्त्रियों को देखने तथा आलिंगन करने, दूसरों को हानि पहुंचाने, किसी के साथ सोने, इच्छापूर्वक वीर्यपात करने, गुरु के केवल नाम लेने, उसकी निन्दा करने तथा नकल उतारने से ब्रह्मचारी परहेज रखे।

प्रतिदिन गुरु की आवश्यकतानुसार समिधा, पानी, फूल, गोबर, मिट्टी कुशाओं को लाना, गुरु से हीन भोजन, वस्त्र, आसन, शय्या का प्रयोग करना, गुरु के द्वारा प्रेरणा दिए जाने पर तथा स्वयं भी नित्य ही अध्ययन तथा गुरु के हितकारी कार्य

---

१. उपनिष्क्रमणे शास्त्रा मातुलो वाहयेच्छिशुम्। मुहूर्त संग्रह
२. मनु० II. ६५

करना, ये सब संक्षेप में ब्रह्मचारी के कर्तव्य हैं ।

सातवें अध्याय के प्रमुख विषय

राजा की दिनचर्या—रात्रि के अन्तिम प्रहर में शय्या का त्याग, शौच स्नानादि कर्मों से निवृत्त होकर, होम करे एवं ब्राह्मणों का पूजन करे। प्रजा को दर्शन से कृतार्थ करके विसर्जित करना तत्पश्चात् मन्त्रियों के साथ एकान्त में मन्त्रणा करे। थोड़ा व्यायाम करके स्नानादि मध्याह्न कालिक कृत्यों को करने के पश्चात् अन्तःपुर में प्रवेश करे। वहां विश्वस्त कर्मचारियों के द्वारा जांचे गए भोजन में विष नाशक औषधियां मिलाकर, विष नाशक रत्नों को धारण किए हुए भोजन करे। वहीं रानियों के साथ कुछ समय क्रीड़ा आदि करके यथा समय पुनः राज्य के कार्यों का चिन्तन करे। इसके वाद अलंकृत राजा सशस्त्र सैनिकों, हाथी-घोड़ा आदि वाहनों, अस्त्र-शस्त्रों और आभूषणों का निरीक्षण करे। सायंकालीन संध्या करने के पश्चात् शस्त्र धारण किए हुए किसी एकान्त स्थान में गुप्तचरों के गुप्त वृतान्तों को सुने तथा उन्हें अग्रिम आदेश देकर विसर्जित करे। पुनः स्त्रियों से घिरा हुआ अन्तःपुर में रात्रि का भोजन करने के लिए जाए। वहां संगीत आदि का आनन्द लेकर यथा समय सो जाए, यही संक्षेप में राजा की दिनचर्या है।

राजा के कर्तव्य—राजा की सृष्टि प्रजाओं में फैली अव्यवस्था के निवारणार्थ हुई, अतः राजा का प्रमुख कर्तव्य यही है कि समर्थ लोग निर्बल को सता न सकें। इस कार्य के लिए राजा को अलौकिक शक्ति सम्पन्न बनाया गया। साधन के रूप में राजा को अलौकिक दण्ड की सहायता दी गई किन्तु दण्ड का उचित व्यवहार ही राजा के लिए श्रेयस्कर है तथा उसका कर्तव्य भी है। राजा विनयी बना रहे। अनुभवी ब्राह्मणों से विद्या का ग्रहण करे। यत्न पूर्वक राजा को इन्द्रियों पर संयम रखना चाहिए तथा कामज एवं क्रोधज व्यसनों से बचना चाहिए। नित्य प्रति अस्त्र-शस्त्रों तथा सैनिकों का निरीक्षण करना चाहिए।

नियुक्ति—राजा प्रजा की रक्षा, विकास तथा उनके आपसी झगड़ों को निबटाने के लिए जितने भी व्यक्तियों की आवश्यकता हो, नियुक्त करे। मंत्रियों की नियुक्ति पूरी जांच के पश्चात् करनी चाहिए तथा उनसे संधि विग्रहादि के विषय में अलग-अलग तथा एक साथ विचार-विमर्श करना चाहिए। इसी प्रकार 'दूतों' की भी नियुक्ति की जानी चाहिए। राजा को सदा ही प्रजा से सम्बन्ध बनाए रखना चाहिए। इस कार्य के लिए प्रत्येक ग्राम में एक अधिकारी, दस ग्रामों पर एक प्रमुख अधिकारी तथा ऐसे दस प्रमुख अधिकारियों पर एक अधिकारी, इसी प्रकार आगे अधिकारियों की नियुक्ति करनी चाहिए।

ये अधिकारी भ्रष्ट न हों इसलिए समय-समय पर इनकी जांच करना या करवाना भी राजा का कर्तव्य है।

दुर्ग निर्माण—राजा को शत्रु पक्ष से अपनी रक्षा के लिए दुर्ग का निर्माण करना चाहिए। दुर्ग में स्थित कम सेना भी शत्रु की दस गुनी सेना से मुकावला कर सकती है यही दुर्ग की उपयोगिता है।

कर ग्रहण—प्रजा के रक्षादि कार्यों के लिए आवश्यक धन प्रजा से कर के रूप में ग्रहण करना राजा का कर्तव्य है। ग्रन्थकार के अनुसार श्रोत्रिय ब्राह्मण को छोड़कर राजा को सभी से कर लेना चाहिए।

इसके अतिरिक्त वेतनमान निश्चित करना, सामादि उपांयों का प्रयोग करना, यथा सम्भव युद्ध के विना ही अभीष्ट सिद्धि करना आदि आदि राजा के कर्तव्य हैं। संक्षेप में कहा जा सकता है कि प्रजा की रक्षा, पालन तथा विकास के लिए उपयुक्त कार्यों को करना ही राजा का कर्तव्य है।

कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्

मनुस्मृतिः

कुल्लूकभट्टकृतमन्वर्थमुक्तावलीसहिता

(द्वितीयोऽध्यायः)

प्रकृष्टपरमात्मज्ञानरूपधर्मज्ञानाय जगत्कारणं ब्रह्म प्रतिपाद्याधुना ब्रह्मज्ञानाङ्गभूतं संस्कारादिरूपं धर्मं प्रतिपिपादयिषुर्धर्मसामान्यलक्षणं प्रथममाह—

विद्वद्भिः सेवितः सद्भिर्नित्यमद्वेषरागिभिः।
हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस्तं निबोधत ॥१॥

विद्वद्भिरिति। विद्वद्भिर्वेदविद्भिः सद्भिर्धार्मिकैः रागद्वेषशून्यैरनुष्ठितो हृदयेनाभिमुख्येन ज्ञात इत्यनेन श्रेयः साधनमभिहितम्। तत्र हि स्वरसान्मनोऽभिमुखी भवति। वेदविद्भिर्ज्ञात इति विशेषणोपादानसामर्थ्याज्ज्ञातस्य वेदस्यैव श्रेयः साधनज्ञाने कारणत्वं विवक्षितम्। खड्गधारिणा हत इत्युक्ते धृतखड्गस्यैव हनने प्राधान्यम्। अतो वेद प्रमाणकः श्रेयः साधनं धर्म इत्युक्तम्। एवंविधो यो धर्मस्तं निबोधत। उक्तार्थसंग्रहश्लोकः—

वेदविद्भिर्ज्ञात इति प्रयुञ्जानो विशेषणम्।
वेदादेव परिज्ञातो धर्म इत्युक्तवान् मनुः॥
हृदयेनाभिमुख्येन ज्ञात इत्यपि निर्दिशन्।
श्रेयः साधनमित्याह तत्र ह्यभिमुखं मनः॥
वेद प्रमाणकः श्रेयः साधनं धर्म इत्यतः।
मनूक्तमेव मुनयः प्रणिन्युर्धर्मलक्षणम्॥

अत एव हारीतः (१।१)—'अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः श्रुतिप्रमाणको धर्मः। श्रुतिश्च द्विविधा वैदिकी तान्त्रिकी च' इति।

भविष्यपुराणे—'धर्मः श्रेयः समुद्दिष्टं श्रेयोऽभ्युदयलक्षणम्।
स तु पञ्चविधः प्रोक्तो वेदमूलः सनातनः॥

अस्य सम्यगनुष्ठानात्स्वर्गो मोक्षश्च जायते ।
इहलोके सुखैश्वर्यमतुलं च खगाधिप ॥

श्रेयःसाधनमित्यर्थः । जैमिनीरपीदं धर्मलक्षणमसूत्रयत्—'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' इति । उभयं चोदनया लक्ष्यते—अर्थः श्रेयः साधनं ज्योतिष्टोमादिः, अनर्थः प्रत्यवायसाधनं श्येनादिः । तत्र वेद प्रमाणकं श्रेयः साधनं ज्योतिष्टोमादि धर्म इति सूत्रार्थः । स्मृत्यादयोऽपि वेद मूलत्वेनैव धर्मे प्रमाणमिति दर्शयिष्यामः । गोविन्द—राजस्तु हृदयेनाभ्यनुज्ञात इत्यन्तःकरणविचिकित्साशून्य इति व्याख्यातवान् । तन्मते वेदविद्भिरनुष्ठितः संशयरहितश्च धर्म इति धर्मलक्षणं स्यात् । एवं च दृष्टार्थग्रामगमनादिसाधारणं धर्मलक्षणं विचक्षणा न श्रद्दधते । मेधातिथिस्तु हृदयेनाभ्यनुज्ञात इति 'यत्र चित्तं प्रवर्तयति' इति व्याख्याय, अथवा हृदयं वेदः, स ह्यधीतो भावनारूपेण हृदयस्थितो हृदयमित्युच्यत इत्युक्तवान् ॥१॥

अन्वयः—विद्वद्भिः अद्वेषरागिभिः सद्भिः सेवितः, हृदयेन अभ्यनुज्ञातः यः धर्मः, तं निबोधत ॥१॥

मनु के आदेश से भृगु का महर्षियों के प्रति कथन—जिस धर्म का सज्जन रागद्वेषशून्य विद्वानों के द्वारा अनुसरण तथा हृदय से अनुमोदन किया गया है, उस शाश्वत (धर्म) को जानो ॥१॥

विद्वद्भिः—विद्वानों के द्वारा

कुल्लू०—वेदज्ञों के द्वारा । इनके अनुसार यहां विद्वानों का नहीं अपितु उपादान सामर्थ्य से वेदका ही धर्म ज्ञान में प्राधान्य है, जिस प्रकार खड्गधारी के द्वारा मारा गया, यहां पर धारण की गई खड्ग का ही मारने में प्राधान्य है ।

सर्वज्ञ०—विद्यावानों के द्वारा—विद्यावद्भिः ।

सभी दूसरे विद्वानों ने प्रायः वेदज्ञों द्वारा अर्थ किया है ।

२ **अद्वेषरागिभिः**—दुःख-सुख अनुभूति से रहित ।

राग सुख से होने वाली तथा द्वेष दुःख में होने वाली अनुभूति है—

सुखानुशायी रागः । पा. यो. साधन पाद ७

दुःखानुशायी द्वेषः । पा. यो. साधन पाद ८

यहां 'नित्यम्' इस पद को 'विद्वद्भिः नित्यं सेवितः'

'नित्यमद्वेषरागिभिः' अथवा 'नित्यं हृदयेनाभ्यनुज्ञात' या 'नित्यं तम्' किसी भी प्रकार से अन्वित किया जा सकता है ।

कामात्मता न प्रशस्ता न चैवेहास्त्यकामता ।
काम्यो हि वेदाधिगमः कर्मयोगश्च वैदिकः ॥२॥

कामात्मतेति । **फलाभिलाषशीलत्वं पुरुषस्य कामात्मता ।** सा न प्रशस्ता, बन्धहेतुत्वात् । स्वर्गादिफलाभिलाषेण काम्यानि कर्माण्यनुष्ठीयमानानि पुनर्जन्मने

कारणं भवन्ति। नित्यनैमित्तिकानि त्वात्मज्ञानसहकारितया मोक्षाय कल्पन्ते। न पुनरिच्छामात्रमनेन निषिध्यते। तदाह— न चैवेहास्त्यकामतेति। यतो वेदस्वीकरणं वैदिकसकलधर्मसंबन्धश्चेच्छाविषय एव ॥२॥

अ०— कामात्मता न प्रशस्ता, न चैव इह अकामता अस्ति, हि वेदाधिगमः वैदिकः कर्मयोगश्च काम्यः ॥२॥

स्वयं के लिए फल की इच्छा श्लाघनीय नहीं है और न ही कानना का अभाव इस लोक में है, क्योंकि वेदाध्ययन तथा वैदिक कर्मयोग भी काम्य हैं ॥२॥

१. कामात्मता—कामः आत्मनि यस्य स कामात्मा।
कामात्मनोभावः कामात्मता।

कुल्लू०—मनुष्य की फल की अभिलाषिता।

राघव०—अतीव फलाभिलाषिता।
(अतीव फलाभिलाषिता कामात्मता।)

Buhler—To act solely from a desire for rewards.

२. कर्मयोगः—कर्म के फल में समत्व भाव ही कर्मयोग है।

योगस्थः कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योगमुच्यते ॥

गी. २ अध्याय ४८

इच्छाओं का अभाव सम्भव नहीं है, किन्तु पुरुष की कर्म के फलरूपी इच्छा श्लाघनीय नहीं है। भोजन करना कोई प्रशंसनीय कार्य नहीं है, इसका अर्थ है भोजन करना या तो निंदनीय है अथवा न प्रशंसनीय है नहीं निंदनीय है। यहां भोजन के स्वाद में आसक्त होकर अधिक खाना निंदनीय है तथा भोजन के स्वाद में अनासक्त होकर आवश्यकतानुसार अर्थात् जीने के लिए खाना न तो प्रशंसनीय है तथा न ही निंदनीय है अर्थात् उचित है। इसी प्रकार फलेच्छा में आसक्ति निंदनीय तथा अनासक्त भाव से की गई फलेच्छा उचित है।

अत्रोपपत्तिमाह—

संकल्पमूलः कामो वै यज्ञाः संकल्पसंभवाः।
व्रतानि यमधर्माश्च सर्वे संकल्पजाः स्मृताः ॥३॥

म. मु.—संकल्पमूल इति ॥ अनेन कर्मणेदमिष्टं फलं साध्यत इत्येवं विषया बुद्धिः संकल्पः, तदनन्तरमिष्टसाधनतयावगते तस्मिन्निच्छा जायते, तदर्थं प्रयत्नं कुरुते चेत्येवं यज्ञाः संकल्पप्रभवाः, व्रतानि, यमरूपाश्च धर्माश्चतुर्थाध्याये वक्ष्यमाणाः। सर्वं इत्यनेन पदेन अन्येऽपि शास्त्रार्थाः संकल्पादेव जायन्ते। इच्छामन्तरेण तान्यपि न संभवन्तीत्यर्थः गोविन्दराजस्तु व्रतान्यनुष्ठेयरूपाणि, यमधर्माः प्रतिषेधार्थका इत्याह ॥३॥

इच्छा की जड़ संकल्प है, संकल्प से यज्ञों का अनुष्ठान होता है, नियम, यम-रूपी धर्म सभी संकल्प से उत्पन्न हैं ॥३॥

१ संकल्पः—

कुल्लू०—इस कर्म से इस अभीष्टफल की सिद्धि होगी ऐसी बुद्धि संकल्प है।

मानसिक व्यापार—संकल्पः कर्म मानसम् अ. को. धीवर्ग

Buhler—Conception

२ व्रतानि—नियम 'नियमो व्रतम्' अ. को. ब्रह्मवर्ग

इसी अध्याय के २८वें श्लोक की टीका में—

कुल्लू०—मदिरापान माँस भक्षणादि निषिद्धकर्मों को न करने का नियम—'व्रतैर्मधुमाँसवर्जनादि नियमैः'

मेधातिथि—मन का निश्चय व्रत है। जैसे वेद की शाखा विशेष के अध्ययन के लिए छात्र द्वारा लिया गया मानसिक निर्णय—'मानसोऽध्यवसायो व्रतम्' यथा स्नातकव्रतानि।

यमधर्माश्च—

कुल्लू०—यमरूपी धर्म

मेधातिथि—अहिंसादि प्रतिषेधरूप—"प्रतिषेधरूपाः अहिंसादयः"

पातञ्जल योगदर्शन में समाधि के अंगों में 'यम' भी एक अंग बताया गया है। अहिंसा, सत्य, चोरी न करना, ब्रह्मचर्य, संग्रह न करना यम हैं—

'अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहाः यमाः' पा. यो. ii ३०

कुल्लूक भट्ट ने चौथे अध्याय के २४०वें श्लोक की व्याख्या करते हुए 'अपरिग्रह' के स्थान पर अकुटिलता गिनवाया है—

अहिंसासत्यवचनं ब्रह्मचर्यमकल्कता।
अस्तेयमिति पञ्चैते यमाः परिकीर्तिताः॥

मनु ने यमधर्म नित्यकर्म माने हैं—

यमान्सेवते सततं न नित्यं नियमान्बुधः। मनुः iv (२०४)

४ सर्वे—

कुल्लू०—शास्त्र के अन्य प्रयोजन भी संकल्प से ही उत्पन्न होते हैं।

अत्रैव लौकिकं नियमं दर्शयति

अकामस्य क्रिया काचिद्दृश्यते नेह कर्हिचित्।
यद्यद्धि कुरुते किंचित्तत्तत्कामस्य चेष्टितम् ॥४॥

अकामस्येति ॥ लोके या काचिद्भोजनगमनादिक्रिया साप्यनिच्छतो न

कदाचिद् दृश्यते। ततश्च सर्वं कर्म लौकिकं वैदिकं च यद्यत्पुरुषः कुरुते तत्त-दिच्छाकार्यम् ॥४॥

अ०—इह अकामस्य काचित् क्रिया कर्हिचिद् न दृश्यते, हि यद् यत् किञ्चत् कुरुते, तत् तत् कामस्य चेष्टितम् ॥४॥

संसार में इच्छारहित (पुरुष) की क्रिया कहीं भी कभी भी नहीं देखी जाती है, क्योंकि जो कुछ भी कार्य कोई करता है वह इच्छा की सक्रियता होती है ॥४॥

कर्हिचित्—

मेधातिथिः—"कर्हिचित्कदाचिदपि जाग्रदवस्थायाम्"

संप्रति पूर्वोक्तं फलाभिलाषनिषेधं नियमति—

तेषु सम्यग्वर्तमानो गच्छत्यमरलोकताम् ।
यथासंकल्पितांश्चेह सर्वान्कामान्समश्नुते ॥५॥

तेषुसम्यग्वर्तमान इति ॥ नात्रेच्छा निषिध्यते किंतु शास्त्रोक्तकर्मसु सम्य-ग्वृत्तिर्विधीयते । बन्धहेतुफलाभिलापं विना शास्त्रीयकर्मणामनुष्ठानं तेषु सम्य-ग्वृत्तिः सम्यग्वर्तमानोऽमरलोकताममरधर्मकं ब्रह्मभावं गच्छति । मोक्षं प्राप्नो-तीत्यर्थः । तथाभूतश्च सर्वेश्वरत्वादिहापि लोके सर्वानभिलषितान्प्राप्नोति । तथा च छान्दोग्ये—'स यदि पितृलोककामी भवति संकल्पादेवास्य पितरः समु-त्तिष्ठन्ति' इत्यादि ॥५॥

अ०—तेषु सम्यग् वर्तमानः अमरलोकतां गच्छति, इह यथा संकल्पितान् कामान् च समश्नुते ॥५॥

उन (कामचेष्टित क्रियाओं) में उचित आचरण करता हुआ, अमर भाव को प्राप्त करता है, तथा इस लोक में अभीप्सित सभी कामनाओं का उपभोग करता है ॥५॥

कुल्लू०—

अमरलोकताम्—मोक्षप्राप्त करता है।

मेधातिथिः—देवत्व को प्राप्त करता है।

'देवत्वं प्राप्नोतीत्यर्थः'

Buhler—The deathless state i. e. Final liberation.

काम चेष्टित क्रियायें दो प्रकार की हो सकती हैं या तो शास्त्र विहित या शास्त्र निषिद्ध। यहां 'सम्यग्वर्तमानः' से शास्त्र विहित कर्मों को करने से उपरोक्त फल का विधान है।

इदानीं धर्मप्रामाणात्याह—

वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम् ।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च ॥६॥

वेदोऽखिलो धर्ममूलमिति । वेदः ऋग्यजुः सामाथर्वलक्षणः. स सर्वो विध्यर्थवादमन्त्रात्मा धर्मे मूलं प्रमाणम् । अर्थवादानामपि विध्येकवाक्यतया स्तावकत्वेन धर्मे प्रामाण्यात् । यदाह जैमिनिः 'विधिनात्वेकवाक्यत्वात्स्तुत्यमर्थेन विधीनां स्युः' । मन्त्रार्थवादानामपि विधिवाक्यैकवाक्यतयैव धर्मे प्रामाण्यं, प्रयोगकाले चानुष्ठेयस्मारकत्वं वेदस्य च धर्मे प्रामाण्यं यथानुभवकरणत्वरूपं न्यायसिद्धम् । स्मृत्यादीनामपि तन्मूलत्वेनैव प्रामाण्यप्रतिपादनार्थमनूद्यते । **मन्वादीनां च वेदविदां स्मृति धर्मे प्रमाणम्** । वेदविदामिति विशेषणोपादानाद्वेदमूलत्वेनैव स्मृत्यादीनां प्रामाण्यमभिमतम् । **शीलं ब्रह्मण्यतादिरूपम्** तदाहः हारीतःब्रह्मण्यता देवपितृभक्तता सौम्यता अपरोपतापिता अनसूयता मृदुता अपारुष्यं मैत्रता प्रियवादित्वं कृतज्ञता शरण्यता कारुण्यं प्रशान्तिश्चेति त्रयोदशविधं शीलम्' गोविन्दराजस्तु शीलं रागद्वेष-परित्याग इत्याह । आचारः कम्बलवल्कलाद्याचरणरूपः. साधूनां धार्मिकाणां आत्मतुष्टिश्च वैकल्पिकपदार्थविषया धर्मे प्रमाणम् । तदाह गर्गः—'वैकल्पिके आत्मतुष्टिः प्रमाणम्' ॥६॥

अ०—अखिलः वेदः तद्विदां स्मृतिशीले च आचारश्चैव साधूनाम् आत्मनः तुष्टिः एव च धर्ममूलम् ॥६॥

समस्त वेद, उन वेदों को जानने वालों की स्मृति तथा सद्गुण, सज्जनों का आचरण तथा आत्म संतुष्टि धर्म के स्रोत हैं । ॥६॥

१. वेदोऽखिलः'''समस्त वेद ।

मेधातिथिः—अन्य प्रमाणों से न जानने योग्य धर्मलक्षण को इससे जाना जाता है अतः वेद हैं—

'विदन्त्यनन्यप्रमाणवेद्यं धर्मलक्षणमर्थमस्मादिति वेदः'

तैत्तरीय संहिता की भाष्य भूमिका में सायण—

इच्छित कल्याण की प्राप्ति तथा अनिच्छित अकल्याण के परिहार के अलौकिक उपाय को जो ग्रन्थ बताता है वह वेद है—

'इष्टप्राप्त्यनिष्टपरिहारयोरलौकिकमुपायं यो ग्रन्थो वेदयति स वेदः'

लौगाक्षिभास्कर—

'अपौरुषेयं वाक्यं वेदः' अर्थ०

मीमांसा दर्शन में वेद के पांच भाग विधि, मन्त्र नामधेय, निषेध तथा अर्थवाद कहे गए हैं—

स च विधिमन्त्रनामधेयनिषेधार्थवादभेदात् पंचविधः । अर्थ०

समस्त वेद से यहां वेद के इन्हीं पांच भागों को धर्म के प्रमाण रूप में कहा गया है।

२. स्मृतिशीले—'स्मृति तथा शील—'स्मृतिश्च शीलञ्च स्मृतिशीले'।

स्मृति—धर्मबोधार्थ रचित ग्रंथ—'स्मृतिस्तु धर्मसंहिता'। अ० को० शब्द वर्ग

शील—शुद्ध आचरण—'शुचौ तु चरिते शीलम्' अ० को० नाट्य वर्ग।

कुल्लू०—मनु आदि वेदज्ञों की स्मृति 'स्मृति' तथा ब्रह्मण्यतादि सद्गुण 'शील'। मेधातिथि—

(क) अनुभूत विषय का विज्ञान स्मृति है।

(ख) चित्त की अन्य विषयों की रुकावट हटने से शास्त्र के अर्थ निर्धारण में प्रवीणता शील है।

(ग) चित्त की अन्य विषयों की रुकावट हटने से शास्त्र के अर्थ निर्धारण में प्रवीणता अर्थात् शील तथा अनुभूत विषय का विज्ञान अर्थात् स्मृति दोनों परस्पर सापेक्ष हो कर धर्म में प्रमाण है।

अर्थात् सामान्य स्मृति धर्म में प्रमाण नहीं है।

(क) अनुभूतार्थविषयं विज्ञानं स्मृतिरुच्यते।

(ख) यच्चेतसोऽन्यविषयव्याक्षेपपरिहारेण शास्त्रार्थनिरूपणप्रवणता तच्छील-मुच्यते।

(ग) परस्परसापेक्षयोः स्मृतिशीलयोः धर्मं प्रति प्रामाण्यमेवाभिप्रेतम।

३. आत्मनः तुष्टिः—स्वयं की संतुष्टि।

कुल्लू०—श्रुतिमें विकल्प होने पर जिसमें धार्मिकों की आत्मसंतुष्टि हो वह धर्म में प्रमाण है।

सर्वज्ञ०—जहां वेदादि प्रमाण रहते हुए भी नष्ट होने के कारण प्राप्त न होते हों वहां जिस कर्म को करने से चित्त का लाघव अर्थात् अतिशय प्रसन्नता प्राप्त होती हो वह प्रमाण है—यत्र विषये वेदादिकं धर्म प्रमाणचतुष्टयं सदपि नोपलब्धम् उत्सादादिवशात् तत्र यत्कर्म कुर्वतश्चेतसो लाघवापरनामा प्रसादा-तिशयः तस्य साधकत्वे स एव प्रमाणम्।

कालिदास—सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः।

अभिज्ञानशाकुन्तलम्

याज्ञवल्क्य स्मृतिमे भी धर्म के मूल प्रमाण यही कहे गये हैं—

श्रुतिः स्मृति सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः सम्यक् संकल्पजकामो धर्म-मूलमिदं स्मृतम्।

धर्म के उपरोक्त प्रमाण कहे गए क्रम से ही प्रबल हैं। दूसरे शब्दों में उत्तरोत्तर दुर्बल हैं अर्थात् श्रुति से स्मृति तथा स्मृति से शील दुर्बल है।

वेदादन्येषां वेदमूलत्वेन प्रामाण्येऽभिहितेऽपि मनुस्मृतेः सर्वोत्कर्षज्ञापनाय विशेषेण वेदमूलतामाह—

य: कश्चित्कस्यचिद्धर्मो मनुना परिकीर्तितः ।
स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः ॥७॥

यः कश्चिदिति । यः कश्चित्कस्यचिद् ब्राह्मणादेर्मनुना धर्म उक्तः स सर्वो वेदे प्रतिपादितः । यस्मात्सर्वज्ञोऽसौ मनुः सर्वज्ञतया चोत्सन्नविप्रकीर्णपठ्यमान वेदार्थं सम्यग्ज्ञात्वा लोकहितायोपनिबद्धवान् । गोविन्दराजस्तु 'सर्वज्ञानमयः' इत्यस्य सर्वज्ञानारब्ध इव वेद इति वेदविशेषणतामाह ॥७॥

अ०—मनुना यः कश्चित् कस्यचित् धर्मः परिकीर्तितः, सः सर्वः वेदे अभिहितः, हि सः सर्वज्ञानमयः ॥७॥

मनु ने जो कोई धर्म जिस किसी के लिए कहा है, वह वेद में पूर्णतः प्रतिपादित है क्योंकि वेद सभी प्रकार के ज्ञान का हेतु है । अथवा मनु सर्वज्ञान सम्पन्न है ॥७॥

सर्वज्ञानमयः—कुल्लू०—(यह मनु) सर्वज्ञ है ।

मेधातिथिः—वेदश्च ज्ञानहेतुत्वात्तन्मय इति ।

वेद ज्ञान का कारण होने के कारण ज्ञानमय है । अर्थात् सभी प्रकार के ज्ञान को वेद से जाना जाता है इसीलिए वेद ज्ञानमय है ।

रामचंद्रः—वह वेद सर्वज्ञानमय है अथवा वह मनु सर्वज्ञानमय है—"स वेदः सर्वज्ञानमयः सर्वं जानातीत्यर्थः । यद्वा स मनुः सर्वज्ञानमयः ।"

मनु के अनुसार धर्म का वेद प्रतिपादित होना अत्यन्त आवश्यक है । इस प्रसंग में अर्थसंग्रह में लौगाक्षिभास्करकृत धर्म का लक्षण तुलनीय है—वेद के द्वारा प्रतिपादित प्रयोजनवान अर्थ धर्म है—'वेदप्रतिपाद्यः प्रयोजनवदर्थो धर्मः ।'

सर्वं तु समवेक्ष्येदं निखिलं ज्ञानचक्षुषा ।
श्रुतिप्रामाण्यतो विद्वान्स्वधर्मे निविशेत वै ॥८॥

सर्वं त्विति ॥ सर्वं शास्त्रजातं वेदार्थावगमोचितं ज्ञानं **मीमांसाव्याकरणादिकं ज्ञानमेव चक्षुस्तेन** निखिलं तद्विशेषेण पर्यालोच्य वेदप्रामाण्येनानुष्ठेयमवगम्य स्वधर्मेऽवतिष्ठेत ॥८॥

अ०—विद्वान् इदं सर्वं तु निखिलं ज्ञानचक्षुषा समवेक्ष्य श्रुतिप्रामाण्यतः स्वधर्मे वै निविशेत ॥८॥

विद्वान इन सब (प्रमाणों अथवा वर्ण, आश्रम, वर्णाश्रम तथा निमित्त धर्मों) को ज्ञानरूपी नेत्रों से देखकर वेद के प्रामाण्य से अपने धर्म में अडिग रहे ॥८॥

ज्ञानचक्षुषा—ज्ञानरूपी नेत्रों से ।

कुल्लू०—मीमांसा व्याकरण आदिज्ञान ही चक्षु हैं उनसे।

राघव०—गुरु ही चक्षु है उनसे।

'ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानं गुरुः स एव चक्षुस्तेन।'

श्रुतिस्मृत्युदितं धर्ममनुतिष्ठन्हि मानवः।
इह कीर्तिमवाप्नोति प्रेत्य चानुत्तमं सुखम् ॥९॥

श्रुतिस्मृत्युदितमिति। श्रुतिस्मृत्युदितं धर्ममनुतिष्ठन्मानव इहलोके धार्मिकत्वेनानुषंगिकीं कीर्तिं परलोके च धर्मफलमुत्कृष्टं स्वर्गापवर्गादिसुखरूपं प्रप्नोति। अनेन वास्तवगुणकथनेन श्रुतिस्मृत्युदितं धर्ममनुतिष्ठेदिति विधिः कल्प्यते ॥९॥

अ०—मानवः श्रुतिस्मृत्युदितं धर्मम् अनुतिष्ठन् हि इह कीर्तिं प्रेत्य च अनुत्तमं सुखम् अवाप्नोति ॥९॥

श्रुति स्मृति में कहे गए धर्म का आचरण करके मनुष्य इस लोक में कीर्ति तथा मरणोपरान्त जिससे उत्तम सुख नहीं है ऐसे सुख को प्राप्त करता है। ॥९॥

मेधातिथि के अनुसार न केवल आस्तिकों को अपितु यहां नास्तिकों को भी धर्माचरण का दृष्टफल मित्र बन कर कहा गया है—

'यो नास्तिकतया वैदिकानि निष्फलानि कर्माणीति व्यामुह्य न तदनुष्ठाने प्रवर्तते तत्प्रवृत्त्यर्थं सुहृद् भूत्वा दृष्टफलदर्शनं करोति।

श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः।
ते सर्वार्थेष्वमीमांस्ये ताभ्यां धर्मो हि निर्बभौ ॥१०॥

श्रुतिस्त्विति॥ लोकप्रसिद्धसंज्ञासंज्ञिसंबन्धानुवादोऽयं श्रुतिस्मृत्योः प्रतिकूलतर्कैणामीमांस्यत्वविधानार्थं, स्मृतेः श्रुतितुल्यत्वबोधनेनाचारादिभ्यो वलवत्त्वप्रतिपादनार्थं च। तेन स्मृतिविरुद्धाचारो हेय इत्यस्य फलम्। श्रुतिर्वेदः, मन्वादिशास्त्रं स्मृतिः, ते उभे प्रतिकूलतर्कैर्न विचारयितव्ये; यतस्ताभ्यां निःशेषेण धर्मो बभौ प्रकाशतां गतः ॥१०॥

अ०—श्रुतिः तु वेदः विज्ञेयः, धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः, ते सर्वार्थेषु अमीमांस्ये, हि ताभ्यां धर्मः निर्बभौ ॥१०॥

श्रुति को वेद तथा स्मृति को धर्मशास्त्र समझना चाहिए, वे दोनों (श्रुति तथा स्मृति) सभी विषयों में विश्वसनीय हैं क्योंकि उन दोनों से धर्म अशेषतः प्रकाश में आया ॥१०॥

श्रुति वेद तथा धर्मशास्त्र स्मृति है यहाँ पर शब्दकोष की भाँति पर्याय बताने से क्या तात्पर्य सिद्ध होता है? इसका समाधान यह है कि सदाचार न तो श्रुति है न ही स्मृति। क्योंकि वह अक्षरों में निबद्ध नहीं है तथा अक्षरों में निबद्ध ही स्मृति होती है ऐसा प्रसिद्ध है अतः उस सदाचार के स्मृतित्व प्रतिपादन के लिए स्मृति

को धर्मशास्त्र अर्थात् जिसके द्वारा धर्म की शिक्षा दी जाती है, कर्तव्यता के रूप में बोध कराया जाता है वह स्मृति है। सज्जनों के आचरण से भी धर्म की कर्तव्यता का बोध होता है अतः वह भी स्मृति है। यदि धर्मशास्त्र स्मृति है तब तो वेद भी धर्म का शासन प्रमुख रूप से करता है अतः वह भी स्मृति होगा। इसी का निराकरण करने के लिए यहाँ वेद को श्रुति कहा गया है। जहाँ पर धर्म का शासन सुना जाता है वह श्रुति, जहाँ स्मरण किया जाता है वह स्मृति। इस प्रकार मेधातिथि ने यहाँ पर्याय का कथन नहीं अपितु श्रुति को वेद तथा स्मृति को धर्मशास्त्र कहने का विशिष्ट प्रयोजन माना है।

राघवानन्द ने 'सर्वार्थेष्वमीमाँस्ये' इस पाठ को सर्वथा अनुपयुक्त बताते हुए 'सर्वार्थेषु मीमाँस्ये' यह पाठ स्वीकार किया है। उनके अनुसार जिसका तर्क से अनुसंधान किया जाता है वही धर्म है दूसरा नहीं—

"अमीमाँस्ये प्रतिकूलतर्केण न विचारयितव्ये इति कुल्लूकः।

तन्न। सर्वार्थेषु मीमाँस्ये एव इति पाठः। तथा च सर्वार्थेषु ज्ञातव्येषु मीमाँस्ये एव धर्मस्यातीव सूक्ष्मत्वात्। यस्तर्केणानुसंधत्ते धर्मं वेद नेतर इति"

नन्दन के मतानुसार यहाँ पर श्रुति स्मृति को समकक्ष कहा गया है—

'श्रुतिस्मृत्योस्तुल्यकक्ष्यतामेव प्रकारान्तरेणाह'

योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद्द्विजः।
स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः॥ ११॥

योऽवमन्येतेति॥ यः पुनस्ते द्वे श्रुतिस्मृती द्विजोऽवमन्येत स शिष्टैर्द्विजानुष्ठेयाध्ययनादिकर्मणो निःसार्यः। पूर्वश्लोके सामान्येनामीमांस्ये इति मीमांसानिषेधादनुकूलमीमांसापि न प्रवर्तनीयेति भ्रमो मा भूदिति विशेषयति—'हेतुशास्त्राश्रयात्'। वेदवाक्यमप्रमाणं वाक्यत्वात् विप्रलम्भकवाक्यवदित्यादिप्रतिकूलतर्कावष्टम्भेन चार्वाकादिनास्तिक इव नास्तिकः। यतो वेदनिन्दकः॥ ११॥

अ०—यः द्विजः मूले ते हेतुशास्त्राश्रयाद् अवमन्येत, स नास्तिकः वेदनिन्दकः साधुभिः बहिष्कार्यः॥११॥

जो द्विजन्मा धर्म के मूल श्रुति स्मृति को तर्कशास्त्र से तिरस्कृत करे वह सज्जनों के द्वारा बहिष्कृत किया जाना चाहिए (क्योंकि) वेद की निन्दा करने वाला नास्तिक है॥११॥

नास्तिक :

कुल्लू०—'वेद के वाक्य प्रमाण नहीं हैं वाक्य होने के कारण विप्रलम्भक वाक्य के समान' ऐसे प्रतिकूल तर्कों के आश्रय से चार्वाकादि नास्तिकों के समान नास्तिक है। (अर्थात वेद वाक्य को प्रमाण न मानने वाला नास्तिक है।)

सर्वज्ञ०—परलोक को स्वीकार न करने वाला।

नास्तिको परलोक इत्येवं न वर्तते।

इदानीं शीलस्याचार एवान्तर्भावसंभवाद्वेदमूलतैव तन्त्रं न स्मृतिशीला-दिप्रकारनियम इति दर्शयितुं चतुर्धा धर्मप्रमाणमाह—

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम् ॥ १२ ॥

वेद इति ॥ वेदो धर्मप्रमाणं, स क्वचित्प्रत्यक्षः क्वचित्स्मृत्यानुमित इत्येवं तात्पर्यं न तु प्रमाणपरिगणने। अत एव 'श्रुतिस्मृत्युदितं धर्मं' (२।९) इत्यत्र द्वयमेवाभिहितवान्। सदाचारः शिष्टाचारः। स्वस्य चात्मनः प्रिय-मात्मतुष्टिः ॥ १२ ॥

अ०—वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य आत्मनः प्रियं च एतत् चतुर्विधं साक्षात् धर्मस्य लक्षणं प्राहुः ॥१२॥

वेद, स्मृति, सज्जनों का आचार और अपनी आत्मा का प्रिय इन चार विधाओं को साक्षातधर्म का लक्षण कहते हैं ॥१२॥

'वेदोऽखिलो…' (२।६) वहाँ भी इसी प्रकार से धर्म का लक्षण किया गया है। मेधातिथि के अनुसार न्यायशास्त्र में जिस प्रकार पहले प्रतिज्ञा तथा अन्त में निगमन किया जाता है, उसी प्रकार (२।६) में प्रतिज्ञा तथा यहाँ निगमन किया गया है।

वस्तुतः जिस वाक्य को प्रतिज्ञा में कहा जाता है उसी को हेतु, उदाहरण, उपनय करने के बाद निगमन में कह दिया जाता है यथा—

१. प्रतिज्ञा—**पर्वतो वह्निमान्**

२. हेतु—धूमात्

३. उदाहरण—यो यो धूमवान् स स वह्निमान् यथा महानसः।

४. उपनय—वह्निव्याप्यधूमवानयं पर्वतः।

५. निगमन—तस्माद् पर्वतो वह्निमान।

सदाचार इत्यादि की व्याख्या (२।६) के अनुसार होगी।

अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते।
धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः ॥१३॥

अर्थकामेष्विति ॥ अर्थकामेष्वसक्तानामर्थकामलिप्साशून्यानां धर्मोपदेशोऽयम्। ये त्वर्थकामसमीहया लोकप्रतिपत्त्यर्थं धर्ममनुतिष्ठन्ति न तेषां कर्मफलमित्यर्थः। धर्मं च ज्ञातुमिच्छतां प्रकृष्टं प्रमाणं श्रुतिः। प्रकर्षबोधनेन च श्रुतिस्मृतिविरोधे स्मृत्यर्थो नादरणीय इति भावः। अत एव जाबालः—'श्रुतिस्मृतिविरोधे तु श्रुतिरेव

गरीयसी। अविरोधे सदा कार्यं स्मार्तं वैदिकवत्सता ॥' भविष्यपुराणेऽप्युक्तम्—'श्रुत्या सह विरोधे तु बाध्यते विषयं विना। जैमिनिरप्याह (जै० न्या० सू० १।३।३)—'विरोधे त्वनपेक्षं स्यादसति ह्यनुमानम्'। श्रुतिविरोधे स्मृतिवाक्यमनपेक्ष्यमप्रमाणमनादरणीयम्। असति विरोधे मूलवेदानुमानमित्यर्थः ॥१३॥

अ०—अर्थकामेषु असक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते, धर्मं जिज्ञासमानानां श्रुतिः परमं प्रमाणम् ॥१३॥

अर्थ व काम में अनुराग न रखने वालों के लिए धर्मज्ञान का विधान है, धर्म जिज्ञासुओं के लिए वेद निरपेक्ष प्रमाण है ॥१३॥

यहां धर्मशास्त्र के अधिकारी के विषय में बताया गया है। ऐसा व्यक्ति जिसे धन तथा विषयों के भोग की लालसा नहीं है वह इस शास्त्र को पढ़ने के योग्य है शेष नहीं। उन अधिकारी व्यक्तियों को जिस प्रकार रंग के सन्दर्भ में सूर्य का प्रकाश निरपेक्ष होता है अर्थात् ट्यूबलाइट तथा बल्ब इत्यादि प्रकाशकों के प्रकाश में देखे गए कपड़े आदि के रंग वास्तव में सूर्य के प्रकाश में अन्तिम रूप से जांचे जाते हैं, उसी प्रकार धर्म के संदर्भ में वेद निरपेक्ष प्रमाण है, वेद के द्वारा कहे गए धर्म को बिना किसीं दूसरे प्रमाण से जांचे हुए स्वीकार कर लेना चाहिए। इसलिए मीमांसा दर्शन में श्रुति को निरपेक्ष ध्वनि कहा गया है—'निरपेक्षोरवः श्रुतिः' अर्थ०

श्रुतिद्वैधं तु यत्र स्यात्तत्र धर्मावुभौ स्मृतौ।
उभावपि हि तौ धर्मौ सम्यगुक्तौ मनीषिभिः ॥१४॥

श्रुतिद्वैधं त्विति ॥ यत्र पुनः श्रुत्योरेव द्वैधं परस्परविरुद्धार्थप्रतिपादनं तत्र द्वावपि धर्मौ मनुना स्मृतौ। तुल्यबलतया विकल्पानुष्ठानविधानेन च विरोधाभावः। यस्मान्मन्वादिभ्यः पूर्वतरैरपि विद्वद्भिः सम्यक् समीचीनौ द्वावपि तौ धर्मावुक्तौ। समानन्यायतया स्मृत्योरपि विरोधे विकल्प इति प्रकृतोपयोगः तुल्यबलत्वाविशेषात्। तदाह गौतमः—'तुल्यबलविरोधे विकल्पः' ॥१४॥

अ०—यत्र तु श्रुतिद्वैधं स्यात्, तत्र उभौ धर्मौ स्मृतौ, हि उभौ अपि तौ धर्मौ मनीषिभिः सम्यग् उक्तौ ॥१४॥

जहां वेद में दो प्रकार का विधान हो वहां दोनों ही धर्म कहे गए हैं। क्योंकि दोनों ही धर्म विद्वानों के द्वारा उचित कहे गए हैं ॥१४॥

श्रुतिद्वैध से यहाँ श्रुति में विभिन्नता का तात्पर्य है वह विभिन्नता दो अथवा दो से अधिक प्रकार की भी हो सकती है। जैसा कि अगले श्लोक में श्रुति का तीन प्रकार का विरोध दिखाया गया है।

कुल्लू० के अनुसार श्रुति विरोध के समान स्मृति विरोध होने पर भी विकल्प से किसी का भी आश्रय लिया जा सकता है।

अत्र दृष्टान्तमाह—

उदितेऽनुदिते चैव समयाध्युषिते तथा ।
सर्वथा वर्तते यज्ञ इतीयं वैदिकी श्रुतिः ॥१५॥

उदितेऽनुदिते चैवेति ॥ सूर्यनक्षत्रवर्जितः कालः 'समयाध्युषित' शब्देनोच्यते । उदयात्पूर्वमरुणकिरणवान्प्रविरलतारकोऽनुदितकालः परस्परविरुद्धकालश्रवणेऽपि सर्वथा विकल्पेनाग्निहोत्रहोम प्रवर्तते । देवतोद्देशेन द्रव्यत्यागगुणयोगात् 'यज्ञ' शब्दोऽत्र गौणः । 'उदिते होतव्यम्' इत्यादिका वैदिकी श्रुतिः ॥१५॥

अ०—उदिते च अनुदिते तथा समयाध्युषिते सर्वथा यज्ञः वर्तते इति, इयं वैदिकी श्रुतिः ॥१५॥

सूर्योदय होने पर तथा उदित न होने पर और जिस समय सूर्य और नक्षत्र न दिखाई पड़ते हों ऐसे समय में सर्वथा यज्ञ होता है यह वेद संबंधी श्रुति है ॥१५॥

यहां पर वेद में 'उदिते जुहोति, अनुदिते जुहोति तथा समयाध्युषिते जुहोति' अग्निहोत्र कर्म के करने के समय में विरुद्धमतों को दिखाया गया है। पूर्व श्लोक में विरोधी मत वेद में प्राप्त होने पर सभी प्रमाण हैं, अतः तीनों में से किसी भी समय अग्निहोत्र कर्म किया जा सकता है।

उदित, अनुदित तथा समयाध्युषित कालों को स्पष्ट करने के लिए रामचन्द्र ने अपनी टीका में कात्यायन को उद्धृत किया है—रात्र्यास्तु षोडशे भागे ग्रहनक्षत्र-भूषिते । कालं चानुदितं ज्ञात्वा होमं कुर्याद्विचक्षणः ॥ तथा च प्रातः समये नष्टे नक्षत्रमण्डले । रविर्यावन्न दृश्येत समयाध्युषितं च तत् ॥ रेखा मात्रं च दृश्येत रश्मिभिश्च समन्वितः । उदितं तं विजानीयात्तत्र होमं प्रकल्पयेत् ।

निषेकादिश्मशानान्तो मन्त्रैर्यस्योदितो विधिः ।
तस्य शास्त्रेऽधिकारोऽस्मिञ्ज्ञेयो नान्यस्य कस्यचित् ॥१६॥

निषेकादीति ॥ गर्भाधानादिरन्त्येष्टिपर्यन्तो यस्य वर्णस्य मन्त्रैरनुष्ठानकलाप उक्तो द्विजातेरित्यर्थः । तस्यास्मिन्मानवधर्मशास्त्रेऽध्ययने श्रवणेऽधिकारः, न त्वन्यस्य कस्यचिच्छूद्रादेः । एतच्छास्त्रानुष्ठानं च यथाधिकारं सर्वैरेव कर्तव्यं, प्रवचनं त्वस्याध्यापनं व्याख्यानरूपं ब्राह्मणकर्तृकमेवेति 'विदुषा ब्राह्मणेन' (१।१०३) इत्यत्र व्याख्यातम् ॥१६॥

अ०—यस्य निषेकादिश्मशानान्तो विधिः मन्त्रैः उदितः तस्य शास्त्रे अधिकारः, अन्यस्य कस्यचित् न ॥१६॥

जिसके गर्भधारण करने से लेकर श्मशान तक सभी संस्कार मन्त्रों के द्वारा बताए गए हैं उसी का इस शास्त्र (धर्मशास्त्र) में अधिकार समझना चाहिए शेष का नहीं ॥१६॥

वैदिक मन्त्रों से ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य पुरुषों के संस्कार होते हैं। अतः वे ही इस शास्त्र को पढ़ने के अधिकारी हैं। शूद्रों के संस्कारों का मनु ने निषेध किया है—

'न शूद्रे पातकं किञ्चिन्न च संस्कारमर्हति' ।।१०।१२६

यहां मन्त्रों के द्वारा जिसके संस्कार हुए हैं ऐसा कहा गया है तथा स्त्रियों के संस्कार यथा समय किन्तु बिना मन्त्रों के होते हैं अतः उनका भी शास्त्र में अधिकार नहीं है।

अमन्त्रिका तु कार्येयं स्त्रीणामावृदशेषतः।
संस्कारार्थं शरीरस्य यथा कालं यथाक्रमम् ॥ (२।६६) मनुः

इससे पूर्व २।१३ श्लोक में भी अधिकारी का वर्णन है—'अर्थ कामेष्वसक्तानां...' अतः इन दोनों श्लोकों के अनुसार इस शास्त्र में उन्हीं ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य पुरुषों का अधिकार है जो अर्थ तथा काम में आसक्त नहीं है। कुल्लूक भट्ट के अनुसार यहां अधिकार से तत्पर्य केवल अध्ययन करने के अधिकार से है क्योंकि अध्यापन का अधिकार तो मात्र ब्राह्मण को है जैसा कि मनु ने 'विद्वान ब्राह्मण के द्वारा' ऐसा १।१०३ में कहा है।

धर्मस्य स्वरूपं प्रमाणं परिभाषां चोक्त्वा इदानीं धर्मानुष्ठानयोग्यदेशानाह—

सरस्वतीदृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम् ।
तं देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्तं प्रचक्षते ॥ १७ ॥

सरस्वतीति ।। सरस्वतीदृषद्वत्योर्नद्योरुभयोर्मध्यं ब्रह्मावर्तं देशमाहुः। देवनदी-देवनिर्मितशब्दौ नदीदेशप्राशस्त्यार्थौं ॥ १७ ॥

अ०—सरस्वतीदृषद्वत्योः देवनद्योः यद् अन्तरं तं देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्तं प्रचक्षते ।।१७।।

देवताओं के द्वारा बनाया गया, देवताओं के द्वारा सेवित सरस्वती तथा दृषद्वती नदी के बीच का स्थान ब्रह्मावर्त के नाम से कहा जाता है।

इससे पूर्व धर्म के स्वरूप, परिभाषा, अधिकारी आदि का वर्णन किया है अब उन स्थानों का वर्णन किया जा रहा है जहां पर धर्म का अनुष्ठान किया जाना चाहिए ॥ १७ ॥

तस्मिन्देशे य आचारः पारंपर्यक्रमागतः ।
वर्णानां सान्तरालानां स सदाचार उच्यते ॥ १८ ॥

तस्मिन्देश इति ।। तस्मिन्देशे प्रायेण शिष्टानां संभवात्तेषां ब्राह्मणादि-वर्णानां संकीर्णजातिपर्यन्तानां य आचारः पारंपर्यक्रमागतो न त्विदानींतनः स सदाचारोऽभिधीयते ॥ १८ ॥

अ०—तस्मिन् देशे सान्तरालानां वर्णानां पारम्पर्यक्रमागतः यः आचारः, स सदाचारः उच्यते ॥१८॥

उस (ब्रह्मावर्त) देश में सभी वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रों) का और वर्ण संकरों का परम्परा से जो आचार है, वह सदाचार कहा जाता है।

धर्म के प्रमाणों में एक प्रमाण आचार 'आचारश्चैव साधूनाम्' (२।६) कहा गया है। उस आचार व्यवहार को कैसे जानना-सीखना चाहिए ? इसका उत्तर यहां दिया गया है ॥ १८ ॥

कुरुक्षेत्रं च मत्स्याश्च पञ्चालाः शूरसेनकाः ।
एष ब्रह्मर्षिदेशो वै ब्रह्मावर्तादनन्तरः ॥ १९ ॥

कुरुक्षेत्रमिति ॥ मत्स्यादिशब्दा बहुवचनान्ता एव देशविशेषवाचकाः। पंचालाः कान्यकुब्जदेशाः । शूरसेनका मथुरादेशाः । एष ब्रह्मर्षिदेशो ब्रह्मावर्तात्किंचिदूनः ॥ १९ ॥

अ०—कुरुक्षेत्रं च मत्स्याः च पञ्चालाः शूरसेनकाः ब्रह्मावर्ताद् अनन्तरः एषः वै ब्रह्मर्षिदेशः ॥१९॥

ब्रह्मावर्त के बाद कुरुक्षेत्र, मत्स्य, पञ्चाल, शूरसेनक ये ब्रह्मर्षि देश हैं ॥१९॥

ब्रह्मावर्तादनन्तर :—

कुल्लू०—ब्रह्मावर्त से कुछ कम महत्व वाले।

मेधातिथि—ब्रह्मर्षि सम्बन्धित होने के कारण ब्रह्मावर्त से कुछ कम—

'ब्रह्मर्षि सम्बन्धात् ब्रह्मावर्तान्न्यूनः।'

इसी प्रकार नन्दन, रामचन्द्र, मणिराम तथा गोविन्दराज ने भी यही अर्थ किया है। किन्तु Buhler—Immediately after Brahmavarta.

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥ २० ॥

अ०—एतद् देशप्रसूतस्य अग्रजन्मनः सकाशात् सर्वमानवाः पृथिव्यां स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् ॥२१॥

इस देश में उत्पन्न ब्राह्मण से पृथिवी के सभी मनुष्य अपना अपना आचार सीखें ॥ २० ॥

एतद्दे०—कुल्लू०—कुरुक्षेत्रादिदेश

सर्वज्ञ०—इस पद से ब्रह्मावर्त का भी ग्रहण होगा—"एतत्पदेन ब्रह्मावर्तस्यापिग्रहणम्।"

हिमवद्विन्ध्ययोर्मध्यं यत्प्राग्विनशनादपि ।
प्रत्यगेव प्रयागाच्च मध्यदेशः प्रकीर्तितः ॥ २१ ॥

हिमवदिति ॥ उत्तरदक्षिणदिगवस्थितौ हिमवद्विन्ध्यौ पर्वतौ तयोर्यन्मध्यं विनशनात् सरस्वत्यन्तर्धानदेशाद्यत्पूर्वं प्रयागाच्च यत्पश्चिमं स मध्यदेशनामा देशः कथितः ॥ २१ ॥

अ०—हिमवद्विन्ध्ययोः यद् मध्यं विनशनादपि प्राक् प्रयागात् च प्रत्यक् एव (सः) मध्यदेशः प्रकीर्तितः ॥२१॥

हिमालय तथा विन्ध्याचल के मध्म में लुप्त नदी सरस्वती से पूर्व में तथा प्रयाग से पश्चिम में मध्य देश है।

दूसरे शब्दों में इस प्रकार कहा जा सकता है मध्यदेश से पूर्व में प्रयाग पश्चिम में सरस्वती, उत्तर में हिमालय तथा दक्षिण में विन्ध्याचल है ॥ २१ ॥

आ समुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्राच्च पश्चिमात्।
तयोरेवान्तरं गिर्योरार्यावर्तं विदुर्बुधाः ॥ २२ ॥

आ समुद्रात्त्विति ॥ आ पूर्वसमुद्रात् आ पश्चिमसमुद्राद्धिमवद्विन्ध्ययोश्च यन्मध्यं तमार्यावर्तदेशं पण्डिता जानन्ति। मर्यादायामयमाङ् नाभिविधौ। तेन समुद्रमध्यद्वीपानां नार्यावर्तता। आर्या अत्रावर्तन्ते पुनः पुनरुद्भवन्तीत्यार्यावर्तः ॥ २२ ॥

अ०—पूर्वात् तु समुद्रात् आ, पश्चिमात् समुद्रात् आ, तयोः एव गिर्योः अन्तरं बुधाः आर्यावर्तं वै विदुः ॥२२॥

पूर्व में समुद्र तक तथा पश्चिम में समुद्र तक फैला हुआ तथा दोनों (हिमालय एवं विन्ध्याचल) पर्वतों के बीच में जो (भू-भाग) है उसे आर्यावर्त के नाम से विद्वान जानते हैं ॥ २२ ॥

कृष्णसारस्तु चरति मृगो यत्र स्वभावतः।
स ज्ञेयो यज्ञियो देशो म्लेच्छदेशस्त्वतः परः ॥ २३ ॥

कृष्णसारस्त्विति ॥ कृष्णसारो मृगो यत्र स्वभावतो वसति न तु बलादानीतः स यज्ञार्हो देशो ज्ञातव्यः। अन्यो म्लेच्छदेशो न यज्ञार्ह इत्यर्थः ॥ २३ ॥

अ०—यत्र तु: कृष्णसारः मृगः स्वभावतः चरति, स देशः यज्ञियः ज्ञेयः, अतः परः तु म्लेच्छदेशः ॥२३॥

जहां कालामृग स्वभाव से विचरण करता है वह देश यज्ञ के योग्य जाना जाता है, इससे परे म्लेच्छ देश है ॥ २३ ॥

काले मृग के महत्व का वर्णन याज्ञ० में भी दिखाया गया है—

मिथिलास्थः स योगीन्द्रः क्षणं ध्यात्वाऽब्रवीन्मुनीन्
यस्मिन्देशे मृगः कृष्णस्तस्मिन्धर्मान्निबोधत ॥१२॥

एतान्द्विजातयो देशान्संश्रयेरन्प्रयत्नतः।
शूद्रस्तु यस्मिन्कस्मिन्वा निवसेद् वृत्तिकर्शितः ॥ २४ ॥

एतानिति ॥ अन्यदेशोद्भवा अपि द्विजातयो यज्ञार्थत्वाददृष्टार्थत्वाच्चैतान्देशान्प्रयत्नादाश्रयेरन्। शूद्रस्तु वृत्तिपीडितो वृत्त्यर्थमन्यदेशमप्याश्रयेत् ॥२४॥

अ०—द्विजातयः एतान् देशान् प्रयत्नतः, संश्रयेरन्, शूद्रस्तु यस्मिन् कस्मिन् वा वृत्तिकर्शितः निवसेत् ॥२४॥

प्रयत्न पूर्वक द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) इन्हीं (ब्रह्मावर्त, ब्रह्मर्षिदेश, मध्यदेश, आर्यावर्त) देशों में रहें। आजीविका के अनुरोध से शूद्र जिस किसी देश में रह सकता है ॥ २४ ॥

एषा धर्मस्य वो योनिः समासेन प्रकीर्तिता।
संभवश्चास्य सर्वस्य वर्णधर्मान्निबोधत ॥ २५ ॥

एषा धर्मस्येति ॥ एषा युष्माकं धर्मस्य योनिः संक्षेपेणोक्ता। योनिर्ज्ञप्तिकारणं 'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्' (२।६) इत्यादिनोक्तमित्यर्थः। गोविन्दराजस्त्विह 'धर्म' शब्दोऽपूर्वाख्यात्मकधर्मे वर्तते इति 'विद्वद्भिः सेवितः' (२।१) इत्यत्र तत्कारणंऽष्टकादौ वाऽपूर्वाख्यस्य धर्मस्य योनिरिति व्याख्यातवान्। संभवश्चोत्पत्तिर्जगत इत्युक्ता। इदानीं वर्णधर्माञ्छृणुत। 'वर्णधर्म' शब्दश्च वर्णधर्माश्रमधर्मवर्णाश्रमधर्मगुणधर्मनैमित्तिकधर्माणामुपलक्षकः। ते च भविष्यपुराणोक्ताः—'वर्णधर्मः स्मृतस्त्वेक आश्रमाणामतः परम्। वर्णाश्रमस्तृतीयस्तु गौणो नैमित्तिकस्तथा ॥ वर्णत्वमेकमाश्रित्य यो धर्मः संप्रवर्तते। वर्णधर्मः स उक्तस्तु यथोपनयनं नृप ॥ यस्त्वाश्रमं समाश्रित्य अधिकारः प्रवर्तते। स खल्वाश्रमधर्मस्तु भिक्षादण्डादिको यथा ॥ वर्णत्वमाश्रमत्वं च योऽधिकृत्य प्रवर्तते। स वर्णाश्रमधर्मस्तु मौंजीया मेखला यथा ॥ यो गुणेन प्रवर्तेत गुणधर्मः स उच्यते। यथा मूर्धाभिषिक्तस्य प्रजानां परिपालनम्। निमित्तमेकमाश्रित्य यो धर्मः संप्रवर्तते। नैमित्तिकः स विज्ञेयः प्रायश्चित्तविधिर्यथा' ॥ २५ ॥

अ०—एषा धर्मस्य योनिः वः समासेन प्रकीर्तिता, अस्य सर्वस्य सम्भवः च वर्णधर्मान् निबोधत ॥२५॥

(मेरे द्वारा-भृगु द्वारा) धर्म का मूल (वेद, स्मृति, सदाचार, आत्मतुष्टि) तथा जगत् की सृष्टि संक्षेप में कही गई,(अब आप लोग) वर्णधर्म को जानो ॥२५॥

यहां 'वर्णधर्मान्निबोधत' इससे ऐसा प्रतीत होता है कि आगे ब्राह्मणादि वर्णों के अध्ययनादि धर्मों को ही कहा जायेगा। किन्तु वहाँ ब्रह्मचर्यादि आश्रमों के भिक्षादि आश्रम धर्म, ब्राह्मणादि वर्णों के ब्रह्मचर्यादि आश्रमों में बेल या पलाश के

दण्डधारणादि वर्णाश्रमधर्म, अभिषिक्त राजा के प्रजापालनादि गुण धर्म तथा प्रायश्चित्तादि निमित्त धर्म का भी वर्णन किया गया है। इस सम्बन्ध में कुल्लूक ने वर्ण धर्म को आश्रम, वर्णाश्रम, गुण तथा निमित्त धर्म का उपलक्षक माना है तथा भविष्य पुराण को उद्धृत किया है।

वैदिकैः कर्मभिः पुण्यैर्निषेकादिर्द्विजन्मनाम्।
कार्यः शरीरसंस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च ॥ २६ ॥

वैदिकैरिति ॥ वेदमूलत्वाद्वैदिकैः पुण्यैः शुभैर्मन्त्रयोगादिकर्मभिः द्विजातीनां गर्भाधानादिशरीरसंस्कारः कर्तव्यः। पावनः पापक्षयहेतुः। प्रेत्य परलोके संस्कृतस्य यागादिफलसंबन्धात् इह लोके च वेदाध्ययनाद्यधिकारात् ॥२६॥

अ०—वैदिकैः पुण्यैः द्विजन्मनां प्रेत्य च इह च पावनः शरीरसंस्कारः कार्यः ॥२६॥

इस लोक में तथा परलोक में पाप नष्ट करने वाले द्विजों के गर्भाधानादि संस्कार मंगल वैदिक कर्मों के द्वारा किए जाने चाहिए ॥२६॥

संस्कार का अधिकार अथवा आवश्यकता केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य को है। शूद्र को संस्कार की आवश्यकता नहीं होती क्योंकि उनको किसी प्रकार का भी पातक नहीं लगता है तथा संस्कार पातकक्षयकारी होते हैं।

("न शूद्रे पातकं किञ्चिन्न च संस्कारमर्हति" मनु०। (१०।१२६)।

कुतः पापसंभवो येनैषां पापक्षयहेतुत्वमत आह—

गार्भैर्होमैर्जातकर्मचौडमौञ्जीनिबन्धनैः।
बैजिकं गार्भिकं चैनो द्विजानामपमृज्यते ॥२७॥

गार्भैरिति ॥ ये गर्भशुद्धये क्रियन्ते ते गार्भाः। होमग्रहणमुपलक्षणम्। गर्भाधानादेरहोमरूपत्वात्। जातस्य यत्कर्ममन्त्रवत्सर्पिःप्राशनादिरूपं तज्जातकर्म। चौडं चूडाकरणकर्म। मौञ्जीनिबन्धनमुपनयनम्। एतैर्बैजिकं प्रतिषिद्धमैथुनसंकल्पादिना पैतृकरेतोदोषाद्यद्यत्पापं, गार्भिकं चाशुचिमातृगर्भवासजं तद् द्विजातीनामपमृज्यते ॥२७॥

अ०—गार्भैः होमैः जातकर्म चौडमौञ्जीनिबन्धनैः द्विजानां, गार्भिकंबैजिकं च एनः अपमृज्यते ॥२७॥

द्विजों के बीज तथा गर्भ संबंधी दोष गर्भ की शुद्धि के लिए किए जाने वाले होम, जातकर्म, मुण्डन तथा उपनयन संस्कारों के द्वारा दूर किए जाते हैं ॥२७॥

याज्ञ० में भी संस्कारों से दोषों का दूर होना बताया गया है—

एवमेनः शमं याति बीजगर्भसमुद्भवम्।
तूष्णीमेताः क्रियाः स्त्रीणां विवाहस्तु समन्त्रकः ॥

स्वाध्यायेन व्रतैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः ॥२८॥

स्वाध्यायेनेति ॥ वेदाध्ययनेन। व्रतैर्मधुमांसवर्जनादिनियमैः, होमैः सावित्रचरुहोमादिभिः, सायंप्रातर्होमैश्च त्रैविद्याख्येन च, व्रतेष्वप्राधान्यादस्य पृथगुपन्यासः। इज्यया ब्रह्मचर्यावस्थायां देवर्षिपितृतर्पणरूपया, गृहस्थावस्थायां पुत्रोत्पादनेन। महायज्ञैः पञ्चभिर्ब्रह्मयज्ञादिभिः। यज्ञैर्ज्योतिष्टोमादिभिः। ब्राह्मी ब्रह्मप्राप्तियोग्येयं तनुः तन्ववच्छिन्न आत्मा क्रियते। कर्मसहकृतब्रह्मज्ञानेन मोक्षावाप्तेः ॥२८॥

अ०—स्वाध्यायेन व्रतैः होमैः त्रैविद्येन इज्यया सुतैः महायज्ञैः यज्ञैः च इयं ब्राह्मी तनुः क्रियते ॥२८॥

यह शरीर तीनों वेदों में निष्णात व्यक्ति के द्वारा जप, निषिद्ध कर्मों को न करने के नियमों, हवनों, दान, पुत्रों, (पुत्रोत्पत्ति) महायज्ञों तथा यज्ञों से मोक्ष प्राप्ति के योग्य बनाया जाता है ॥२८॥

१. **स्वाध्यायेन**—जप के द्वारा 'स्वाध्यायः स्याज्जपः' अ० को० द्वितीय काण्ड ब्रह्मवर्ग।

कुल्लू०—वेदाध्ययन के द्वारा

Buhler—By the study of the Veda.

२. **व्रतैः**—नियमों के द्वारा, 'नियमो व्रतम्' अ० को० द्वितीय काण्ड ब्रह्मवर्ग।

कुल्लू०—शराब मांसादि निषिद्ध कर्मों को न करने का नियम।

मेधातिथि—वेद की शाखा विशेष के अध्ययन के लिए छात्र द्वारा लिया गया व्रत—'सावित्रादिभिर्ब्रह्मचारिकर्तृकैः' ॥

इस संदर्भ में—'एक ब्रह्मव्रताचारा मिथः सब्रह्मचारिणः' अ० को० द्वितीय काण्ड ब्रह्मवर्ग।

3. **होमैः**—हवनों से।

अग्नि में मन्त्र सहितद्रव्य त्याग होम कहलाता है—

स्वाहाशब्देन होमः स्यात् अत्र प.नं स्मृतं किल।
यथाकथंचिद् द्रव्यस्य त्यागो होम इतीरितिः ॥ मार्क०

४. **त्रैविद्येन**—(१) तिसृणां विद्यानां समाहारः त्रिविद्यम् त्रिविद्यमेव त्रैविद्यम् तेन त्रैविद्येन—तीन विद्याओं से।

(२) तिस्रो विद्या यस्येति त्रिविद्यः, त्रिविद्यः एव त्रैविद्यः तेन त्रैविद्येन—तीन विद्याओं के ज्ञाता द्वारा।

कुल्लू०—त्रैविद्य नामक व्रत से। इस व्रत में ब्रह्मचारी ३६ वर्षों अथवा १८

वर्षों या ९ वर्षों में अथवा जब तक तीनों वेदों का अर्थज्ञान न हो तब तक गुरु के पास रहने का नियम लेता है—

षट्त्रिंशदाब्दिकं चर्यं गुरौ त्रैवेदिकं व्रतम्।
तदर्धिकं पादिकं वा ग्रहणान्तिकमेव वा। मनु. III (१)

मेधातिथि—तीनों वेदों के अर्थ ज्ञान द्वारा। (त्रयाणां वेदानामध्ययनेनेत्यर्थः)।

याज्ञवल्क्य के अनुसार लौकिक, वैदिक, अध्यात्मिक विद्या—

चत्वारो वेदधर्मज्ञाः पर्षत्त्रैविद्यमेव वा।
सा ब्रूते यं सः धर्मः स्यादेको वाऽध्यात्मवित्तमः। याज्ञ. I (९)

५. इज्यया—दान, देव पूजा, यज्ञ के द्वारा।

कुल्लू०—ब्रह्मचर्य अवस्था में किए जाने वाले देव-ऋषि-पितृ तर्पण।

सर्वज्ञ०—पाक यज्ञ से-'पाकयज्ञेन'।

६. महायज्ञैः—महायज्ञों के द्वारा।

कुल्लू०—पांच ब्रह्मादि यज्ञ।

गृहस्थ के द्वारा गृहव्यवस्था के लिए किए जाने वाले कार्यों से उत्पन्न पापों का प्रायश्चित करने के लिए महायज्ञ किए जाते हैं—

पञ्चसूना गृहस्थस्य चुल्लीपेषण्युपस्करः।
कण्डनी चोदकुम्भश्च बध्यते यास्तु वाहयन्॥
तासां क्रमेण सर्वासां निष्कृत्यर्थं महर्षिभिः।
पञ्चक्लृप्ता महायज्ञाः प्रत्यहं गृहमेधिनाम्॥ मनु. III (६८-६९)

पञ्च महायज्ञ—मनु के अनुसार ब्रह्म यज्ञ, पितृ यज्ञ, देव यज्ञ, भूत यज्ञ एवं अतिथि यज्ञ—

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथि पूजनम्॥ मनु. III (७०)

कात्यायन ने भी इन्हीं पांच यज्ञों को महायज्ञ कहा है—

देवभूतपितृब्रह्ममनुष्याणामनुक्रमात्।
महासत्राणि जानीयात्त एवेह महामखाः॥

वृद्ध गौतम स्मृति में देवयज्ञ के स्थान पर ऋषि यज्ञ कहा गया है—

ऋषियज्ञं ब्रह्मयज्ञं भूतयज्ञञ्च पार्थिव।
नृयज्ञं पितृयज्ञश्च पञ्चयज्ञान् प्रचक्षते॥ वृ० गौ० VII (६)

शिव पुराण में कर्म, तप, जप, ध्यान तथा ज्ञान ये पाँच यज्ञ माने गए हैं—

कर्मयज्ञस्तपो यज्ञो जपयज्ञस्तदुत्तरः।
ध्यानयज्ञो ज्ञानयज्ञः पञ्चयज्ञप्रकीर्तिताः॥ वायु संहिता—१८

विष्णुधर्मोत्तर पुराण में किस यज्ञ से कौन-सा ऋण उतरता है इसका वर्णन प्राप्त होता है—

देवानामनृणोजन्तु यज्ञैर्भवतिमानवः।
अल्पवित्तश्च पूजाभिरुपवासव्रतैस्तथा ॥
श्राद्धेन प्रजया चैव पितृणामनृणो भवेत् ।
ऋषीणां ब्रह्मचर्येण श्रुतेन तपसा तथा ।।

जन्म लेते ही मनुष्य सूर्यादि देवताओं, ज्ञान विज्ञान की खोज तथा उनकी पीढ़ी तक पहुंचाने वाले ऋषियों तथा अपने जन्मदाता माता-पिता (परम्परया मातामह, पितामह आदि) के प्रति ऋणवान हो जाता है—'जायमानो ह वै अभ्रकः त्रिभिर्ऋणैः ऋण्वान जायते।'

मोक्ष सभी प्रकार के ऋणों से उऋण हो जाने पर ही संभव कहा गया है—

"ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत।"

इसीलिए यहां ब्रह्म प्राप्ति योग्य शरीर बनाने के लिए पञ्च महायज्ञों के करने को अनिवार्य अंग कहा गया है।

प्राङ्नाभिवर्धनात्पुंसो जातकर्म विधीयते।
मन्त्रवत्प्राशनं चास्य हिरण्यमधुसर्पिषाम् ॥२९॥

प्रागिति ॥ नाभिच्छेदनात्प्राक् पुरुषस्य जातकर्माख्यः संस्कारः क्रियते। तदा चास्य स्वगृह्योक्तमन्त्रैः स्वर्णमधुघृतानां प्राशनम् ॥२९॥

अ०—नाभिवर्धनात् प्राक् पुंसः जातकर्म विधीयते, अस्य मन्त्रवत् हिरण्यमधुसर्पिषां प्राशनं च (विधीयते) ॥२९॥

(जन्म लेते ही) नाभि काटने से पहले पुरुष का जातकर्म संस्कार करने का विधान है। सुवर्ण पर मधु तथा घी लगाकर मन्त्रोच्चारण करके चटाया जाता है ॥२९॥

पुंस :—

कुल्लू०—पुरुष का

मेधातिथि—पुंसः पद स्त्री तथा नपुंसक का व्यावर्तक है।

'पुंस इति स्त्रीनपुंसकव्यावृत्त्यर्थम्'

नामधेयं दशम्यां तु द्वादश्यां वाऽस्य कारयेत्।
पुण्ये तिथौ मुहूर्ते वा नक्षत्रे वा गुणान्विते ॥३०॥

नामधेयमिति ॥ 'जातकर्म' इति पूर्वश्लोके जन्मनः प्रस्तुतत्वाज्जन्मापेक्षयैव दशमे द्वादशे वाऽहनि अस्य शिशोर्नामधेयं स्वयमसंभवेऽन्येन कारयेत्। अथवा 'आशौचे च व्यतिक्रान्ते नामकर्म विधीयते' इति शङ्खवचनाद्दशमेऽहन्यतीते एकादशाह इति व्याख्येयम्। तत्राप्यकरणे प्रशस्ते तिथौ प्रशस्त एव मुहूर्ते नक्षत्रे च गुण-

वत्येव ज्योतिषावगते कर्तव्यम् । वा शब्दोऽवधारणे ॥३०॥

अ०—अस्य नामधेयं तु दशम्यां द्वादश्यां वा पुण्ये तिथौ मुहूर्ते वा गुणान्विते नक्षत्रे, वा कारयेत् । ॥३०॥

इसका (शिशु का) नामकरण संस्कार दसवें अथवा बारहवें अथवा शुभ तिथि, मुहूर्त तथा गुणवान नक्षत्र वाले दिन करवाए ॥३०॥

कारयेत्—सामान्यतः यह संस्कार पिता द्वारा किया जाता है किन्तु यदि पिता न करने की स्थिति में हो तो भी किसी अन्य से करवा दे ।

कुल्लू०—स्वयं असमर्थ हो तो दूसरे से करवाए ।

मंगल्यं ब्राह्मणस्य स्यात्क्षत्रियस्य बलान्वितम् ।
वैश्यस्य धनसंयुक्तं शूद्रस्य तु जुगुप्सितम् ॥३१॥

मङ्गल्यमिति ॥ ब्राह्मणादीनां यथाक्रमं मङ्गल-बल-धन-निन्दावाचकानि शुभ-बल-वसु-दीनादीनि नामानि कर्तव्यानि ॥३१॥

अ०—ब्राह्मणस्य (नाम) मङ्गल्यं, क्षत्रियस्य बलान्वितं, वैश्यस्य धनसंयुक्तं, शूद्रस्य तु जुगुप्सितं स्यात् । ॥३१॥

ब्राह्मण का कल्याणकारी, क्षत्रिय का बल युक्त, वैश्य का धन युक्त तथा शूद्र का घृणा युक्त (नाम रखना चाहिए) ॥३१॥

मंगल्यं—

मेधातिथि—धर्म का साधन । 'मङ्गलं धर्मः तत्साधनं मङ्गल्यम् ।

इदानीमुपपदनियमार्थमाह—

शर्मवद्ब्राह्मणस्य स्याद्राज्ञो रक्षासमन्वितम् ।
वैश्यस्य पुष्टिसंयुक्तं शूद्रस्य प्रेष्यसंयुतम् ॥३२॥

शर्मवद्ब्राह्मणस्येति ॥ एषां यथाक्रमं शर्म-रक्षा-पुष्टि-प्रेष्यवाचिकानि कर्तव्यानि शर्म-वर्म-भूति-दासादीनि उपपदानि कार्याणि । उदाहरणानि तु शुभ-शर्मा, बलवर्मा, वसुभूतिः, दीनदासः इति । तथा च यमः—'शर्म देवश्च विप्रस्य वर्म त्राता च भूभुजः । भूतिदत्तश्च वैश्यस्य दासः शूद्रस्य कारयेत् ॥' विष्णुपुराणेऽप्युक्तम्—'शर्मवद् ब्राह्मणस्योक्तं वर्मेति क्षत्रसंयुतम् । गुप्तदासात्मकं नाम प्रशस्तं वैश्यशूद्रयोः' ॥३२॥

अ०—ब्राह्मणस्य शर्मवत् राज्ञः रक्षासमन्वितं वैश्यस्य पुष्टिसंयुक्तं शूद्रस्य प्रेष्यसंयुक्त (नाम कुर्यात्) ॥३२॥

ब्राह्मण का आश्रय युक्त, राजा का रक्षा युक्त, वैश्य का पुष्टियुक्त तथा शूद्र का प्रेष्य (दास) युक्त (नाम रखना चाहिए) ॥३२॥

मेधातिथि—शर्म-शरण, आश्रय और सुख 'शर्म शरणमाश्रयः सुखं च' ।

रक्षा—परिपालन 'परिपालनम्।

पुष्टि—:वृद्धि, 'वृद्धिः'

प्रेष्य—:दास 'दासः'।

कुल्लू० ने क्रमशः ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य एवं शूद्र के नामों के उदाहरण इस प्रकार दिए हैं—शुभ शर्मा, बलवर्मा, वसुभूतिः तथा दीनदास।

स्त्रीणां सुखोद्यमक्रूरं विस्पष्टार्थं मनोहरम्।
मंगल्यं दीर्घवर्णान्तमाशीर्वादाभिधानवत् ॥३३॥

स्त्रीणामिति ॥ सुखोच्चार्यमक्रूरार्थवाचि व्यक्ताभिधेयं मनःप्रीतिजननं मङ्गलवाचि दीर्घस्वरान्तं आशीर्वाचकेनाभिधानेन शब्देनोपेतं स्त्रीणां नाम कर्तव्यं यथा यशोदा देवीति ॥३३॥

स्त्रियों के नाम सुलभता से उच्चारण योग्य, कोमल, सरल अर्थ वाले, मन को अच्छे लगने वाले, शुभ, दीर्घ स्वर अन्त में हों जिनके ऐसे तथा आशीर्वाद वाचक होने चाहिएं। ॥३३॥

मेधातिथि—

सुखोद्यम्—स्त्री बच्चों के द्वारा भी जिसका उच्चारण सुखपूर्वक किया जा सके यथा—'मङ्गल देवी' 'चारुदती' सुवदना आदि। विपरीत उदाहरण—'शर्मिष्ठा' 'सुश्लिष्टाङ्गी'।

विस्पष्टार्थम्—जिसका अर्थ व्याख्यान से समझने योग्य न हो अपितु विद्वान तथा जो विद्वान नहीं है उनको सुना हुआ हो।

मनोहरम्—चित्त को प्रसन्न करने वाला।

मङ्गल तथा आशीर्वाद में कोई अन्तर नहीं है। दोनों पदो को छन्द पूर्ति के लिए लिखा है।

चतुर्थे मासि कर्तव्यं शिशोर्निष्क्रमणं गृहात्।
षष्ठेऽन्नप्राशनं मासि यद्वेष्टं मङ्गलं कुले ॥३४॥

चतुर्थे मासीति ॥ चतुर्थे मासे वालस्य जन्मगृहान्निष्क्रमणमादित्यदर्शनार्थं कार्यम्। अन्नप्राशनं च षष्ठे मासे; अथवा कुलधर्मत्वेन यन्मङ्गलमिष्टं तत्कर्तव्यं, तेनोक्तकालादन्यकालेऽपि निष्क्रमणम्। तथा च यमः—'ततस्तृतीये कर्तव्यं मासि सूर्यस्य दर्शनम्'। सकलसंस्कारशेष (विषय) श्चायम्। तेन नाम्ना शर्मादिकमप्युपपदं कुलाचारेण कर्तव्यम् ॥३४॥

अ०—शिशोः चतुर्थे मासि गृहात् निष्क्रमणं कर्तव्यम्, अन्नप्राशनं कुले यत् इष्टं मङ्गलं वा षष्ठे मासि। ॥३४॥

चौथे महीने में शिशु को घर से बाहर निकालना चाहिए। छठे महीने में अन्न-

प्राशन करना चाहिए अथवा कुल में जब कल्याणकारी होता हो तब (ये संस्कार करने चाहिएं) ॥३४॥

१. शिशोः—मेधातिथि—शिशुपद का ग्रहण शूद्र को भी इन संस्कारों का अधिकारी बताने के लिए किया गया है।

'शिशुग्रहणं शूद्रस्यापि प्राप्त्यर्थम्'।

२. निष्क्रमणम्—कुल्लू०—सूर्य दर्शन कराने के लिए शिशु को घर से बाहर निकालना।

चूडाकर्म द्विजातीनां सर्वेषामेव धर्मतः।
प्रथमेऽब्दे तृतीये वा कर्तव्यं श्रुतिचोदनात् ॥३५॥

चूडाकर्मेति॥ चूडाकरणं प्रथमे वर्षे तृतीये वा द्विजातीनां धर्मतो धर्मार्थं कार्यम्, श्रुतिचोदनात्। 'यत्र बाणाः संपतन्ति कुमारा विशिखा इव' इति मन्त्रलिङ्गात् कुलधर्मानुसारेणायं व्यवस्थितविकल्पः। अत एवाश्वलायनगृह्यम्—'तृतीये वर्षे चौलं यथाकुलधर्मं वा' ॥३५॥

अ०—सर्वेषाम् एव द्विजातीनाम् चूडाकर्म प्रथमे अब्दे तृतीये वा धर्मतः श्रुतिचोदनात् कर्तव्यम्। ॥३५॥

वेद की प्रेरणा से धर्मपूर्वक चूडाकर्म (मुंडन) संस्कार पहले अथवा तीसरे वर्ष में सभी द्विजों का होना चाहिएं। ॥३५॥

चूडाकर्म—"मेधातिथि—शिखा के लिए किया जाने वाला कार्य।" 'चूडा शिखा तदर्थं कर्म चूडाकर्म'।

गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपनायनम्।
गर्भादेकादशे राज्ञो गर्भात्तु द्वादशे विशः ॥३६॥

गर्भाष्टम इति॥ गर्भवर्षादष्टमे वर्षे ब्राह्मणस्योपनायनं कर्तव्यम्। उपनयनमेवोपनायनम्। 'अन्येषामपि दृश्यते' (पा. ६।३।१३७) इति दीर्घः। गर्भैकादशे क्षत्रियस्य। गर्भद्वादशे वैश्यस्य ॥३६॥

अ०—ब्राह्मणस्य उपनायनं गर्भाष्टमे अब्दे राज्ञः गर्भात् एकादशे, विशस्तु गर्भात् द्वादशे कुर्वीत। ॥३६॥

गर्भ (धारण करने) से आठवें वर्ष में ब्राह्मण का, गर्भ से ग्याहरवें वर्ष में क्षत्रिय का तथा गर्भ से बारहवें वर्ष में वैश्य का उपनयन संस्कार होना चाहिए ॥३६॥

याज्ञ० में उपनयन का यही काल विकल्प से गर्भ धारण करने से अथवा जन्म से कहा गया है—

गर्भाष्टमेऽष्टमेवाब्दे ब्राह्मणस्योपनायनम् ।
राज्ञमेकादशे सैके विशामेके यथाकुलम् ।

ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यं विप्रस्य पञ्चमे ।
राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्येहार्थिनोऽष्टमे ।।३७।।

ब्रह्मवर्चसकामस्येति ।। वेदाध्ययनतदर्थज्ञानादिप्रकर्षकृतं तेजो ब्रह्मवर्चसं, तत्कामस्य ब्राह्मणस्य गर्भपञ्चमे वर्षे उपनयनं कार्यम् । क्षत्रियस्य हस्त्यश्वादि-राज्यबलार्थिनो गर्भषष्ठे । वैश्यस्य बहुकृष्यादिचेष्टार्थिनो गर्भाष्टमे, गर्भवर्षाणामेव प्रकृतत्वात् । यद्यपि बालस्य कामना न संभवति तथापि तत्पितुरेव तद्गतफल-कामना तस्मिन्नुपचर्यते ।।३७।।

अ०—ब्रह्मवर्चसकामस्य विप्रस्य पञ्चमे बलार्थिनः राज्ञः षष्ठे, ईहार्थिनः वैश्यस्य अष्टमे उपनयनं कार्यम् । ।।३७।।

वेदों में उत्कर्ष की कामना रखने वाले विप्र का पांचवें, बल-पराक्रम की इच्छा वाले क्षत्रिय का छठे तथा इस लोक में धन की इच्छा रखने वाले वैश्य का आठवें वर्ष में (उपनयन संस्कार कराना चाहिए) ।।३७।।

कुल्लू०—यद्यपि बालकों में ये सभी कामनाएं संभव नहीं है तथापि उनके पिताओं की कामना ही उनकी कामना कही गई है ।

आ षोडशाद्ब्राह्मणस्य सावित्री नातिवर्तते ।
आ द्वाविंशात्क्षत्रबन्धोरा चतुर्विंशतेर्विशः ।।३८।।

आ षोडशादिति ।। अभिविधावाङ् । ब्राह्मणक्षत्रियविशामुक्ताष्टमैकादश-द्वादशवर्षद्वैगुण्यस्य विवक्षितत्वात् षोडशवर्षपर्यन्तं ब्राह्मणस्य सावित्र्यर्थे वचनमुप-नयनं नातिक्रान्तकालं भवति । क्षत्रियस्य द्वाविंशतिवर्षपर्यन्तम् । वैश्यस्य चतु-र्विंशतिवर्षपर्यन्तम् । अत्र मर्यादायामाङ् । केचिद्व्याख्यापयन्ति यमवचनदर्शनात् । तथा च यमः—'पतिता यस्य सावित्री दशवर्षाणि पञ्च च । ब्राह्मणस्य विशेषेण तथा राजन्यवैश्ययोः ।। प्रायश्चित्तं भवदेषां प्रोवाच वदतां वरः । विवस्वतः सुतः श्रीमान् यमो धर्मार्थतत्त्ववित् ।। सशिखं वपनं कृत्वा व्रतं कुर्यात्समाहितः । हविष्यं भोजयेदन्नं ब्राह्मणान्सप्त पञ्च वा ।।३८।।

अ०—ब्राह्मणस्य आषोडशात्, क्षत्रबन्धोः आद्वाविंशात्, विशः आचतुर्विंशतेः सावित्री न अतिवर्तते । ।।३८।।

सोलह वर्ष तक ब्राह्मण, बाईस वर्ष तक क्षत्रिय जाति का तथा चौबीस वर्ष तक वैश्य का सावित्री काल (उपनयन काल) का अतिक्रमण नहीं होता अर्थात् उपनयन करा देने की ये परमावधि है ।।३८।।

उपनयनम्—उप √नी—ल्युट् ।

'गुरोः उप समीपं नीयते येन कर्मणा' गुरु के समीप ले जाया जाता है जिस संस्कार के द्वारा वह उपनयन है । कुल्लूक भट्ट ने यम के वचन को दिखाते हुए इस परमावधि का उल्लंघन करने वाले ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य को प्रायश्चित का भागी बताया है । तदनुसार शिखा सहित केश काट कर उपवास रखते हुए पांच अथवा सात ब्राह्मणों को यज्ञीय भोजन करवाना चाहिए ।

याज्ञवल्क्य स्मृति के अनुसार भी उपनयन संस्कार की परमावधि उपरोक्त ही है—

आ षोडशादा द्वाविंशाच्चतुर्विंशाच्च वत्सरात् ।
ब्रह्मक्षत्रविशां काल औपनायनिकः परः ।

आचराध्याये-37

उपनयन संस्कार शिक्षा प्रारम्भ करने के समय किया जाने वाला संस्कार है । प्रत्येक व्यक्ति का बुद्धि वैभव भिन्न होता है । कोई बच्चा अपनी आयु से अधिक आयु के बच्चों द्वारा ग्रहण करने योग्य विषयों का भी ग्रहण कर लेता है अर्थात् तीव्र बुद्धि वाला होता है । कोई अपनी आयु के अनुसार ही ज्ञान का ग्रहण करता है अर्थात् सामान्य बुद्धि वाला होता है । कोई अपनी आयु के अनुसार भी ज्ञान का ग्रहण नहीं करता अर्थात् अल्प बुद्धि होता है । इसके अतिरिक्त प्रत्येक व्यक्ति को अपने उद्देश्य के अनुरूप शिक्षा की आवश्यकता होती है । ऐसे व्यक्ति को अधिक अध्ययन की आवश्यकता होती हैं जिसे अध्यापन जैसे कार्य क्षेत्र में जाना हो, जिसे सेना जैसे रक्षा सम्बन्धी कार्य क्षेत्र में जाना हो उसे अपेक्षाकृत कुछ कम तथा जिसे कृषि व्यापारादि के कार्य क्षेत्र में जाना हो उसे और भी कुछ कम अध्ययन की आवश्यकता होती हैं ।

सम्भव है कि इन्हीं बुद्धिवैभव तथा आवश्यकताओं को दृष्टि में रखकर मनु ने भिन्न-भिन्न उपनयन काल का वर्णन किया है, जिसे निम्न प्रकार से व्यक्त किया जा सकता है—

बुद्धि वैभव

उद्देश्य	तीव्र-बुद्धि	सामान्य-बुद्धि	अल्प-बुद्धि
अध्यापनादि (ब्राह्मण)	पाँचवें वर्ष में	गर्भ से आठवें वर्ष में	गर्भ से नौवें वर्ष से लेकर सोलह वर्ष तक।
रक्षादि (क्षत्रिय)	छठे वर्ष में	गर्भ से ग्यारहवें वर्ष में	गर्भ से बारहवें वर्ष से लेकर बाईस वर्ष तक।
व्यापारादि (वैश्य)	आठवें वर्ष में	गर्भ से बारहवें वर्ष में	गर्भ से तेरहवें वर्ष से लेकर चौबीस वर्ष तक।

अत ऊर्ध्वं त्रयोऽप्येते यथाकालमसंस्कृताः।
सावित्रीपतिता व्रात्या भवन्त्यार्यविगर्हिताः ॥३९॥

अत ऊर्ध्वमिति॥ एते ब्राह्मणादयो यथाकालं यो यस्यानुकल्पिकोऽप्युपनयनकाल उक्तः षोडशवर्षादिपर्यन्तम्, तत्रासंस्कृतास्तदूर्ध्वं सावित्रीपतिता उपनयनहीनाः शिष्टगर्हिता 'व्रात्य' संज्ञा भवन्ति। संज्ञाप्रयोजनं च 'व्रात्यानां याजनं कृत्वा (११।१९७) इत्यादिना व्यवहारसिद्धिः ॥३९॥

अ०—अतः ऊर्ध्वम् एते अपि त्रयः यथाकालम् असंस्कृताः सावित्रीपतिताः आर्यविगर्हिताः व्रात्याः भवन्ति ॥३९॥

इस समय के बीतने पर ये तीनों वर्ण के लोग अशुद्ध, सावित्री के अनधिकारी, शिष्ट निन्दित व्रात्य हो जाते हैं ॥३९॥

नैतैरपूतैर्विधिवदापद्यपि हि कर्हिचित्।
ब्राह्मान् यौनांश्च संबन्धान्नाचरेद् ब्राह्मणः सह ॥४०॥

नैतैरिति। । एतैरपूतैर्व्रात्यैर्यथाविधिप्रायश्चित्तमकृतवद्भिः सह आपत्कालेऽपि कदाचिदध्यापनकन्यादानादीन्संबन्धान् ब्राह्मणो नानुतिष्ठेत् ॥४०॥

अ०—ब्राह्मणः विधिवत् अपूतैः एतैः सह हि आपदि अपि ब्राह्मान् यौनाम् च सम्बन्धान् न आचरेत् ॥४०॥

ब्राह्मण इन अपवित्रों के साथ किसी भी आपत्ति में विधि पूर्वक वेद सम्बन्धी (अध्यापन, याजनादि) तथा यौन सम्बन्धी (विवाहादि) सम्बन्ध न करें ॥४०॥

ब्राह्मणः

नन्दन—ब्राह्मण शब्द तीनों वर्णों का वाचक है—'अत्र ब्राह्मणशब्दस्त्रैवर्णिकवचनः'

सर्वज्ञ०—'ब्राह्मणः' इस पाठ के साथ 'ब्राह्मणैः'

यह पाठ भी माना है तथा ब्राह्मण के उपनीत न होने पर क्षत्रिय तथा वैश्य से अधिक दोष स्वीकार किया है—

"ब्राह्मण इति वचनं क्षत्रादेस्तत्सम्बन्धे तादृक् दोषाभावकथनार्थं, ब्राह्मणैरित्यपि पाठे तद्दोषाधिक्योपदर्शनार्थम्"

कार्ष्णरौरवबास्तानि चर्माणि ब्रह्मचारिणः।
वसीरन्नानुपूर्व्येण शाणक्षौमाविकानि च ॥४१॥

कार्ष्णरौरवबास्तानीति॥ कार्ष्णं इति विशेषानभिधानेऽपि मृगविशेषो रुरुसाहचर्यात् 'हारिणमैणेयं वा कार्ष्णं वा ब्राह्मणस्य' इत्यापस्तम्बवचनाच्च कृष्णमृगो गृह्यते। कृष्णमृगरुरुच्छागचर्माणि ब्रह्मचारिण उत्तरीयाणि वसीरन्। 'चर्माण्युत्तरीयाणि' इति गृह्यवचनात्। तथा शणक्षुमामेषलोमभवान्यधोवसनानि

ब्राह्मणादयः क्रमेण परिदधीरन् ॥४१॥

अ०—ब्रह्मचारिणः आनुपूर्व्येण कार्ष्णरौरववास्तानि चर्माणि शाणक्षौमाविकानिच वसीरन् ॥४१॥

(ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) ब्रह्मचारी काले मृग, धब्बेदार मृग, बकरे की खाल तथा सन, रेशम एवं ऊन के वस्त्र क्रमशः पहने। अर्थात् ब्राह्मण ब्रह्मचारी ऊपर काले मृग की छाल तथा नीचे अधोवस्त्र सन का, क्षत्रिय ब्रह्मचारी ऊपर धब्बेदार मृग की खाल तथा नीचे अधो वस्त्र के रूप में रेशम का तथा वैश्य ब्रह्मचारी बकरे की खाल ऊपर तथा ऊन का वस्त्र अधोवस्त्र के रूप में पहने ॥४१॥

यहाँ से ४९वें श्लोक पर्यन्त वर्णाश्रम धर्म का उपदेश है।

मौञ्जी त्रिवृत्समा श्लक्ष्णा कार्या विप्रस्य मेखला।
क्षत्रियस्य तु मौर्वी ज्या वैश्यस्य शणतान्तवी ॥४२॥

मौञ्जीति ॥ मुञ्जमयी त्रिगुणा समगुणत्रयनिर्मिता सुखस्पर्शा ब्राह्मणस्य मेखला कर्तव्या। क्षत्रियस्य मूर्वामयी ज्या धनुर्गुणरूपा मेखला। अतो ज्यात्वविनाशापत्तेस्त्रिवृत्त्वं नास्तीति मेधातिथि-गोविन्दराजौ। वैश्यस्य शणसूत्रमयी। अत्र त्रैगुण्यमनुवर्तत एव। 'त्रिगुणाः प्रदक्षिणा मेखलाः' इति सामान्येन प्रचेतसा त्रैगुण्याभिधानात् ॥४२॥

अ०—विप्रस्य मौञ्जी त्रिवृत् समा श्लक्ष्णा मेखला कार्या, क्षत्रियस्तु मौर्वीज्या, वैश्यस्य शणतान्तवी ॥४२॥

विप्र की मूंज की तीन गुनी, सम, सुखस्पर्शी, क्षत्रिय की मूर्वा की (धनुष की डोरी की) तथा वैश्य की सन के तन्तुओं की मेखला होनी चाहिए ॥४२॥

त्रिवृत्—एक ही तन्तु को तीन गुना करना।

मणि०—यह प्रक्रिया क्षत्रियादि की मेखला में भी की जाती है—"त्रिवृत्त्वं क्षत्रियादि मेखलायां च वोध्यम्"।

मुञ्जालाभे तु कर्तव्याः कुशाश्मन्तकबल्वजैः।
त्रिवृता ग्रन्थिनैकेन त्रिभिः पञ्चभिरेव वा ॥४३॥

मुञ्जालाभे त्विति ॥ कर्तव्या इति वहुवचननिर्देशाद्ब्रह्मचारित्रयस्य प्रकृतत्वान्मुख्यालाभे त्रिष्वप्यपेक्षायाः समत्वात्कौशादीनां च तिसृणां विधानान्मुञ्जाद्यलाभ इति बोद्धव्यम्। कर्तव्या इति बहुवचनमुपपन्नतरम्। भिन्नजातिसंवन्धितयेति ब्रुवाणस्य मेधातिथेरपि वहुवचनपाठः संमतः। मुञ्जाद्यलाभे ब्राह्मणादीनां त्रयाणां यथाक्रमं कुशादिभिस्तृणविशेषैर्मेखलाः कार्याः। त्रिगुणेनैकग्रन्थिना युक्तास्त्रिभिर्वा पञ्चभिर्वा। अत्र च वाशब्दनिर्देशाद्ग्रन्थीनां न विप्रादिभिः क्रमेण संबंधः

किंतु सर्वत्र यथाकुलाचारं विकल्पः । ग्रन्थिभेदश्चायं मुख्यामुख्यापेक्षासंभवाद्ग्रहीतव्यः ।।४३।।

अ०—मुञ्जालाभे तु कुशाश्मन्तकबल्वजैः त्रिवृत्ता एकेन त्रिभिः पञ्चभिः एव वा मेखला कार्या ।।४३।।

मूंज के प्राप्त न होने पर मेखला कुशा, अश्मन्तक तथा बल्वज से (तृण विशेषों से) तीन गुना की हुई (कुल की परम्परानुसार) एक, तीन अथवा पांच गांठ वाली बनानी चाहिए ।।४३।।

यद्यपि यहां मुञ्ज मात्र का निर्देश है तथापि प्रायः सभी टीकाकारों ने यहां मुञ्ज से मुञ्ज, मूर्वा तथा सन इन तीनों का ग्रहण किया है अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य क्रमशः मुञ्ज, मूर्वा तथा सन के न मिलने पर क्रमशः कुशा अश्मन्तक तथा बल्वज की मेखला बनाएं ।

कार्पासमुपवीतं स्याद्विप्रस्योर्ध्ववृतं त्रिवृत् ।
शणसूत्रमयं राज्ञोवैश्यस्याविकसौत्रिकम् ।।४४।।

कार्पासमिति ।। यदीयविन्यासविशेषस्योपवीतसंज्ञां वक्ष्यति तद्धर्मि ब्राह्मणस्य कार्पासम्, क्षत्रियस्य शणसूत्रमयम्, वैश्यस्य मेषलोमनिर्मितम् । त्रिवृदिति त्रिगुणं कृत्वा ऊर्ध्ववृतं दक्षिणावर्तितम् । एतच्च सर्वत्र संवध्यते । यद्यपि गुणत्रयमेवोर्ध्ववृतं मनुनोक्तं तथापि तत्त्रिगुणीकृत्याधोवृतं त्रिगुणं कार्यम् । तदुक्तं छन्दोगपरिशिष्टे—'ऊर्ध्वं तु त्रिवृतं कार्यं तन्तुत्रयमधोवृतम् । त्रिवृतं चोपवीतं स्यात्तस्यैको ग्रन्थिरिष्यते ।" देवलोऽप्याह—'यज्ञोपवीतं कुर्वीत सूत्राणि नव तन्तवः' ।।४४।।

अ०—विप्रस्य कार्पासम् उर्ध्ववृतं त्रिवृत् उपवीतं स्यात् राज्ञः शणसूत्रमयं, वैश्यस्य आविकसौत्रिकम् ।।४४।।

विप्र का यज्ञोपवीत (जनेऊ) कपास का तीन तन्तुओं का दांई ओर ऐंठा हुआ, सन के तन्तुओं का क्षत्रिय का तथा वैश्य का भेड़ के बाल का बना हुआ हो ।।४४।।

वस्तुतः रस्सी को जिस प्रकार बांटा जाता है उसी प्रकार कपास आदि के तीन धागे लेकर ऊपर की ओर से दांई तथा नीचे की ओर से दांई ओर बांटते हुए जनेऊ के एक सूत्र को तैयार किया जाता है तथा ऐसे तीन सूत्र लेकर नौ तन्तु वाला यज्ञोपवीत तैयार किया जाता है । कुल्लू० ने इस प्रक्रिया को छन्द० में तथा देवल का वचन दिखाते हुए टीका में लिखा है ।

ब्राह्मणो बैल्वपालाशौ क्षत्रियो वाटखादिरौ ।
पैलवौदुम्बरौ वैश्यो दण्डानर्हन्ति धर्मतः ।।४५।।

ब्राह्मण इति ।। यद्यपि द्वन्द्वनिर्देशेन समुच्चयावगमाद्धारणमपि समुच्चितस्यैव प्राप्तं तथापि 'केशान्तिको ब्राह्मणस्य दण्डः कार्यः' इति, तथा 'प्रतिगृह्येप्सितं दण्डम्' इति विधावेकत्वस्य विवक्षितत्वात् 'बैल्वः पालाशो वा दण्डः' इति वासिष्ठे विकल्पदर्शनादेकस्यैव दण्डस्य धारणविकल्पितयोरेवैकब्राह्मणसंबंधात्समुच्चयो द्वन्द्वेनानूद्यते । ब्राह्मणादयो विकल्पेन द्वौ द्वौ दण्डौ वक्ष्माणकार्ये कर्तुमर्हन्ति ।।४४।।

अ०—ब्राह्मणः बैल्वपालाशौ, क्षत्रियो वाटखादिरौ, वैश्यः पैल्वौदुम्बरौ दण्डान् धर्मतः अर्हन्ति ।।४५।।

धर्मानुसार ब्राह्मण बेल अथवा पलाश, क्षत्रिय वाट अथवा खैर तथा वैश्य पीलू अथवा गूलेर के (वृक्षों के) दण्ड धारण के योग्य हैं । ।।४५।।

'बैल्वपालाशौ' आदि द्वन्द्व से यद्यपि सम्मुच्चय अर्थात् दोनों दण्ड धारण करना प्रतीत होता है किन्तु इस श्लोक के तुरन्त बाद ४६वें श्लोक में 'केशान्तिको ब्राह्मणस्य दण्डः' एक वचन निर्देश से तथा योगवासिष्ठ आदि में भी दोनों में से किसी एक दण्ड धारण के विधान से यहां विकल्प का ही ग्रहण होता है दोनों दण्डों को धारण करने का नहीं ।'

केशान्तिको ब्राह्मणस्य दण्डः कार्यः प्रमाणतः ।
ललाटसंमितो राज्ञः स्यात्तु नासान्तिको विशः ।।४६।।

केशान्तिक इति ।। केशललाटनासिकापर्यन्तपरिमाणक्रमेण ब्राह्मणादीनां दण्डाः कर्तव्याः ।।४६।।

अ०—ब्राह्मणस्य केशान्तिकः, राज्ञः ललाटसंमितः, विशः नासान्तिकः प्रमाणतः दण्डः कार्यः ।।४६।।

ब्राह्मण का दण्ड लम्बाई में केश के अन्त तक, क्षत्रिय का माथे तक तथा वैश्य का नासिका तक का होना चाहिए ।।४६।।

ऋजवस्ते तु सर्वे स्युरव्रणाः सौम्यदर्शनाः ।
अनुद्वेगकरा नृणां सत्वचोऽनग्निदूषिताः ।।४७।।

ऋजव इति ।। ते दण्डा अव्रणा अक्षताः शोभनदर्शनाः सवल्कला अग्निदाहरहिता भवेयुः ।।४७।।

अ०—ते सर्वे (दण्डाः) तु ऋजवः, अव्रणाः, सौम्यदर्शनाः नृणाम् अनुद्वेगकराः, सत्वचः अनग्निदूषिताः स्युः ।।४७।।

वे सभी (दण्ड) सीधे छिद्र रहित, सुन्दर, मनुष्यों को उद्वेजित न करने वाले, छाल सहित तथा अग्नि से न जले हुए होने चाहिएं ।।४७।।

न च तैः प्राणिजातमुद्वेजनीयमित्याह—

प्रतिगृह्येप्सितं दण्डमुपस्थाय च भास्करम् ।
प्रदक्षिणं परीत्याग्निं चरेद्भैक्षं यथाविधि ॥४८॥

प्रतिगृह्येप्सितमिति ॥ उक्तलक्षणं प्राप्तुमिष्टं दण्डं गृहीत्वा आदित्याभिमुखं स्थित्वाऽग्निं प्रदक्षिणीकृत्य यथाविधि भैक्षं याचेत् ॥४८॥

अ०—ईप्सितं दण्डं प्रतिगृह्य, भास्करं च उपस्थाय, अग्निं प्रदक्षिणं परीत्य, यथाविधि भैक्षं चरेत् ॥४८॥

(ब्रह्मचारी) अभीष्ट दण्ड धारण करके, सूर्य पूजन करके, अग्नि की परिक्रमा करके शास्त्रोक्त विधि से भिक्षाटन करे ॥४८॥

भवत्पूर्वं चरेद्भैक्षमुपनीतो द्विजोत्तमः ।
भवन्मध्यं तु राजन्यो वैश्यस्तु भवदुत्तरम् ॥४९॥

भवदिति ॥ ब्राह्मणो 'भवति भिक्षां देहि' इति भवच्छब्दपूर्वं भिक्षां याचन् वाक्यमुच्चारयेत् । क्षत्रियो 'भिक्षां भवति देहि' इति भवन्मध्यम् । वैश्यो 'भिक्षां देहि भवति' इति भवदुत्तरम् ॥४९॥

अ०—उपनीतः द्विजोत्तमः भवत्पूर्वं राजन्यः भवन्मध्यं वैश्यस्तु भवदुत्तरं भैक्षं चरेत् ॥४९॥

जिसका उपनयन संस्कार हो चुका है ऐसा ब्राह्मण 'भवत्' पहले कहकर भिक्षाटन करे, क्षत्रिय 'भवत्' मध्य में कहते हुए तथा वैश्य 'भवत्' अन्त में कहते हुए भिक्षाटन करे। अर्थात् ब्राह्मण—'भवति भिक्षां देहि' क्षत्रिय—'भिक्षां भवति देहि' तथा वैश्य 'भिक्षां देहि भवति' इस प्रकार कह कर भिक्षा मांगे। ॥४९॥

मातरं वा स्वसारं वा मातुर्वा भगिनीं निजाम् ।
भिक्षेत भिक्षां प्रथमं या चैनं नावमानयेत् ॥५०॥

मातरं वेति ॥ उपनयनाङ्गभूतां भिक्षां प्रथमं मातरं भगिनीं वा मातुर्वा भगिनीं सहोदरां याचेत् । या चैनं ब्रह्मचारिणं प्रत्याख्यानेन नावमन्येत । पूर्वासंभव उत्तरापरिग्रहः ॥५०॥

अ०—प्रथमं मातरं वा स्वसारं वा मातुः निजां भगिनीं वा या च एनं नावमानयेत् (तां) भिक्षां भिक्षेत ॥५०॥

यह (ब्रह्मचारी) पहली भिक्षा माँ, बहन अथवा अपनी माँ की बहन (मौसी) या फिर उस स्त्री से माँगे जो इसका अपमान न करे। ॥५०॥

समाहृत्य तु तद्भैक्षं यावदन्नममायया ।
निवेद्य गुरवेऽश्नीयादाचम्य प्राङ्मुखः शुचिः ॥५१॥

समाहृत्येति ॥ तद्भैक्ष्यं बहुभ्य आहृत्य यावदन्नं तृप्तिमात्रोचितं गुरवे निवेद्य

निवेदनं कृत्वा अमायया न कदन्नेन सदन्नं प्रच्छाद्यैवमेतद्गुरुर्ग्रहीष्यतीत्यादि-मायाव्यतिरेकेण तदनुज्ञात आचमनं कृत्वा शुचिः सन् प्राङ्मुखो भुञ्जीत ॥५१॥

अ०—तद् भैक्षं तु समाहृत्य यावदन्नम् अमायया गुरवे निवेद्य आचम्य शुचिः प्राङ्मुखः अश्नीयात् । ॥५१॥

(ब्रह्मचारी) आवश्यकतानुसार भिक्षा में लाए गए अन्न को विना छल-कपट के गुरु को देकर आचमन कर के शुद्ध होते हुए, पूर्व की ओर मुख करके भोजन करे । ॥५१॥

इदानीं काम्यभोजनमाह—

आयुष्यं प्राङ्मुखो भुङ्क्ते यशस्यं दक्षिणामुखः ।
श्रियं प्रत्यङ्मुखो भुङ्क्ते ऋतं भुङ्क्ते ह्युदङ्मुखः ॥५२॥

आयुष्यमिति ॥ आयुषे हितमन्नं प्राङ्मुखो भुङ्क्ते । आयुःकामः प्राङ्मुखो भुङ्क्त इत्यर्थः । यशसे हितं दक्षिणामुखः । श्रियमिच्छन्प्रत्यङ्मुखः । ऋतं सत्यं तत्फलमिच्छन्नुदङ्मुखो भुञ्जीत ॥५२॥

अ०—आयुष्यं प्राङ्मुखो भुङ्क्ते यशस्यं दक्षिणामुखः, श्रियं प्रत्यङ्मुखो भुङ्क्ते ऋतं हि उदङ्मुखः भुङ्क्ते । ॥५२॥

आयुप्रद भोजन पूर्व की ओर अभिमुख होकर, यशस्कारी भोजन दक्षिण की ओर अभिमुख होकर, धनप्रद भोजन पश्चिम की ओर अभिमुख होकर तथा सत्य-कारी भोजन उत्तर की ओर अभिमुख होकर खाता है अर्थात् उद्देश्यानुसार आयु, यश, धन तथा सत्य की कामना से क्रमशः पूर्व दक्षिण, पश्चिम, उत्तर, दिशा की ओर अभिमुख होकर भोजन करे । ॥५२॥

उपस्पृश्य द्विजो नित्यमन्नमद्यात्समाहितः ।
भुक्त्वा चोपस्पृशेत्सम्यगद्भिः खानि च संस्पृशेत् ॥५३॥

उपस्पृश्येति ॥ 'निवेद्य गुरवेऽश्नीयादाचम्य' (२।५१) इति यद्यपि भोजनात्प्रागाचमनं विहितं तथापि अद्भिः खानि च संस्पृशेत्' इति गुणविधानार्थोऽनुवादः । नित्यं ब्रह्मचर्यानन्तरमपि द्विज आचम्यान्नं भुञ्जीत । समाहितोऽनन्यमनाः भुक्त्वा चाचामेदिति । सम्यग्यथाशास्त्रम् । तेन 'प्रक्षाल्य हस्तौ पादौ च त्रिः पिबेदम्बु वीक्षितम्' इत्यादि दक्षाद्युक्तमपि संगृह्णाति । जलेन खानीन्द्रियाणि षट् छिद्राणि च स्पृशेत्, तानि च शिरःस्थानि घ्राणचक्षुःश्रोत्रादीनि ग्रहीतव्यानि । 'खानि चोपस्पृशेच्छीर्षण्यानि' इति गोतमवचनात् । उपस्पर्शनं कृत्वा खानि संस्पृशेदिति पृथग्विधानात्त्रिरब्भक्षणमात्रमाचमनम्, खस्पर्शनादिकमितिकर्तव्यतेति दर्शितम् ॥५३॥

अ०—द्विजः नित्यम् उपस्पृश्य समाहितः अन्नम् अद्यात् भुक्त्वा च सम्यक्

अद्भिः उपस्पृशेत् खानि च संस्पृशेत् ।।५३।।

द्विजन्मा हमेशा ही आचमन करके एकाग्रता से भक्षणीय अन्न खाये तथा खा कर ठीक प्रकार से आचमन करे तथा जल से छिद्रों (आँख, नाक तथा कान,) को स्पर्श करे ।।५३।।

ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य न केवल ब्रह्मचर्य आश्रम में अपितु उसके बाद भी हमेशा ही भोजन से पूर्व कुल्ला करें तथा भोजन के बाद कुल्ला करें तथा आँख नाक तथा कान का जल से स्पर्श करें।

पूजयेदशनं नित्यमद्याच्चैतदकुत्सयन्।
दृष्ट्वा हृष्येत् प्रसीदेच्च प्रतिनन्देच्च सर्वशः ।।५४।।

कुल्लू०—सर्वदाऽन्नं पूजयेत् प्राणार्थत्वेन ध्यायेत्। तदुक्तमादिपुराणे—अन्नं विष्णुः स्वयं प्राह इत्यनुवृतौ 'प्राणार्थं मां सदा ध्यायेत्स मां संपूजयेत् सदा। अनिन्दंश्चैतदद्यात्तु दृष्ट्वा हृष्येत् प्रसीदेच्चेति ।। हेत्वन्तरजमपि खेदमन्नदर्शनेन त्यजेत् प्रतिनन्देत्। नित्यमस्माकमेतदस्त्वित्यभिधाय वन्दनं प्रतिनन्दनम्। तदुक्तमादि पुराणे—अन्नंदृष्ट्वा प्रणम्यादौ प्राञ्जलिः कथयेत्ततः। अस्माकं नित्यमस्त्वेतदिति भक्तया स्तुवन्नमेत् ।।" सर्वशः सर्वमन्नम्। ।।५४।।

अ०—अशनं नित्यं पूजयेत् एतत च अकुत्सयन् अद्यात् दृष्ट्वा हृष्येत् च प्रसीदेत् च सर्वशः प्रतिनन्देत् ।।५४।।

(द्विजन्मा) अन्न का सदा आदर करे और इसकी निन्दा न करते हुए खाए तथा (इसको) देख कर प्रसन्न हो तथा सब प्रकार से (इसकी) स्तुति करे। ।।५४।।

पूजितं ह्यशनं नित्यं बलमूर्जं च यच्छति।
अपूजितं तद्भुक्तमुभयं नाशयेदिदम् ।।५५।।

कुल्लू०—पूजितमिति ।। यस्मात्पूजितमन्नं सामर्थ्यं वीर्यं च ददाति, अपूजितं पुनरेतदुभयं नाशयति; तस्मात्सर्वथाऽन्नं पूजयेदिति पूर्वेणैकवाक्यतापन्नमिदं फलश्रवणम्। संध्यावन्दनादावुपात्तदुरितक्षयवन्नित्यं कामनाविषयत्वेनापि नित्यश्रुतिरविहता नित्यश्रुतिविरोधात्। फलश्रवणं स्तुत्यर्थमिति तु मेधातिथिगोविन्दराजौ ।।५५।।

अ०—पूजितम् अशनं नित्यं वलम् उर्जा च यच्छति, अपूजितं तु तद् भुक्तम् उभयम् इदं नाशयेत्। ।।५५।।

पूजित अन्न सदा ही वल तथा उर्जादायक होता है तथा तिरस्कृत खाया हुआ अन्न) इन दोनों का नाश करता है ।।५५।।

नोच्छिष्टं कस्यचिद् दद्यान्नाद्याच्चैव तथान्तरा।
न चैवात्यशनं कर्यान्न चोच्छिष्टः क्वचिद् व्रजेत् ।।५६।।

कु०—नोच्छिष्टमिति ।। भुक्तावशेषं कस्यचिन्न दद्यात्। चतुर्थ्यां प्राप्तायां संबन्धमात्रविवक्षया षष्ठी। अनेनैव सामान्यनिषेधेन शूद्रस्याप्युच्छिष्टदाननिषेधे सिद्धे 'नोच्छिष्टं न हविष्कृतम्' इति शूद्रगोचर निषेधश्चातुर्थस्नातक व्रतत्वार्थः। दिवासायंभोजनयोश्च मध्ये नं भुञ्जीत, वारद्वयेऽप्यतिभोजनं न कुर्यात्। नातिसौहित्यमाचरेदिति चातुर्थस्नातकव्रतार्थम्। उच्छिष्टः सन् क्वचिन्न गच्छेत् ।।५६।।

अ०—कस्यचित् उच्छिष्टं न दद्यात्, तथा अन्तरा एव च न अद्यात्, अत्यशनं च नैव कुर्यात्, उच्छिष्टश्च न क्वचिद् व्रजेत् ।।५६।।

किसी को जूठा (भोजन) न दे एवं बीच में (सायं: प्रातः भोजन के बीच में) न खाए और अधिक भोजन भी न करे एवं जूठे मुंह कहीं न जाए। ।।५६।।
अति भोजने दोषमाह—

अनारोग्यमनायुष्यमस्वर्ग्यं चातिभोजनम्।
अपुण्यं लोकविद्विष्टं तस्मात्तत्परिवर्जयेत् ।।५७।।

अनारोग्यमिति। अरोगो रोगाभावः, तस्मै हितमारोग्यम्, आयुषे हितमायुष्यम्। यस्मादतिभोजनमनारोग्यमनायुष्य च भवति, अजीर्णजनकत्वेन रोगमरणहेतुत्वात्। अस्वर्ग्य च स्वर्गहेतुयागादिविरोधित्वात्। अपुण्यमितरपुण्यप्रतिपक्षत्वात्। लोकविद्विष्टं बहुभोजितया लोकैर्निन्दनात् तस्मात्तन्न कुर्यात् ।।५७।।

अ०—अतिभोजनम् अनारोग्यम् अनायुष्यम् अस्वर्ग्यम् अपुण्यं लोक विद्विष्टं तस्मात् तत् परिवर्जयेत्। ।।५७।।

(आवश्यकता से) अधिक भोजन रोगदायक, आयुनाशक, स्वर्ग प्राप्ति में अहितकर, पुण्यनाशक तथा समाज में निन्दाकारक है; इस लिए इसका परित्याग करना चाहिए। ।।५७।।

अतिभोजन—यदि उदर चार भागों में बाँटा जाए तो दो भागों को ही अन्न से तथा एक भाग को जल से भरना चाहिए इससे अधिक भोजन करना अति भोजन कहलाएगा।

ब्राह्मेण विप्रस्तीर्थेन नित्यकालमुपस्पृशेत्।
कायत्रैदशिकाभ्यां वा, न पित्र्येण कदाचन ।।५८।।

ब्राह्मेणेति। ब्राह्मादिसंज्ञेयं शास्त्रे संव्यवहारार्था स्तुत्यर्था च। न तु मुख्यं ब्रह्मदेवताकत्वं संभवत्ययागरूपत्वात्। तीर्थशब्दोऽपि पावनगुणयोगाद् ब्राह्मेण तीर्थेन सर्वदा विप्रादिराचामेत् कः प्रजापतिस्तदीयस्तयेदमित्यण्, इकारश्चान्तादेशः। त्रैदशिको देवस्ताभ्यां वा पित्र्येण तु तीर्थेन न कदाचिदाचामेदप्रसिद्धत्वात् ।।५८।।

अ०—विप्रः ब्राह्मेण तीर्थेन कायत्रैदशिकाभ्यां वा नित्यकालम् उपस्पृशेत्

पित्र्येण कदाचन न (उपस्पृशेत्) ॥५८॥

ब्रह्मण ब्राह्मतीर्थ से अथवा प्राजापत्य या दैव तीर्थ से नित्य आचमन करे पित्र्यतीर्थ से कभी भी नहीं (आचमन करे) ॥५८॥

"भोजन से पूर्व तथा पश्चात् आचमन करना चाहिए" मनु० (२।५३) यहाँ उसी आचमन की विधि बताई जा रही है।

विप्रः—ब्राह्मण

सर्वज्ञः—विप्र यह प्रधानता से कहा गया क्योंकि वैश्य एवं शूद्र के भी आचमन का विधान है—"विप्र इति प्राधान्यादुक्तं शूद्रवैश्ययोरप्याचमत विधिः"

ब्राह्मादितीर्थान्याह—

अङ्गुष्ठमूलस्य तले ब्राह्मं तीर्थं प्रचक्षते।
कायमङ्गुलिमूलेऽग्रे दैवं पित्र्यं तयोरधः ॥५९॥

अङ्गुष्ठमूलस्येति ॥ अङ्गुष्ठमूलस्याधोभागे ब्राह्मं, कनिष्ठाङ्गुलिमूले कायम्, अङ्गुलीनामग्रे दैवं, अङ्गुष्ठप्रदेशिन्योर्मध्ये पित्र्यं तीर्थं मन्वादय आहुः। यद्यपि कायमङ्गुलिमूले, तयोरध इत्यत्र चाङ्गुलिमात्रं श्रुतं तथापि स्मृत्यन्तराद्विशेषपरिग्रहः। तथा च याज्ञवल्क्यः (२।१९)—'कनिष्ठादेशिन्यङ्गुष्ठमूलान्यग्रं करस्य च। प्रजापतिपितृब्रह्मदेवतीर्थान्यनुक्रमात्' ॥५९॥

अ०—अंगुष्ठमूलस्य तले ब्राह्मम्, अङ्गुलिमूले कायम्, अग्रे दैवं, तयोः अधः पित्र्यं प्रचक्षते ॥५९॥

अंगूठे के मूल के नीचे ब्राह्म, अंगुलियों के मूल में काय या प्राजापत्य तथा अग्रभागों में दैव एवं उन दोनों (अंगूठे तथा तर्जनी) के (बीच के) नीचे पित्र्य (तीर्थ) कहा जाता है ॥५९॥

अङ्गुलिमूले

कुल्लू—यद्यपि यहां अङ्गुलि मात्र का निचला हिस्सा कहा गया है तथापि अन्यस्मृति ग्रन्थों के अनुसार 'काय तीर्थ' कनिष्ठिका अङ्गुली के नीचे वाले भाग को ही कहा जाता है, अतः यहां भी अंगुली मूल से कनिष्ठिका मूल का तात्पर्य है।

सामान्येनोपदिष्टस्याचमनस्यानुष्ठानक्रममाह—

त्रिराचामेदपः पूर्वं द्विः प्रमृज्यात्ततो मुखम्।
खानि चैव स्पृशेदद्भिरात्मानं शिर एव च ॥६०॥

त्रिराचामेदिति ॥ पूर्वं ब्राह्मादितीर्थेन जलगण्डूषत्रयं पिबेत्। अनन्तरं संवृत्यौष्ठाधरौ वारद्वयमङ्गुष्ठमूलेन संमृज्यात्। 'संवृत्याङ्गुष्ठमूलेन द्विः प्रमृज्यात्ततो मुखम्' इति दक्षेण विशेषाभिधानात्। खानि चेन्द्रियाणि जलेन स्पृशेत्। मुख्यस्य सन्निधानान्मुखस्थान्येव। गौतमोऽप्याह—'खानि चोपस्पृशेच्छीर्षण्यानि', हृदन्त-

ज्योतिः पुरुषः' (बृह०४।३।७) इत्युपनिषत्सु हृदयदेशत्वेनात्मनः श्रवणादात्मानं हृदयं शिरश्चाद्भिरेव स्पृशेत् ॥६०॥

अ०—पूर्वम् अपः त्रिः आचामेत् ततः मुखं द्विः प्रमृज्यात् अद्भिः एव खानि च आत्मानं शिरः एव च स्पृशेत् ॥६०॥

पहले जल से तीन बार आचमन करें फिर मुख को (होठों को) दो बार धोए और जल से ही छिद्रों (नाक, कान, आंख) को तथा आत्मा को (आत्मा के निवास स्थान हृदय को) एवं सिर को स्पर्श करे ॥६०॥

अनुष्णाभिरफेनाभिरद्भिस्तीर्थेन धर्मवित् ।
शौचेप्सुः सर्वदाचामेदेकान्ते प्रागुदङ्मुखः ॥६१॥

अनुष्णाभिरीति ॥ अनुष्णीकृताभिः फेनवर्जिताभिर्ब्राह्मादितीर्थेन शौचमिच्छन्नेकान्ते जनैरनाकीर्णे शुचिदेश इत्यर्थः । प्राङ्मुख उदङ्मुखो वा सर्वदाचामेत् । आपस्तम्बेन 'तप्ताभिश्च कारणात्' इत्यभिधानाद्व्याध्यादिकारणव्यतिरेकेण नाचामेत् । व्याध्यादौ तु उष्णीकृताभिरप्याचमने दोषाभावः तीर्थव्यतिरेकेणाचमने शौचाभाव इति दर्शयितुमुक्तस्यापि तीर्थस्य पुनर्वचनम् ॥६१॥

अ०—धर्मवित् शौचेप्सुः एकान्ते प्रागुदङ्मुखः अनुष्णाभिः अफेनाभिः अद्भिः तीर्थेन सर्वदा आचामेत् ॥६१॥

पवित्रता का इच्छुक धर्मज्ञ एकान्त में पूर्व या उत्तर की ओर अभिमुख होकर अतप्त तथा झाग रहित जल से तीर्थ (बताए गए तीर्थ) से हमेशा आचमन करे ॥६१॥

आचमनजलपरिमाणमाह—

हृद्गाभिः पूयते विप्रः कण्ठगाभिस्तु भूमिपः ।
वैश्योऽद्भिः प्राशिताभिस्तु शूद्रः स्पृष्टाभिरन्ततः ॥६२॥

हृद्गाभिरिति ॥ ब्राह्मणो हृदयगामिनीभिः, क्षत्रियः कण्ठगामिनीभिः, वैश्योऽन्तरास्यप्रविष्टाभिः कण्ठमप्राप्ताभिरपि, शूद्रो जिह्वौष्ठान्तेनापि स्पृष्टाभिरद्भिः पूतो भवति । अन्तत इति तृतीयार्थे तसिः ॥६२॥

अ०—विप्रः हृद्गाभिः, भूमिपः तु कण्ठगाभिः, वैश्यः प्राशिताभिः शूद्रस्तु अन्ततः स्पृष्टाभिः अद्भिः पूयते ॥६२॥

ब्राह्मण हृदय तक, क्षत्रिय कण्ठ तक, वैश्य मुख तक तथा शूद्र होठों तक स्पर्श किए गए जल से पवित्र होता है ॥६२॥

यहां कितने जल से किसको आचमन करना चाहिए उसका विधान है । ब्राह्मण को जल की इतनी मात्रा लेनी चाहिए कि उसके हृदय तक जल पहुंचे, इसीप्रकार क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र को कण्ठ, मुख तथा होंठ तक पहुंचने योग्य जल से आचमन

करना चाहिए ।

आचमनाङ्गतामुपवीतस्य दर्शयितुमुपवीतलक्षणं ततः प्रसङ्गेन प्राचीनावीती-निवीत्यादिलक्षणमाह—

उद्धृते दक्षिणे पाणावुपवीत्युच्यते द्विजः ।
सव्ये प्राचीन आवीती निवीती कण्ठसज्जने ॥६३॥

उद्धृते इति ॥ दक्षिणे पाणावुद्धृते वामस्कन्धस्थिते दक्षिणस्कन्धावलम्वे यज्ञसूत्रे वस्त्रे वोपवीती द्विजः कथ्यते । वामपाणावुद्धृते दक्षिणस्कन्धस्थिते वामस्कन्धावलम्वे प्राचीनावीती भण्यते । सव्ये प्राचीन आवीतीति छन्दोऽनुरोधादुक्तम् । तथा च गोभिलः—'दक्षिणं बाहुमुद्धृत्य शिरोऽवधाय सव्येंऽसे प्रतिष्ठापयति दक्षिणस्कन्धमवलम्बनं भवत्येवं यज्ञोपवीती भवति' । सव्यं बाहुमुद्धृत्य शिरोऽवधाय दक्षिणेंऽसे प्रतिष्ठापयति सव्यं कक्षमवलम्बनं भवत्येवं प्राचीनावीती भवति । निवीती कण्ठसज्जन इति । शिरोऽवधाय दक्षिणपाण्यादावप्यनुद्धृते कण्ठादेव सज्जने ऋजुप्रालम्वे यज्ञ सूत्रे वस्त्रे च निवीती भवति ॥६३॥

अ०—द्विजः दक्षिणे पाणौ उद्धृते उपवीती सव्ये प्राचीन आवीती कण्ठसज्जने निवीती उच्यते ॥६३॥

द्विजन्मा दायां हाथ उठाकर उपवीती या सव्य, बांया हाथ उठाकर प्राचीनावीती या अपसव्य तथा गले में (वस्त्र या यज्ञोपवीत) लटकाकर निवीती कहलाता है ॥६३॥ अर्थात् दांया हाथ उठाकर बांये कन्धे से दाहिनी कांख के नीचे करके जब वस्त्र लपेटता है अथवा यज्ञोपवीत पहनता है तो वह उपवीती या सव्य कहलाता है। बायां हाथ उठाकर दाहिने कन्धे से बांयी कांख के नीचे करके जब वस्त्र या यज्ञोपवीत पहने तो प्राचीनावीती या अपसव्य तथा जब माला की तरह लटकाए तो निवीती कहलाता है ॥६३॥

मेखलामजिनं दण्डमुपवीतं कमण्डलुम् ।
अप्सु प्रास्य विनष्टानि गृह्णीतान्यानि मन्त्रवत् ॥६४॥

मेखलामिति ॥ मेखलादीनि विनष्टानि भिन्नानि छिन्नानि च जले प्रक्षिप्यान्यानि स्वस्वगृह्योक्तामन्त्रैर्गृह्णीयात् ॥६४॥

अ०—मेखलाम् अजिनं दण्डम् उपवीतं कमण्डलुम् एतानि विनिष्टानि अप्सु प्रास्य अन्यानि मन्त्रवत् गृह्णीत ॥६४॥

(द्विज) मेखला, चर्म दण्ड, जनेऊ, कमण्डल इनके नष्ट होने पर जल में वहाकर दूसरे नए मन्त्रोच्चारण करके ग्रहण करे ॥६४॥

केशान्तः षोडशे वर्षे ब्राह्मणस्य विधीयते ।
राजन्यबन्धोर्द्वाविंशे वैश्यस्य द्व्यधिके ततः ॥६५॥

केशान्त इति ।। केशान्ताख्यो गृह्योक्तसंस्कारो **'गर्भादिसंख्या वर्षाणाम्'** इति बौधायनवचनाद्‌गर्भषोडशे वर्षे ब्राह्मणस्य, क्षत्रियस्य गर्भद्वाविंशे, वैश्यस्य ततो द्व्यधिके गर्भचतुर्विंशे कर्तव्यः ।।६५।।

अ०—केशान्तः ब्राह्मणस्य षोडशे वर्षे राजन्यबन्धोः द्वाविंशे वैश्यस्य ततो द्व्यधिके विधीयते ।।६५।।

ब्राह्मण का सोलह वर्ष में, क्षत्रिय का बाईसवें तथा वैश्य का उससे दो अधिक अर्थात् चौबीसवें वर्ष में केशान्त संस्कार किया जाता है ।।६५।।

कुल्लू०—के अनुसार उपरोक्त संस्कार की कही गई आयु गर्भ से लेकर समझनी चाहिए किन्तु नन्दन ने जन्म से उपरोक्त आयु मानी है—षोडशे जन्मने आरभ्य ।

केशान्त संस्कार को ही गोदान कर्म भी कहा जाता है । इस संस्कार में सर्वज्ञ के अनुसार सभी अर्थात् दाढ़ी, मूंछ, कांख आदि के केश काटे जाते हैं—'सर्वान् केशान् वापयन्त इति तथा मणि० के अनुसार दाढ़ी बनवाने का संस्कार ही केशान्त संस्कार है—'श्मश्रुकर्मरूपं केशान्तसंस्कारम्' ।।६५।।

अमन्त्रिका तु कार्येयं स्त्रीणामावृदशेषतः ।
संस्कारार्थं शरीरस्य यथाकालं यथाक्रमम् ।।६६।।

अमन्त्रिकेति ।। इयमावृदयं जातकर्मादिक्रियाकलापः समग्र उक्तकालक्रमेण शरीरसंस्कारार्थं स्त्रीणाममन्त्रकः कार्यः ।।६६।।

अ०—इयम् आवृत् स्त्रीणान्तु अशेषतः यथाकालं यथाक्रमं शरीरस्य संस्कारार्थम् अमन्त्रिका कार्या ।।६६।।

ये सभी संस्कार स्त्रियों के कहे गए समयानुसार तथा क्रम से शरीर की शुद्धि के लिए बिना वैदिक मन्त्रों से करने चाहिएं ।।६६।।

अनेनोपनयनेऽपि प्राप्ते विशेषमाह—

वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारो वैदिकः स्मृतः ।
पतिसेवा गुरौ वासो गृहार्थोऽग्निपरिक्रिया ।।६७।।

वैवाहिक इति ।। विवाहविधिरेव स्त्रीणां वैदिकः संस्कार उपनयनाख्यो मन्वादिभिः स्मृतः । पतिसेवैव गुरुकुले वासो वेदाध्ययनरूपः । गृहकृत्यमेव सायंप्रातः समिद्धोमरूपोऽग्निपरिचर्या । तस्माद्विवाहादेरुपनयनस्थाने विधानादुपनयनादेर्निवृत्तिरिति ।।६७।।

अ०—(मनुना) स्त्रीणां वैवाहिकः विधिः वैदिकः संस्कारः स्मृतः गुरौ वासः पति सेवा, अग्नि परिक्रिया गृहार्थः स्मृतः ।।६७।।

(मनु के द्वारा) स्त्रियों की विवाह सम्बन्धी विधि (ही) वैदिक संस्कार कही

गई है पति की सेवा गुरुकुल में रहना तथा घर के कार्य करना ही होम करना माना गया है ।६७।।

एष प्राक्तो द्विजातीनामौपनायनिको विधिः ।
उत्पत्तिव्यञ्जकः पुण्यः, कर्मयोगं निबोधत ।।६८।।

एष इति ।। औपनायनिक इत्यनुशतिकादित्वादुभयपदवृद्धिः । अयं द्विजातीनामुपनयनसंवन्धी कर्मकलाप उक्तः उत्पत्तेर्द्वितीयजन्मनो व्यञ्जकः ।।६८।।

अ०—द्विजातीनाम् एषः उत्पत्ति व्यञ्जकः पुण्यः औपनायनिकः विधिः प्रोक्तः कर्मयोगं निबोधत ।।६८।।

(मनु के द्वारा) द्विजों की यह (दूसरे) जन्म को दर्शाने वाली पुण्यकारी उपनयन सम्बन्धी विधि कही गई, (अब उपनीत द्विजों के) कर्तव्यों को जानो ।।६८।।

उपनयन संस्कार ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य का दूसरा जन्म कहा जाता है, इसी संस्कार के कारण ये द्विज कहलाते हैं ।

इदानीमुपनीतस्य येन कर्मणा योगस्तं शृणुतेत्याह—

उपनीय गुरुः शिष्यं शिक्षयेच्छौचमादितः ।
आचारमग्निकार्यं च संध्योपासनमेव च ।।६९।।

उपनीय गुरुरिति ।। गुरुः शिष्यमुपनीय प्रथमं 'एका लिङ्गे गुदे तिस्रः' (५।१३६) इत्यादि वक्ष्यमाणे शौचं स्नानाचमनाद्याचारमग्नौ सायंप्रातः समिद्धोमानुष्ठानं समन्त्रकसंध्योपासनविधिं च शिक्षयेत् ।।६९।।

अ०—गुरुः शिष्यम् उपनीय आदितः शौचम् आचारम् अग्निकार्यञ्च सन्ध्योपासनम् एव च शिक्षयेत् ।।६९।।

गुरु शिष्य का उपनयन कराके पवित्रता की विधि, सदाचार, होम तथा संध्या एवं उपासना सिखाए ।।६९।।

अध्येष्यमाणस्त्वाचान्तो यथाशास्त्रमुदङ्मुखः ।
ब्रह्माञ्जलिकृतोऽध्याप्यो लघुवासा जितेन्द्रियः ।।७०।।

अध्येष्यमाण इति ।। अध्ययनं करिष्यमाणः शिष्यो यथाशास्त्रं कृताचमन उत्तराभिमुखः कृताञ्जलिः पवित्रवस्त्रः कृतेन्द्रियसंयमो गुरुणाऽध्याप्यः । प्राङ्मुखो दक्षिणतः शिष्य उदङ्मुखो वा' इति गौतमवचनात्प्राङ्मुखस्याप्यध्ययनम् । ब्रह्माञ्जलिकृत इति 'वाहिताग्न्यादिषु' (पा. २।२।३७) इत्यनेन 'कृत' शब्दस्य परनिपातः ।।७०।।

अ०—अध्येष्यमाणः यथाशास्त्रम् आचान्तः उदङ्मुखः ब्रह्माञ्जलिकृतः लघुवासा जितेन्द्रियः अध्याप्यः ।।७०।।

अध्ययन के इच्छुक, शास्त्र में कही गई विधि से आचमन किए गए, उत्तरा-

भिमुख, ब्रह्माञ्जलि लगाए हुए, कम वस्त्र पहने हुए तथा इन्द्रियों को वश में किए हुए (शिष्य) को पढ़ाना चाहिए ॥७०॥

ब्रह्मारम्भेऽवसाने च पादौ ग्राह्यौ गुरोः सदा ।
संहत्य हस्तावध्येयं स हि ब्रह्माञ्जलिः स्मृतः ॥७१॥

ब्रह्मारम्भेऽवसाने चेति ।। वेदाध्ययनस्यारम्भे कर्तव्ये समापने च कृते गुरो पादोपसंग्रहणं कर्तव्यम् । हस्तौ संहत्य संश्लिष्टौ कृत्वाऽध्येतव्यम् । 'स हि ब्रह्माञ्जलिः स्मृतः' इति पूर्वश्लोकोक्तः 'ब्रह्माञ्जलि' शब्दार्थव्याकारः ॥७१॥

अ०—ब्रह्मारम्भे अवसाने च गुरोः पादौ सदा ग्राह्यौ, हस्तौ संहत्य अध्येयम् स हि ब्रह्माञ्जलिः स्मृतः ।७१॥

वेदाध्ययन के पहले तथा बाद में गुरु के पैर छूने चाहिए तथा हाथ बांधकर अध्ययन करना चाहिए, यही ब्रह्माञ्जलि कही गई है ।

व्यत्यस्तपाणिना कार्यमुपसंग्रहणं गुरोः ।
सव्येन सव्यः स्प्रष्टव्यो दक्षिणेन च दक्षिणः ॥७२॥

व्यत्यस्तपाणिनेति ॥ पादोपसंग्रहणं कार्यमित्यनन्तरमुक्तं तद्व्यत्यस्तपाणिना कार्यमिति विधीयते । कीदृशो व्यत्यासः कार्य इत्यत आह—सव्येन पाणिना सव्यः पादो दक्षिणेन पाणिना दक्षिणः पादो गुरोः स्प्रष्टव्यः । उत्तानहस्ताभ्यां चेदं पादयोः स्पर्शनं कार्यम् । यदाह पैठीनसिः—'उत्तानाभ्यां हस्ताभ्यां दक्षिणेन दक्षिणं सव्यं सव्येन पादावभिवादयेत् । दक्षिणोपरिभावेन व्यत्यासो वायं शिष्टसमाचारात्' ॥७२॥

अ०—व्यत्यस्तपाणिना गुरोः उपसङ्ग्रहणं कार्यं सव्येन सव्यः दक्षिणेन दक्षिणः च स्प्रष्टव्यः ॥७२॥

एक दूसरे को काटते हुए हाथों से गुरु के बांए पैर को बांए तथा दाहिने पैर को दाहिने हाथ से छूना चाहिए ॥७२॥

प्रणाम करते समय हाथ गुणा के चिह्न (×) की तरह होने चाहिएं तथा दाहिने हाथ को ऊपर तथा वाम हस्त को नीचे रखना चाहिए ।

अध्येष्यमाणं तु गुरुर्नित्यकालमतन्द्रितः ।
अधीष्व भो इति ब्रूयाद्विरामोऽस्त्विति चारमेत् ॥७३॥

अध्येष्यमाणमिति ॥ अध्ययनं करिष्यमाणं शिष्यं सर्वदा अनलसो गुरुः 'अधीष्व भोः' इति प्रथमं वदेत् । शेषे 'विरामोऽस्तु' इत्यभिधाय विरमेन्निवर्तेत ॥७३॥

अ०—अतन्द्रितः गुरुः तु नित्यकालम् अध्येषमाणं 'भो अधीष्व' इति ब्रूयात् 'विरामः अस्तु' इति च आरमेत् ॥७३॥

आलस्यहीन गुरु हमेशा ही अध्ययन के इच्छुक (शिष्य) को 'पढ़ो' ऐसे बोले तथा 'अब विराम हो' ऐसा कहकर (पाठ) समाप्त करे ।।७३।।

ब्रह्मण: प्रणवं कुर्यादादावन्ते च सर्वदा ।
स्रवत्यनोङ्कृतं पूर्वं पुरस्ताच्च विशीर्यति ।।७४।।

ब्रह्मण: प्रणवमिति ।। ब्रह्मणो वेदस्याध्ययनारम्भे अध्ययनसमाप्तौ चोङ्कारं कुर्यात् । यस्मात्पूर्वं यस्योङ्कारो न कृतस्तत्स्रवति शनैः शनैर्नश्यति, यस्य पुरस्तान्न कृतस्तद्विशीर्यति अवस्थितिमेव न लभते ।।७४।।

अ०—ब्रह्मण: आदौ अन्तेच सर्वदा प्रणवं कुर्यात्, पूर्वम् अनोङ्कृतं स्रवति पुरस्ताच्च विशीर्यति ।।७४।।

वेद (अध्ययन) के प्रारम्भ में तथा अन्त में हमेशा 'ओम्' कहे । पूर्व में विना 'ओम्' कहे (अध्ययन करने पर प्राप्त ज्ञान) रिस जाता है तथा अन्त में (ओम् न कहने पर) नष्ट हो जाता है ।।७४।।

प्राक्कूलान्पर्युपासीन: पवित्रैश्चैव पावित: ।
प्राणायामैस्त्रिभि: पूतस्तत ओङ्कारमर्हति ।।७५।।

प्राक्कूलानिति ।। प्राक्कूलान्प्रागग्रान्दर्भानध्यासीन: पवित्रैः कुशैः करद्वयस्थैः पवित्रीकृत: 'प्राणायामास्त्रय: पञ्चदशमात्रा: (१।४९) इति गौतमस्मरणात्पञ्चदशमात्रैस्त्रिभि: प्राणायामैः प्रयत: । अकारादिलघ्वक्षरकालश्च मात्रा । ततोऽध्ययनार्थमोङ्कारमर्हति ।।७५।।

अ०—प्राक्कूलान् पर्युपासीन: पवित्रैः च एव पावित: त्रिभि: प्राणायामैः पूत: तत: ओंकारम् अर्हति ।।७५।।

(शिष्य) पूर्व की ओर अग्रभाग वाले (कुशासन) पर वैठकर और पवित्र कुशा से (कुशाओं को हाथ में रखकर अथवा हृदय से लगाकर) शुद्ध होकर तथा तीन प्राणायामों से पवित्र होकर 'ओम्' कहने का अधिकारी होता है ।।७५।।

प्राणायामैः—प्राण-'वायु' उसका आयाम अर्थात् सांस लेने, रोकने तथा छोड़ने के समय को वढ़ाना ही प्राणायाम है । तीन प्राणायाम पूरक कुम्भक तथा रेचक है । पूरक में श्वास भीतर खींची जाती है कुम्भक में रोकी जाती है तथा रेचक में वाहर की ओर छोड़ी जाती है ।

अकारं चाप्युकारं च मकारं च प्रजापति: ।
वेदत्रयान्निरदुहद्भूर्भुव: स्वरितीति च ।।७६।।

अकारं चेति ।। 'एतदक्षरमेतां च' (२।४४) इतिं वक्ष्यति तस्यायं शेष: । अकारमुकारं मकारं च प्रणवावयवभूतं ब्रह्मा वेदत्रयादृग्यजु:सामलक्षणाद्भूर्भुव: स्वरिति व्याहृतित्रयं च क्रमेण निरदुहदुद्धृतवान् ।।७६।।

अ०—प्रजापतिः अकारं च उकारं च मकारं च भूः भुवः स्वः इति च वेदत्रयाद् निरदुहत् ॥७६॥

ब्रह्मा ने अकार उकार तथा मकार एवं भूः भुवः तथा स्वः को तीन वेदों से दुहा अर्थात् ओम् अ, उ, म से निष्पन्नः होता है इन तीन वर्णों तथा भूः भुवः स्वः इन तीन व्याहृतियों को क्रमशः ऋग् यजु एवं सामवेद से सार रूप में ब्रह्मा ने दुहा ॥७६॥

त्रिभ्य एव तु वेदेभ्यः पादं पादमदूदुहत् ।
तदित्यृचोऽस्याः सावित्र्याः परमेष्ठी प्रजापतिः ॥७७॥

त्रिभ्य एवेति ॥ तथा त्रिभ्य एव वेदेभ्य ऋग्यजुःसामेभ्यः तदित्यृच इति प्रतीकेनानूदितायाः सावित्र्याः पादं पादमिति त्रीन्पादान् ब्रह्मा चकर्ष । परमे स्थाने तिष्ठतीति परमेष्ठी ॥७७॥

अ०—परमेष्ठी प्रजापतिः त्रिभ्यः एव वेदेभ्यस्तु अस्याः तदित्यृचः सावित्र्याः पादं पादम् अदूदुहत् ॥७७॥

परम स्थान में रहने वाले ब्रह्मा ने तीनों वेदों से ही 'तत्' पद से प्रारम्भ होने वाली सावित्री ऋचा के (तीन) चरणों को एक-एक करके चुना ॥७७॥

सावित्री में १. तत्सवितुर्वरेण्यम् २. भर्गोदेवस्य धीमहि ३. धियो यो नः प्रचोदयात् । ये तीन चरण हैं, जिनका क्रमशः ऋग्, यजुः तथा सामवेद से ब्रह्मा ने दोहन किया ।

यत एवमतः—

एतदक्षरमेतां च जपन्व्याहृतिपूर्विकाम् ।
संध्ययोर्वेदविद्विप्रो वेदपुण्येन युज्यते ॥७८॥

एतदक्षरमिति ॥ एतदक्षरमोङ्काररूपम्, एतां च त्रिपदां सावित्रीं व्याहृतित्रयपूर्विकां संध्याकाले जपन्वेदज्ञो विप्रादिर्वेदत्रयाध्ययनपुण्येन युक्तो भवति । अतः संध्याकाले प्रणवव्याहृतित्रयोपेतां सावित्रीं जपेदिति विधिः कल्प्यते ॥७८॥

अ०—वेदविदः विप्रः एतद् अक्षरं व्याहृतिपूर्विकाम् एतां च सन्ध्ययोः जपन् वेदपुण्येन युज्यते ॥७८॥

वेदज्ञ ब्राह्मण इस ओंकार अक्षर को व्याहृति (भूः भुवः स्वः) तथा सावित्री (तत्सवितुर्वरेण्यम्, भर्गोदेवस्य धीमहि, धियो योनः प्रचोदयात्) सहित जपता हुआ वेद के पुण्य अर्थात् वेदपाठजन्य पुण्य के सदृश पुण्य से युक्त होता है ॥७८॥

सहस्रकृत्वस्त्वभ्यस्य बहिरेतत्त्रिकं द्विजः ।
महतोऽप्येनसो मासात्त्वचेवाहिर्विमुच्यते ॥७९॥

सहस्रकृत्व इति ।। संध्यायामन्यत्र काल एतत्प्रकृतं प्रणवव्याहृतित्रय-सावित्र्यात्मकं त्रिकं ग्रामाद्वहिर्नदीतीरारण्यादौ सहस्रावृत्ति जपित्वा महतोऽपि पापात्सर्प इव कञ्चुकान्मुच्यते । तस्मात्पापक्षयार्थमिदं जपनीयमित्यप्रकरणेऽपि लाघवार्थमुक्तम् । अन्यत्रैतत्त्रयोच्चारणमपि पुनः कर्तव्यं स्यात् ।।७९।।

अ०—द्विजस्तु एतत् त्रिकं वहिः सहस्रकृत्वः अभ्यस्य महतः अपि एनसः मासात् त्वचा अहि इव विमुच्यते ।।७९।।

द्विजन्मा इस त्रिक (ओंकार, व्याहृति, सावित्री) का संध्या से अतिरिक्त समय में एक हजार बार जाप करके महापाप से भी एक महीने में केंचुली से सर्प के समान मुक्त हो जाता है ।।७९।।

ब्रह्महत्या, मद्यपान, चोरी करना, गुरु की भार्या के साथ संभोग तथा इन पापियों के साथ संसर्ग ये पांच महापाप कहे गए हैं । मनु XI ५४,

एतयर्चा विसंयुक्तः काले च क्रियया स्वया ।
ब्रह्मक्षत्रियविड्योनिर्गर्हणां याति साधुषु ।।८०।।

एतयर्चेति ।। संध्यायामन्यत्र समय ऋचैतया सावित्र्या विसयुक्तस्त्यक्त-सावित्री जपः स्वकीयया क्रियया सायंप्रातर्होमादिरूपया स्वकाले त्यक्तो ब्राह्मणः क्षत्रीयो वैश्योऽपि सज्जनेषु निन्दां गच्छति । तस्मात्स्वकाले सावित्रीजपं स्वक्रीयां च न त्यजेत् ।।८०।।

अ०—एतया ऋचा काले च स्वया क्रियया विसंयुक्तः ब्रह्मक्षत्रियविड्योनिः साधुषु निर्गर्हणां याति ।।८१।।

इस सावित्री ऋचा से तथा समयानुसार अपनी क्रिया से पतित ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य सज्जनों से समाज में निन्दा को प्राप्त करता है ।।८०।।

ओङ्कारपूर्विकास्तिस्रो महाव्याहृतयोऽव्ययाः ।
त्रिपदा चैव सावित्री विज्ञेयं ब्रह्मणो मुखम ।।८१।।

ओङ्कारपूर्विका इति ।। ओङ्कारपूर्विकास्तिस्रो व्याहृतयो भूर्भुवः स्वरित्येता अक्षरब्रह्मावाप्तिफलत्वेनाव्ययाः । त्रिपदा च सावित्री ब्रह्मणो वेदस्य मुखमाद्यम् । तत्पूर्वकवेदाध्ययनारम्भात् । अथवा ब्रह्मणः परमात्मनः प्राप्तेर्द्वारमेतत् । अध्ययन-जपादिना निष्पापस्य ब्रह्मज्ञानप्रकर्षेण मोक्षावाप्तेः ।।८१।।

अ०—ओङ्कारपूर्विकाः अव्ययाः तिस्रः महाव्याहृतयः त्रिपदा सावित्री चैव ब्रह्मणः मुखं विज्ञेयम् ।।८१।।

ओंकार है पूर्व में जिसके ऐसी अक्षय व्याहृति तथा तीन चरण वाली सावित्री को वेद का मुख जानना चाहिए ।।८१।।

अत एवाह—

योऽधीतेऽहन्यहन्येतां त्रीणि वर्षाण्यतन्द्रितः ।
स ब्रह्म परमभ्येति वायुभूतः खमूर्तिमान् ।।८२।।

योऽधीत इति ।। यः प्रत्यहमनलसः सन्सावित्रीं प्रणवव्याहृतियुक्तां वर्षत्रयमधीते स परं ब्रह्माभिमुखेन गच्छति । स वायुभूतो वायुरिव कामचारी जायते । खं ब्रह्म तदेवास्य मूर्तिरितिखमूर्तिमान् भवति शरीरस्यापि नाशाद्ब्रह्मैव संपद्यते ।।८२।।

अ०—यः अतन्द्रितः (सन्) अहनि अहनि एतान् त्रीणि वर्षाणि अधीते, सः वायुभूतः स्वमूर्तिमान् परं ब्रह्म अभ्येति । ।।८२।।

आलस्य रहित जो प्रतिदिन तीन वर्ष तक इस (ओंकार व्याहृति तथा त्रिपदा सावित्री) को जपता है, वह पवन बनकर आकाश के समान शरीर वाला होकर परब्रह्म को प्राप्त करता है । ।।८२।।

यहां यद्यपि संख्या का निर्देश नहीं है । तथापि ७९वें श्लोक में जो एक हजार जाप महापातक नाश के लिए एक महीने तक करने का विधान किया गया है, उसी एक हजार संख्या का तीन वर्ष तक अनुष्ठान समझना चाहिए ।

एकाक्षरं परं ब्रह्म प्राणायामाः परं तपः ।
सावित्र्यास्तु परं नास्ति मौनात्सत्यं विशिष्यते ।।८३।।

एकाक्षरमिति ।। एकाक्षरमोङ्कारः परं ब्रह्म, परब्रह्मावाप्तिहेतुत्वात् । ओङ्कारस्य जपेन तदर्थस्य च परब्रह्मणो भावनया तदवाप्तेः । प्राणायामाः सप्रणवसव्याहृतिसशिरस्कगायत्रीभिस्त्रिरावृत्तिभिः कृताश्चान्द्रायणादिभ्योऽपि परं तपः । प्राणायामा इति बहुवचननिर्देशात्त्रयोऽवश्यं कर्तव्या इत्युक्तम् । सावित्र्याः प्रकृष्टमन्यन्मन्त्रजातं नास्ति । मौनादपि सत्यं वाग्विशिष्यते । एषां चतुर्णां स्तुत्या चत्वार्येतान्युपासनीयानीति विधिः कल्प्यते । धरणीधरेण तु एकाक्षरपरं ब्रह्म प्राणायामपरं तपः' इति पठितं, व्याख्यातं च-एकाक्षरं परं यस्य तदेकाक्षरपरम्, एवं प्राणायामपरमिति । 'मेधातिथिप्रभृतिभिर्वृद्धैरलिखितं यतः । लिखन्पाठान्तरं तत्र स्वतन्त्रो धरणीधरः' ।।८३।।

अ०—एकाक्षरं परं ब्रह्म (अस्ति), प्राणायामाः परं तपः (अस्ति), सावित्र्यास्तु परं (किञ्चिदपि) नास्ति, मौनात् सत्यं विशिष्यते ।।८३।।

एकाक्षर 'ओम' परब्रह्म है, प्राणायाम सबसे बड़ा तप है, सावित्री से बढ़कर कुछ भी नहीं है तथा मौन से सत्य विशिष्ट है । ।।८३।।

क्षरन्ति सर्वा वैदिक्यो जुहोति-यजतिक्रियाः ।
अक्षरं त्वक्षरं ज्ञेयं ब्रह्म चैव प्रजापतिः ।।८४।।

क्षरन्तीति ।।सर्वा वेदविहिता होमयागादिरूपाः क्रियाः स्वरूपतः फलतश्च विनश्यन्ति । अक्षरं तु प्रणवरूपमक्षयं ब्रह्मप्राप्तिहेतुत्वात्फलद्वारेणाक्षरं ब्रह्मीभावस्याविनाशात् । कथमस्य ब्रह्मप्राप्तिहेतुत्वमत आह—ब्रह्म चैवेति । चशब्दो हेतौ । यस्मात्प्रजानामधिपतिर्यद्ब्रह्म तदेवायमोङ्कारः । स्वरूपतो ब्रह्मप्रतिपादकत्वेन चास्य ब्रह्मत्वम् । उभयथापि ब्रह्मत्वप्रतिपादकत्वेन वायमुपासितो जपकाले मोक्षहेतुरित्यनेन दर्शितम् ।।८४।।

अ०—सर्वाः वैदिक्यः जुहोतियजति क्रियाः क्षरन्ति, अक्षरं त्वक्षरं ज्ञेयं च ब्रह्म एव प्रजापति ।।८४।।

सभी वैदिक होम यागादि क्रियाएं नष्ट हो जाती हैं (फल देने के बाद उनका पुण्य समाप्त हो जाता है) । 'ओम्' को अविनाशी जानना चाहिए क्योंकि (यही ओम) प्रजाओं का अधिपति ब्रह्म है ।।८४।।

विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः ।
उपांशुः स्याच्छतगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः ।।८५।।

विधियज्ञादिति ।। विधिविषयो यज्ञो विधियज्ञो दर्शपौर्णमासादिस्तस्मात्प्रक्रान्तानां प्रणवादीनां जपयज्ञो दशगुणाधिकः । सोऽप्युपांशुश्चेदनुष्ठितस्तदा शतगुणाधिकः। यत्समीपस्थोऽपि परो न शृणोति तदुपांशु । मानसस्तु जपः सहस्रगुणाधिकः। यत्र जिह्वोष्ठं मनागपि न चलति स मानसः ।।८५।।

अ०—विधियज्ञात् जपयज्ञः दशभिः गुणैः विशिष्टः, उपांशु शतगुणः स्यात् मानसः साहस्रः स्मृतः ।।८५।।

विधियज्ञ से जप यज्ञ दस गुना बढ़कर, उपांशु सौ गुना तथा मानस हजार गुना कहा गया है ।

अज्ञात अर्थ का ज्ञापक वेद का भाग विधि कहलाता है, ऐसी विधि के द्वारा जिसकी कर्तव्यता का ज्ञान होता है वह यज्ञ विधि यज्ञ कहलाएगा जैसे—ज्योतिष्टोमादि । इन ज्योतिष्टोमादि विधि यज्ञों से ओंकार आदि का वाचनिक जाप दस गुना तथा जो दूसरों को न सुनाई दे ऐसा उपांशु जाप सौ गुना तथा जिसमें मुंह, जिह्वादि उच्चारण स्थानों में कोई गति न हो ऐसा मानस जाप हजार गुना महत्वपूर्ण है ।

ये पाकयज्ञाश्चत्वारो विधियज्ञसमन्विताः ।
सर्वे ते जपयज्ञस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् ।।८६।।

ये पाकयज्ञा इति ।। ब्रह्मयज्ञादन्ये ये पञ्चमहायज्ञान्तर्गता वैश्वदेवहोमबलिकर्मनित्यश्राद्धातिथिभोजनात्मकाश्चत्वारः पाकयज्ञाः विधियज्ञा दर्शपौर्णमासादयस्तैः सहिता जपयज्ञस्य षोडशीमपि कलां न प्राप्नुवन्ति । जपयज्ञस्य षोडशांशे-

नापि न समा इत्यर्थः ॥८६॥

अ०—ये विधियज्ञसमन्विताः चत्वारः पाकयज्ञाः, ते सर्वं जपयज्ञस्य षोडशीं कलां न अर्हन्ति ॥८५॥

विधियज्ञ से युक्त जो चार पाकयज्ञ (वैश्वदेव होम, बलिकर्म, तर्पण तथा अतिथि भोजन) हैं वे जपयज्ञ के सोहलवें हिस्से के महत्व के बराबर भी नहीं हैं ॥८६॥

जप्येनैव तु संसिध्येद् ब्राह्मणो नात्र संशयः।
कुर्यादन्यन्न वा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते ॥८७॥

जप्येनैवेति ।। ब्राह्मणो जप्येनैव निःसंदेहां सिद्धिं लभते मोक्षप्राप्तियोग्यो भवति। अन्यद्वैदिकं यागादिकं करोतु न करोतु वा। यस्मान्मैत्रो ब्राह्मणो ब्रह्मणः संबंधी ब्रह्मणि लीयत इत्यागमेषूच्यते । मित्रमेव मैत्रः । स्वार्थेऽण् । यागादिषु पशुबीजादि-वधान्नसर्वप्राणिप्रियता संभवति, तस्माद्यागादिना विनापि प्रणवादिजपनिष्ठो निस्तरतीति जपप्रशंसा, न तु यागादिनां निषेधस्तेषामपि शास्त्रीयत्वात् ॥८७॥

अ०—ब्राह्मणस्तु जप्येनैव संसिध्येत्, अत्र न संशयः अन्यत् कुर्यात् न वा कुर्यात् मैत्रः ब्राह्मण उच्यते ॥८७॥

अन्य क्रिया करे या नहीं करे ब्राह्मण जप के द्वारा ही सिद्धि प्राप्त करता है इसमें संशय नहीं है, क्योंकि ब्रह्म को जानने वाला सबका मित्र कहलाता है ॥८७॥

विधियज्ञादि वैदिक कार्यों में हिंसा होती है तथा ब्रह्मज्ञानी सबका मित्र होता है, अतः ब्रह्मज्ञान अर्थात् मोक्ष के इच्छुक व्यक्ति के लिए विधियज्ञ से जपयज्ञ ही श्रेष्ठ है ।

इदानीं सर्ववर्णानुष्ठेयं सकलपुरुषार्थोपयुक्तमिन्द्रियसंयममाह—

इन्द्रियाणां विचरतां विषयेष्वपहारिषु ।
संयमे यत्नमातिष्ठेद्विद्वान् यन्तेव वाजिनाम् ॥८८॥

इन्द्रियाणामिति ।। इन्द्रियाणां विषयेष्वपहरणशीलेषु वर्तमानानां क्षयित्वा-दिविषयदोषाञ्जानन् संयमे यत्नं कुर्यात्सारथिरिव रथनियुक्तानामश्वा-नाम् ॥८८॥

अ०—विद्वान् अपहारिषु विषयेषु विचरताम् इन्द्रियाणां संयमे वाजिनां यन्ता इव यत्नम् आतिष्ठेत् ॥८८॥

विद्वान व्यक्ति आकृष्ट करने वाले विषयों में (स्वभाविक) गति वाली इन्द्रियों का नियमन यत्न पूर्वक उसी प्रकार करे जैसे सारथि घोड़ों का (नियमन करता है) ॥८८॥

इन्द्रियों की गति विषयों में इसलिए है क्योंकि परमेश्वर ने इन्द्रियों को बहि-

मुखी बनाया है।

पराञ्चिखानि व्यतृणत् स्वयंभू-
स्तस्मात् पराङ्पश्यति नान्तरात्मा।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्ष-
दावृत्त चक्षुरमृतत्वमिच्छन्॥ कठो०—द्वितीय अध्याय प्रथमववली-१

एकादशेन्द्रियाण्याहुर्यानि पूर्वे मनीषिणः।
तानि सम्यक्प्रवक्ष्यामि यथावदनुपूर्वशः॥८९॥

एकादशेति॥ पूर्वपण्डिता यान्येकादशेन्द्रियाण्याहुस्तान्यर्वाचां शिक्षार्थं सर्वाणि कर्मतो नामतश्च क्रमाद्वक्ष्यामि॥८९॥

अ०—पूर्वे मनीषिणः यानि एकादश इन्द्रियाणि आहुः तानि यथावत् अनुपूर्वशः सम्यक् प्रवक्ष्यामि॥८९॥

प्राचीन विद्वानों के द्वारा जो ग्यारह इन्द्रियां कही गई हैं उन्हें (मैं मनु) ठीक प्रकार से क्रमशः कहूंगा॥८९॥

श्रोत्रं त्वक् चक्षुषी जिह्वा नासिका चैव पञ्चमी।
पायूपस्थं हस्तपादं वाक्चैव दशमी स्मृता॥९०॥

श्रोत्रमिति॥ तेष्वेकादशसु श्रोत्रादीनि दशैतानि बहिरिन्द्रियाणि नामतो निर्दिष्टानि। पायूपस्थं हस्तपादमिति 'द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाङ्गानाम्' (पा०२।४।२) इति प्राण्यङ्गद्वन्द्वत्वादेकवद्भावः॥९०॥

अ०—श्रोत्रं त्वक् चक्षुषो जिह्वा पञ्चमो नासिका चैव पायूपस्थं हस्तपादं वाक् दशमी स्मृता॥९०॥

कान, त्वचा, चक्षु, जिह्वा, पांचवीं घ्राण तथा पायु, उपस्थ, हाथ, पैर तथा दसवीं वाणी कही गई हैं॥९०॥

बुद्धीन्द्रियाणि पञ्चैषां श्रोत्रादीन्यनुपूर्वशः।
कर्मेन्द्रियाणि पञ्चैषां पाय्वादीनि प्रचक्षते॥९१॥

बुद्धीन्द्रियाणीति॥ एषां दशानां मध्ये श्रोत्रादीनि पञ्च क्रमोक्तानि बुद्धेः करणत्वाद्बुद्धीन्द्रियाणि। पाय्वादीनि चोत्सर्गादिकर्मकरणत्वात्कर्मेन्द्रियाणि तद्विदो वदन्ति॥९१॥

अ०—एषां श्रोत्रादीनि अनुपूर्वशः पञ्चबुद्धीन्द्रियाणि एषां पाय्वादीनि पञ्च-कर्मेन्द्रियाणि प्रचक्षते॥९१॥

इनमें श्रोतादि क्रमशः पांच ज्ञानेन्द्रियां तथा पायु आदि पांच कर्मेन्द्रियां कही जाती हैं॥९१॥

ज्ञानेन्द्रिय—श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, जिह्वा तथा नासिका।

कर्मेन्द्रिय—पायु, उपस्थ, हाथ, पैर तथा वाणी।

एकादशं मनो ज्ञेयं स्वगुणेनोभयात्मकम्।
यस्मिञ्जिते जितावेतौ भवतः पञ्चकौ गणौ ॥९२॥

एकादशमिति ॥ एकादशसंख्यापूरकं च मनोरूपमन्तरिन्द्रियं ज्ञातव्यम्। स्वगुणेन संकल्परूपेणोभयरूपेन्द्रियगणप्रवर्तकस्वरूपम्। अत एव यस्मिन्मनसि जिते उभावपि पञ्चकौ बुद्धीन्द्रियकर्मेन्द्रियगणौ जितौ भवतः। पञ्चकाविति 'तदस्य परिमाणम्' (पा० ५।१।५७) इत्यनुवृत्तौ 'संख्यायाः संज्ञासङ्घसूत्राध्ययनेषु' (पा० ५।१।५७) इति पञ्चसंख्यापरिमितसङ्घार्थे कः ॥९२॥

अ०—स्वगुणेन उभयात्कम् एकादशं मनः ज्ञेयम्, यस्मिन् जिते एतौ पञ्चकौ गणौ जितौ भवतः ॥९२॥

अपने गुणों के कारण उभयात्मक ग्यारहवां मन जानना चाहिए, जिसके वश में हो जाने पर पांच के दोनों समूह (ज्ञानेन्द्रियां तथा कर्मेन्द्रियां) वश में हो जाते हैं ॥९२॥

मन ज्ञानेन्द्रिय भी है तथा कर्मेन्द्रिय भी है क्योंकि चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियों एवं वागादि कर्मेन्द्रियों की अपने अपने विषयों में प्रवृत्ति मन से अधिष्ठित होने पर ही होती है—'एकादशस्विन्द्रियेषु मध्ये मन उभयात्मकम्, बुद्धीन्द्रियं कर्मेन्द्रियं च, चक्षुरादीनां वागादीनां च मनोऽधिष्ठितानामेव स्वस्वविषयेषु प्रवृत्तेः।' सां० तत्त्व कौ०-२७।

मनोधर्मसंकल्पमूलत्वादिन्द्रियाणां प्रायेण प्रवृत्तेः किमर्थमिन्द्रियनिग्रहः कर्तव्य इत्यत आह—

इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषमृच्छत्यसंशयम्।
संनियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं नियच्छति ॥९३॥

इन्द्रियाणामिति ॥ यस्मादिन्द्रियाणां विषयेषु प्रसक्त्या दृष्टादृष्टं च दोषं निःसंदेहं प्राप्नोति। तान्येव पुनरिन्द्रियाणि सम्यङ्नियम्य सिद्धिं मोक्षादि-पुरुषार्थ-योग्यतारूपां लभते। तस्मादिन्द्रियसंयमं कुर्यादिति शेषः ॥९३॥

अ०—इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन असंशयं दोषम् ऋच्छति, तान्येव सन्नियम्य तु ततः सिद्धिं नियच्छति ॥९३॥

(व्यक्ति) इन्द्रियों की उच्छृंखलता से निश्चित रूप से दोष को प्राप्त करता है तथा उन्हीं के संयमन से सिद्धि को प्राप्त करता है॥९३॥

अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकम्य, ईशत्व तथा वशित्व ये आठ सिद्धियां होती है—अणिमा, महिमा चैव गरिमा लघिमा तथा। प्राप्तिः प्राकम्यमीशित्वं वशित्वं चाष्ट सिद्धयः॥ अ० को० स्वर्ग वर्ग।

किमिन्द्रियसंयमेन विषयोपभोगादेरलब्धकामो निवर्त्स्यतीत्याशङ्क्याह—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ।।९४।।

न जात्विति ।। न कदाचित्कामोऽभिलाषः काम्यन्त इति कामा विषयास्तेषामुपभोगेन निवर्तते, किंतु घृतेनाग्निरिवाधिकाधिकतममेव वर्धते । प्राप्तभोगस्यापि प्रतिदिनं तदधिकभोगवाञ्छादर्शनात् । अत एव विष्णुपुराणे ययातिवाक्यम्—'यत्पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः । एकस्यापि न पर्याप्तं तदित्यतितृषं त्यजेत् ।।' तथा—'पूर्णं वर्षसहस्रं मे विषयासक्तचेतसः । तथाप्यनुदिनं तृष्णा यत्तेष्वेव हि जायते' ।।९४।।

अ०—कामः जातु कामानाम् उपभोगेन न शाम्यति, हविषा कृष्णवर्मा इव भूयः एव अभिवर्धते ।।९४।।

इच्छा इच्छाओं के उपभोग से शान्त नहीं होती अपितु घी से आग के समान अधिक बढ़ती ही हैं ।।९४।।

यश्चैतान्प्राप्नुयात्सर्वान् यश्चैतान्केवलांस्त्यजेत् ।
प्रापणात्सर्वकामानां परित्यागो विशिष्यते ।।९५।।

यश्चैतानिति ।। य एतान्सर्वान्विषयान्प्राप्नुयात्, यश्चैतान्कामानुपेक्षते, तयोर्विषयोपेक्षकः श्रेयान्; तस्मात्सर्वकामप्राप्तेस्तदुपेक्षा प्रशस्ता । तथा हि—विषयलोलुपस्य तत्साधनाद्युत्पादने कष्टसंभवो विपत्तौ च क्लेशातिशयो नतु विषयविरसस्य ।।९५।।

अ०—यश्च एतान् सर्वान् प्राप्नुयात्, यश्च एतान् केवलान् त्यजेत्, सर्वकामानां प्रापणात् परित्यागः विशिष्यते ।। ९५।।

जो इन सभी कामनाओं को प्राप्त करता है और जो इन (सबका) केवल परित्याग करता है, सभी कामनाओं के प्राप्त करने से परित्याग ही महत्वपूर्ण है अर्थात् सभी कामनाओं के उपभोक्ता की अपेक्षा इनका त्यक्ता ही विशिष्ट है ।।९५।।

इदानीमिन्द्रियसंयमोपायमाह—

न तथैतानि शक्यन्ते संनियन्तुमसेवया ।
विषयेषु प्रजुष्टानि यथा ज्ञानेन नित्यशः ।।९६।।

न तथेति ।। एतानीन्द्रियाणि विषयेषु प्रसक्तानि तथा नासेवया विषयसन्निधिवर्जनरूपया नियन्तुं न शक्यन्ते, दुर्निवारत्वात् । यथा सर्वदा विषयाणां क्षयित्वादिदोषज्ञानेन शरीरस्य च 'अस्थिस्थूणम्' (६।७६) इत्यादिवक्ष्यमाणदोषचिन्तनेन । तस्माद्विषय दोषज्ञ्ना दिना बहिरिन्द्रियाणि मनश्च नियच्छेत् ।।९६।।

अ०—विषयेषु प्रजुष्टानि एतानि असेवया सन्नियन्तुं तथा न शक्यन्ते यथा नित्यशः ज्ञानेन ॥९६॥

विषयों में आसक्त इन इन्द्रियों को उपभोग न करने से ठीक प्रकार से रोका उस तरह नहीं जा सकता, जिस तरह सदा रहने वाले ज्ञान से ॥९६॥

बलपूर्वक विषयों से दूर रह कर नहीं अपितु विषयों के दोषों को जान कर ज्ञानपूर्वक जितेन्द्रिय बना जा सकता है।

यस्मादनियमितं मनो विकारस्य हेतुः स्यादत आह—

वेदास्त्यागश्च यज्ञाश्च नियमाश्च तपांसि च।
न विप्रदुष्टभावस्य सिद्धिं गच्छन्ति कर्हिचित् ॥९७॥

वेदा इति ॥ वेदाध्ययनदानयज्ञनियमतपांसि भोगादिविषयसेवासंकल्पशीलिनो न कदाचित्फलसिद्धये प्रभवन्ति ॥९७॥

अ०—विप्रदुष्टभावस्य वेदाः त्यागः यज्ञाश्च नियमाश्च तपांसि च कर्हिचित् सिद्धिं न गच्छान्ति ॥९७॥

अत्यन्त दुष्ट प्रकृति वाले व्यक्ति के वेदाध्ययन, (विषयों का) त्याग, यज्ञ, नियम तथा तप कभी भी फलदायक नहीं होते हैं ॥९७॥

जितेन्द्रियस्य स्वरूपमाह—

श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च दृष्ट्वा च भुक्त्वा घ्रात्वा च यो नरः।
न हृष्यति ग्लायति वा स विज्ञेयो जितेन्द्रियः ॥९८॥

श्रुत्वेति ॥ स्तुतिवाक्यं निन्दावाक्यं च श्रुत्वा, सुखस्पर्शं दुकूलादि, दुःखस्पर्शमेवकम्बलादि स्पृष्ट्वा, सुरूपं कुरूपं च दृष्ट्वा, स्वादु अस्वादु च भुक्त्वा, सुरभिमसुरभि च घ्रात्वा, यस्य न हर्षविषादौ स जितेन्द्रियो ज्ञातव्यः ॥९८॥

अ०—यः नरः श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च दृष्ट्वा च भुक्त्वा घ्रात्वा च न हृष्यति न वा ग्लायति स जितेन्द्रियः विज्ञेयः ॥९८

जो व्यक्ति सुन कर, स्पर्श करके, देखकर, खा कर और सूंघ कर न तो प्रसन्न होता है तथा न ही दुःखी होता है, उसे जितेन्द्रिय जानना चाहिए ॥९८॥

विषयों का उपभोग न करना जितेन्द्रिय का लक्षण नहीं है अपितु उपभोग करने पर विषय में आसक्ति और घृणा न रखना ही जितेन्द्रिय का लक्षण है।

एकेन्द्रियासंयमोऽपि निवार्यत इत्याह—

इन्द्रियाणां तु सर्वेषां यद्येकं क्षरतीन्द्रियम्।
तेनास्य क्षरति प्रज्ञा दृतेःपादादिवोदकम् ॥९९॥

इन्द्रियाणां त्विति ॥ सर्वेषामिन्द्रियाणां मध्ये यद्येकमपीन्द्रियं विषयप्रवणं भवति ततोऽस्य विषयपरस्य इन्द्रियान्तरैरपि तत्त्वज्ञानं क्षरति न व्यवतिष्ठते।

चर्मनिर्मितोदकपात्रादिवैकेनापि छिद्रेण सर्वस्थानस्थमेवोदकं न व्यवतिष्ठते ॥९९॥

अ०—सर्वेषाम् इन्द्रियाणां तु यदि एकम् इन्द्रियं क्षरति, तेन अस्य दृतेः पादात् उदकम् इव प्रज्ञा क्षरति ॥९९॥

सब इन्द्रियों में से यदि एक भी इन्द्रिय (विषय की ओर) प्रवाहित होती है तो उस से बुद्धि इसी प्रकार निकल जाती है जैसे चमड़े के पात्र के खुले हुए मुंह (एक भी छिद्र) से जल बह जाता है ॥९९॥

इन्द्रियसंयमस्य सर्वपुरुषार्थहेतुतां दर्शयति—

वशे कृत्वेन्द्रियग्रामं संयम्य च मनस्तथा ।
सर्वान्संसाधयेदर्थानक्षिण्वन् योगतस्तनुम् ॥१००॥

वशे कृत्वेति ॥ बहिरिन्द्रियगणमायत्तं कृत्वा मनश्च संयम्य सर्वान्पुरुषार्थान् सम्यक्साधयेत् । योगत उपायेन स्वदेहमपीडयन्यः सहजसुखी संस्कृतान्नादिकं भुङ्क्ते स क्रमेण तं त्यजेत् ॥१००॥

अ०—योगतः तनुम् अक्षिण्वन् इन्द्रियग्रामं वशे कृत्वा तथा मनः संयम्य च सर्वान् अर्थान् संसाधयेत् ॥१००॥

शरीर को कष्ट न देते हुए, योग से इन्द्रिय के समूह को वश में कर के तथा मन का नियमन कर के सभी प्रयोजनों को (व्यक्ति) सिद्ध करे ॥१००॥

पूर्वां संध्यां जपंस्तिष्ठेत्सावित्रीमाऽर्कदर्शनात् ।
पश्चिमां तु समासीनः सम्यगृक्षविभावनात् ॥१०१॥

पूर्वां संध्यामिति ॥ पूर्वां संध्यां पश्चिमामिति च । 'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे' (पा. २।३।५) इति द्वितीया । प्रथमसंध्यां सूर्यदर्शनपर्यन्तं सावित्रीं जपंस्तिष्ठेत् । आसनादुत्थाय निवृत्तगतिरेकत्र देशे कुर्यात् । पश्चिमां तु संध्यां सावित्रीं जपन्सम्यङ्नक्षत्रदर्शनपर्यन्तमुपविष्टः स्यात् । अत्र च फलवत्त्वाज्जपः प्रधानं, स्थानासने त्वङ्गे । 'फलवत्सन्निधावफलं तदङ्गम्' इति न्यायात् । 'संध्ययोर्वेदविद्विप्रो वेदपुण्येन युज्यते' । (२।७८) 'सहस्रकृत्वस्त्वभ्यस्य' (२।७९) इति पूर्वं जपात्फलमुक्तम् । मेधातिथिस्तु स्थानासनयोरेव प्राधान्यमाह । संध्याकालश्च मुहूर्तमात्रम् । तदाह योगियाज्ञवल्क्यः—'ह्रासवृद्धी तु सततं दिवसानां यथाक्रमम् । संध्या मुहूर्तमात्रं तु ह्रासे वृद्धौ च सा स्मृता ॥१०१॥

अ०—पूर्वां संध्याम् आ अर्कदर्शनात् सावित्रीं जपन् तिष्ठेत्, पश्चिमां तु सम्यक् ऋक्षविभावनात् समासीनः तिष्ठेत् ॥१०१॥

पहली सन्ध्या के समय सूर्योदय तक सावित्री का जप करे तथा सायंकालीन सन्ध्या के समय नक्षत्रों के ठीक प्रकार से दिखाई देने तक सदा बैठकर (जप करे) ॥१०१॥

पूर्वां संध्यां जपंस्तिष्ठन्नैशमेनो व्यपोहति।
पश्चिमां तु समासीनो मलं हन्ति दिवाकृतम् ॥१०२॥

पूर्वां संध्यामिति ॥ पूर्वसंध्यायां तिष्ठन् जपं कुर्वाणो निशासंचितं पापं नाशयति। पश्चिमसंध्यायां तूपविष्टो जपं कुर्वन्दिवार्जितं पापं निहन्ति। तत्रापि जपात्फलमुक्तम्। एतच्चाज्ञानादिकृतपापविषयम्। अत एव याज्ञवल्क्यः—'दिवा वा यदि वा रात्रौ यदज्ञानकृतं भवेत्। त्रिकालसंध्याकरणात्तत्सर्वं विप्रणश्यति ॥१०२॥

अ०—पूर्वां सन्ध्यां तु जपन् तिष्ठेत् नैशम् एनः व्यपोहति, पश्चिमां तु समासीनः दिवाकृतं मलं हन्ति ॥१०२॥

(मनुष्य) पूर्व अर्थात् प्रातःकालीन संध्या के समय खड़ा होकर जपते हुए रात्रि में किए तथा सायंकालीन (सन्ध्या के समय) उचित प्रकार से बैठकर (जपते हुए) दिन में किए पाप को नष्ट करता है ॥१०२॥

प्रातः तथा सायंकालीन जप की सार्थकता यहां बताई गई है।

न तिष्ठति तु यः पूर्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमाम्।
स शूद्रवद्बहिष्कार्यः सर्वस्माद्द्विजकर्मणः ॥१०३॥

न तिष्ठतीति ॥ यः पुनः पूर्वसंध्यां नानुतिष्ठति पश्चिमां च नोपास्ते। तत्तत्कालविहितं जपादि न करोतीत्यर्थः। स शूद्र इव सर्वस्माद्द्विजातिकर्मणोऽतिथिसत्कारादेरपि बाह्यः कार्यः। अनेनैव प्रत्यवायेन संध्योपासनस्य नित्यतोक्ता। नित्यत्वेऽपि सर्वदापेक्षितपापक्षयस्य फलत्वमविरुद्धम् ॥१०३॥

अ०—यः तु पूर्वां न तिष्ठति यश्च पश्चिमां न उपासते, सः सर्वस्माद द्विजकर्मणः शूद्रवद् बहिष्कार्यः ॥१०३॥

जो (मनुष्य) प्रातः तथा सायं उपासना नहीं करता उसको सभी द्विज कर्मों से (संस्कारादि से) शूद्र के समान बहिष्कार करना चाहिए ॥१०३॥

अपां समीपे नियतो नैत्यकं विधिमास्थितः।
सावित्रीमप्यधीयीत गत्वाऽरण्यं समाहितः ॥१०४॥

अपां समीप इति ॥ ब्रह्मयज्ञरूपमिदं बहुवेदाध्ययनाशक्तौ सावित्रीमात्राध्ययनमपि विधीयते। अरण्यादिनिर्जनदेशं गत्वा नद्यादिजलसमीपे नियतेन्द्रियः समाहितोऽनन्यमना नैत्यकं विधिं ब्रह्मयज्ञरूपमास्थितोऽनुतिष्ठासुः सावित्रीमपि प्रणवव्याहृतित्रययुतां यथोक्तामधीयीत ॥१०४॥

अ०—अरण्यं गत्वा समाहितः नियतः अपां समीपे नैत्यिकं विधिम् आस्थितः, सावित्रीं अपि अधीयीत ॥१०४॥

वन में जाकर एकाग्र चित्त हो जितेन्द्रिय जल (नदी, तालाब आदि) के

समीप नित्य कर्म विधिपूर्वक करके सावित्री का भी जप करे ॥१०४॥

वेदोपकरणे चैव स्वाध्याये चैव नैत्यके ।
नानुरोधोऽस्त्यनध्याये होममन्त्रेषु चैव हि ॥१०५॥

वेदोपकरण इति ॥ वेदोपकरणे वेदाङ्गे शिक्षादौ नैत्यके नित्यानुष्ठेये च स्वाध्याये ब्रह्मयज्ञरूपे होममन्त्रेषु चानध्यायादरो नास्ति ॥१०५॥

अ०—वेदोपकरणे च एव नैत्यिके स्वाध्याये च एव होममन्त्रेषु च एव अनध्याये अनुरोधः न अस्ति ॥१०५॥

वेदाङ्ग में, नित्य के स्वाध्याय में, तथा होम के मन्त्रों में अवकाश का महत्व नहीं है अर्थात् दूसरे कार्यों में अवकाश होते हुए भी उपरोक्त कर्मों को करना अनिवार्य है ॥१०५॥

शिक्षा, कल्प, व्याकरण, छन्द ज्योतिष तथा निरूक्त ये छह वेदाङ्ग हैं। अमावास्या, चतुर्दशी, पूर्णिमा तथा अष्टमी एवं भूकम्प, युद्धादि विशेष परिस्थितियों में अनध्याय अर्थात् अध्ययन का अवकाश रहता है। द्रष्टव्य मनु० IV. १०२-१२७।

नैत्यके नास्त्यनध्यायो ब्रह्मसत्रं हि तत्स्मृतम् ।
ब्रह्माहुतिहुतं पुण्यमनध्यायवषट्कृतम् ॥१०६॥

नैत्यक इति ॥ पूर्वोक्तनैत्यकस्वाध्यायस्यायमनुवादः । नैत्यके जपयज्ञेऽनध्यायो नास्ति । यतः सततभवत्वात् । ब्रह्मसत्रं तन्मन्वादिभिः स्मृतम् । ब्रह्मैवाहुतिर्ब्रह्माहुतिर्हविस्तस्यां हुतमनध्यायाध्ययनमध्ययनरूपमनध्यायवषट्कृतमपि पुण्यमेव भवति ॥१०६॥

अ०—नैत्यिके अनध्यायः नास्ति, हि तद् ब्रह्मसत्रं स्मृतं ब्रह्माहुतिहुतम् अनध्यायवषट्कृतं पुण्यम् ॥१०६॥

नित्य कर्म में अवकाश नहीं होता है क्योंकि वह ब्रह्मयज्ञ माना गया है। वेद की आहुति का हवन तथा बिना अवकाश के किया हुआ वषट्कार पुण्य कारक है ॥१०६॥

वषट्—किसी देवता को आहुति देते समय उच्चारण किया जाने वाला शब्द जैसे—इन्द्र को आहुति देते समय—इन्द्राय वषट् ।

यः स्वाध्यायमधीतेऽब्दं विधिना नियतः शुचिः ।
तस्य नित्यं क्षरत्येष पयो दधि घृतं मधु ॥१०७॥

यः स्वाध्यायमिति ॥ अब्दमित्यत्यन्तसंयोगे द्वितीया । यो वर्षमप्येकं स्वाध्यायमहरहर्विहिताङ्गयुक्तं नियतेन्द्रियः प्रयतो जपति तस्यैव स्वाध्यायो जपयज्ञः क्षीरादीनि क्षरति क्षीरादिभिर्देवान्पितॄंश्च प्रीणाति । ते च प्रीताः सर्वकामैर्जपयज्ञका-

रिणस्तर्पयन्तीत्यर्थः। अत एव याज्ञवल्क्यः (१।४१)—'मधुना पयसा चैव स देवांस्तर्पयेद्द्विजः। पितॄन्मधुघृताभ्यां च ऋचोऽधीते हि योऽन्वहम् ॥' इत्युपक्रम्य चतुर्णामिव वेदानां पुराणानां जपस्य च। देवपितृतृप्तिफलमुक्त्वा शेषे 'ते तृप्तास्तर्पयन्त्येनं सर्वकामफलैः शुभैः' (या. स्मृ. २।४७) इत्युक्तवान् ॥१०७॥

अ०—यः नियतः शुचिः स्वाध्यायं विधिना अब्दम् अधीते, तस्य एषः नित्यं पयः दधि घृतं मधु क्षरति ॥१०६॥

जो जितेन्द्रिय पुरुष पवित्रतापूर्वक एक वर्ष तक विधिपूर्वक वेदाध्ययन करता है उसको यह (स्वाध्याय) सदा ही दूध, दही, घी तथा शहद प्राप्त कराता है ॥१०७॥

मेधातिथि ने दूसरे विद्वानों के इस मत को भी दर्शाया है जिसमें उन्होंने दूध, दही आदि को धर्म, अर्थ, काम, तथा मोक्ष का वाचक माना है।

'अन्येतु धर्मार्थकाममोक्षान् पयआदिभिः शब्दैरभिहितान्मन्यन्ते'।

कुल्लू०—स्वाध्याय से प्राप्त दुग्धादि से देवताओं तथा पितरों को (मनुष्य) तृप्त करता है तथा प्रसन्न होकर वे उसकी सब इच्छाओं को तथा जप यज्ञ को पूर्ण करते हैं।

अग्नीन्धनं भैक्षचर्यामधःशय्यां गुरोर्हितम्।
आ समावर्तनात्कुर्यात्कृतोपनयनो द्विजः ॥१०८॥

अग्नीन्धनमिति ॥ सायंप्रातः समिद्धोमं, भिक्षासमूहाहरणं, अखट्वाशयनरूपामधःशय्यां नतु स्थण्डिलशायित्वमेव, गुरोरुदककुम्भाद्याहरणरूपं हितं कृतोपयनो ब्रह्मचारी समावर्तनपर्यन्तं कुर्यात् ॥१०८॥

अ०—कृतोपनयनः द्विजः आसमावर्तनात् अग्नीन्धनं भैक्षचर्याम् अधःशय्यां गुरोः हितम् कुर्यात् ॥१०८॥

उपनीत द्विज समावर्तन (ब्रह्मचर्याश्रम की समाप्ति पर किया जाने वाला संस्कार) पर्यन्त हवन, भिक्षाटन, भूमि पर बिस्तर तथा गुरु का का हित कार्य करे ॥१०८॥

कीदृशः शिष्योऽध्याप्य इत्याह—

आचार्यपुत्रः शुश्रूषुर्ज्ञानदो धार्मिकः शुचिः।
आप्तः शक्तोऽर्थदः साधुः स्वोऽध्याप्या दश धर्मतः ॥१०९॥

आचार्यपुत्र इति ॥ आचार्यपुत्रः, परिचारकः, ज्ञानान्तरदाता, धर्मवित्, मृद्वार्यादिषु शुचिः, बान्धवः, ग्रहणधारणसमर्थः, धनदाता, हितेच्छुः, ज्ञातिः, दशैते धर्मेणाध्याप्याः ॥१०९॥

गुरु के पुत्र, सेवा करने वाले, दूसरे शास्त्र का ज्ञान देने वाले, धार्मिक,

मित्र, आत्मीय, समर्थ, धन देने वाले, सज्जन तथा अपनी जाति के (व्यक्ति) ये दस धर्मानुसार पढ़ाने योग्य हैं ।।१०९।।

नापृष्टः कस्यचिद्ब्रूयान्न चान्यायेन पृच्छतः ।
जानन्नपि हि, मेधावी जडवल्लोक आचरेत् ।।११०।।

नापृष्ट इति ।। यदन्येनाल्पाक्षरं विस्वरं चाधीतं तस्य तत्त्वं न वदेत् । शिष्यस्य त्वपृच्छतोऽपि वक्तव्यम् । भक्तिश्रद्धादिप्रश्नधर्मोल्लङ्घनमन्यायः, तेन पृच्छतो न ब्रूयात् । जानन्नपि हि प्राज्ञो लोके मूक इव व्यवहरेत् ।।११०।।

अ०—अपृष्टः कस्यचित् न ब्रूयात्, अन्यायेन पृच्छतः च न हि जानत् अपि मेधावी लोकः जडवत् आचरेत् ।।११०।।

बिना पूछे हुए किसी को न सिखाए, छल से पूछने पर भी नहीं अपितु जानता हुआ भी बुद्धिमान मूर्ख के समान आचरण करे ।।११०।।

उक्तप्रतिषेधद्वयातिक्रमे दोषमाह—

अधर्मेण च यः प्राह यश्चाधर्मेण पृच्छति ।
तयोरन्यतरः प्रैति विद्वेषं वाऽधिगच्छति ।।१११।।

अधर्मेणेति ।। अधर्मेण पृष्टोऽपि यो यस्य वदति यश्चान्यायेन यं पृच्छति तयोरन्यतरो व्यतिक्रमकारी म्रियते, विद्वेषं वा तेन सह गच्छति ।।१११।।

अ०—यः अधर्मेण पृच्छति यः अधर्मेण प्राह च तयोः अन्यतरः प्रैति विद्वेषं वा अधिगच्छति ।।१११।।

जो व्यक्ति अधर्म से अर्थात् पूर्वोक्त विधि (ब्रह्माञ्जलिः उत्तराभिमुखादि) के बिना पूछता है तथा विधिहीन होकर जो पढ़ाता है उनमें से एक मृत्यु अथवा द्वेष को प्राप्त करता है ।।१११।।

शास्त्रोक्त विधि के अनुसार न पूछने वाले को यदि गुरु कोई उत्तर नहीं देता तो केवल पूछने वाला तथा उत्तर देने पर दोनों को ही उपरोक्त फल होते हैं ।

धर्मार्थौ यत्र न स्यातां शुश्रूषा वाऽपि तद्विधा ।
तत्र विद्या न वप्तव्या शुभं बीजमिवोषरे ।।११२।।

धर्मार्थाविति ।। यस्मिन् शिष्येऽध्यापिते धर्मार्थौ न भवतः परिचर्या वाध्ययनानुरूपा तत्र विद्या नार्पणीया । सुष्ठु व्रीह्यादिबीजमिवोषरे । यत्र बीजमुप्तं न प्ररोहति स ऊषरः । न चार्थग्रहणे भृतकाध्यापकत्वमाशङ्कनीयम्, यद्येतावन्मह्यं दीयते तदैतावदध्यापयामीति नियमाभावात् ।।११२।।

अ०—यत्र धर्मार्थौ न स्यातां तद्विधा शुश्रूषा वाऽपि (न) तत्र उषरे शुभं बीजम् इव विद्या न वप्तव्या ।।११२।।

जहां धर्म तथा अर्थ (धन) न हो तथा शास्त्रोक्त सेवा भी न हो वहां जैसे बंजर भूमि में अच्छा वीज नहीं बोना चाहिए उसी प्रकार ज्ञान प्रदान नहीं करना चाहिए ॥११२॥

विद्ययैव समं कामं मर्तव्यं ब्रह्मवादिना ।
आपद्यापि हि घोरायां न त्वेनामिरिणे वपेत् ॥११३॥

विद्ययेति ॥ विद्ययैव सह वेदाध्यापकेन वरं मर्तव्यं नतु सर्वथाध्यापनयोग्यशिष्याभावे चापात्रायैव तां प्रतिपादयेत् । तथा च छान्दोग्यब्राह्मणम् 'विद्यया सार्धं म्रियेत न विद्यामूषरे वपेत्' ॥११३॥

अ०—ब्रह्मवादिना विद्यया एव समं मर्तव्यम् कामं, हि घोरायां अपि आपदि एनाम् इरिणे तु न वपेत् ॥११३॥

वेदाध्यापक को विद्या के साथ भले ही मर जाना चाहिए किन्तु आपत्ति में भी कुपात्र व्यक्ति में वेद विद्या रूपी वीज का रोपण अर्थात् दान नहीं करना चाहिए ॥११३॥

अस्यानुवादमाह—

विद्या ब्राह्मणमेत्याह शेवधिष्टेऽस्मि रक्ष माम् ।
असूयकाय मां मादास्तथा स्यां वीर्यवत्तमा ॥११४॥

विद्या ब्राह्मणमिति ॥ विद्याधिष्ठात्री देवता कंचिदध्यापकं ब्राह्मणमागत्यैवमवदत् 'तवाहं निधिरस्मि । मां रक्ष । असूयकादिदोषवते न मां वदेः तथा सत्यतिशयेन वीर्यवती भूयासम्' । तथा च छान्दोग्यब्राह्मणम्—'विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम तवाहमस्मि त्वं मां पालय, अनर्हते मानिने नैव मादाः, गोपाय मां, श्रेयसी तथाहमस्मि' इति ॥११४॥

अ०—विद्या ब्राह्मणम् एत्य आह ते शेवधिः अस्मि, मां रक्ष असूयकाय मा मादाः तथा वीर्यवत्तमा स्याम् ॥११४॥

विद्या ब्राह्मण के पास आकर बोली कि मैं तुम्हारी निधि हूं मेरी रक्षा करो, निन्दा करने वाले व्यक्ति को मेरा दान मत करो इस प्रकार मैं प्रभावशाली होऊंगी ॥११४॥

यमेव तु शुचिं विद्यान्नियतं ब्रह्मचारिणम् ।
तस्मै मां ब्रूहि विप्राय निधिपायाप्रमादिने ॥११५॥

यमेवेति ॥ यमेव पुनः शिष्यं शुचिं नियतेन्द्रियं ब्रह्मचारिणं जानासि तस्मै विद्यारूपनिधिरक्षकाय प्रमादरहिताय मां वद ॥११५॥

अ०—यं तु शुचिं नियतं ब्रह्मचारिणं विद्यात्, तस्मै एव निधिपाय अप्रमादिने विप्राय मां ब्रूहि ॥११५॥

जिस (शिष्य) को पवित्र जितेन्द्रिय, ब्रह्मचारी समझे (गुरु) उसी निधि की रक्षा करने वाले आलस्य रहित विप्र के लिए मुझे (विद्या को) कहे ॥११५॥

ब्रह्म यस्त्वननुज्ञातमधीयानादवाप्नुयात् ।
स ब्रह्मस्तेयसंयुक्तो नरकं प्रतिपद्यते ॥११६॥

ब्रह्मेति ॥ यः पुनरभ्यासार्थमधीयानादन्यं वा कंचिदध्यापयतस्तदनुमतिरहितं वेदं गृह्णाति स वेदस्तेययुक्तो नरकं गच्छति तस्मादेतन्न कर्तव्यम् ॥११६॥

अ०—यः तु अधीयानाद् अननुज्ञातं ब्रह्म अवाप्नुयात्, स ब्रह्मस्तेयसंयुक्तः नरकं प्रतिपद्यते ॥११६॥

जो व्यक्ति (किसी अन्य को) पढ़ाते हुए वेद को बिना (गुरु की) आज्ञा से प्राप्त करता है, वह वेद की चोरी से लिप्त होकर नरक को प्राप्त करता है ॥११६॥

लौकिकं वैदिकं वाऽपि तथाऽऽध्यात्मिकमेव च ।
आददीत यतो ज्ञानं तं पूर्वमभिवादयेत् ॥११७॥

लौकिकमिति ॥ लौकिकमर्थशास्त्रादिज्ञानं, वैदिकं वेदार्थज्ञानं, आध्यात्मिकं ब्रह्मज्ञानं, यस्मात्तु गृह्णाति तं वहुमान्यमध्ये स्थितं प्रथममभिवादयेत् । लौकिकादि-ज्ञानदातॄणामेव त्रयाणां समवाये यथोत्तरं मान्यत्वम् ॥११७॥

अ०—यतः (गुरोः) लौकिकं वैदिकं वा ऽपि तथा आध्यात्मिकं ज्ञानम् आददीत, तं पूर्वम् एव अभिवादयेत् ॥११७॥

जिसगुरु से लौकिक (अर्थशास्त्रादि) अथवा वैदिक (अग्निहोत्रादि प्रतिपादक) या आध्यात्मिक (ब्रह्मसम्वन्धी) ज्ञान प्राप्त करे उसको (शिष्य) पहले (अन्य अभिवादन योग्य व्यक्तियों के रहने पर भी पहले) प्रणाम करे ॥११७॥

सावित्रीमात्रसारोऽपि वरं विप्रः सुयन्त्रितः ।
नायन्त्रितस्त्रिवेदोऽपि सर्वाशी सर्वविक्रयी ॥११८॥

सावित्रीति ॥ सावित्रीमात्रवेत्तापि वरं सुयन्त्रितः शास्त्रनियमितो विप्रा-दिर्मान्यः, नायन्त्रितो वेदत्रयवेत्तापि निषिद्धभोजनादिशीलः प्रतिषिद्धविक्रेता च। एतच्च प्रदर्शनमात्रम् । 'सुयन्त्रित' शब्देन विधिनिषेधनिष्ठत्वस्य विवक्षित-त्वात् ॥११८॥

अ०—सावित्रीमात्रसारः अपि विप्रः सुयन्त्रितः वरम्, त्रिवेदः अपि अयन्त्रितः सर्वाशी सर्वविक्रयी न ॥११८॥

सावित्री मात्र ही बल है जिसका ऐसा जितेन्द्रिय ब्राह्मण श्रेष्ठ है, तीनों वेदों को जानने वाला भी (जो) जितेन्द्रिय नहीं है तथा सब कुछ खाने वाला तथा सब कुछ बेचने वाला है, वह श्रेष्ठ नहीं है ॥११८॥

शय्यासनेऽध्याचरिते श्रेयसा न समाविशेत्।
शय्यासनस्थश्चैवैनं प्रत्युत्थायाभिवादयेत् ॥११९॥

शय्येति ॥ शय्या चासनं च शय्यासनं 'जातिरप्राणिनाम्' (पा.२।४।६) इति द्वन्द्वैकवद्भावः। तस्मिच्छ्रेयसा विद्याद्यधिकेन गुरुणा चाध्याचरिते साधारण्येन स्वीकृते च तत्कालमपि नासीत। स्वयं च शय्यासनस्थो गुरावागत उत्थायाभिवादनं कुर्यात् ॥११९॥

अ०—श्रेयसा अध्याचारिते शय्यासने न समाविशेत्, शयनास्थः च एनं प्रत्युथाय एव अभिवादयेत् ॥११९॥

श्रेष्ठ (गुरु आदि) के द्वारा उपयोग में लाए जाने वाले बिस्तर तथा आसन पर न बैठे तथा (यदि स्वयं पहले से) बिस्तर पर लेटा या बैठा हो तो उठकर उनका अभिवादन करे ॥११९॥

अस्यार्थवादमाह—

ऊर्ध्वं प्राणा ह्युत्क्रामन्ति यूनः स्थविर आयति।
प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यां पुनस्तान्प्रतिपद्यते ॥१२०॥

ऊर्ध्वमिति ॥ यस्माद्यूनोऽल्पवयसो वयोविद्यादिना स्थविरे आयति आगच्छति सति प्राणा ऊर्ध्वम् उत्क्रामन्ति देहाद्बहिर्निर्गन्तुमिच्छन्ति तान्वृद्धस्य प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यां पुनः सुस्थान्करोति। तस्मात्वृद्धस्य प्रत्युत्थायाभिवादनं कुर्यात् ॥१२०॥

अ०—हि स्थविरे आयति यूनः प्राणा ऊर्ध्वम् उत्क्रामन्ति तान् प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यां पुनः प्रतिपद्यते ॥१२०॥

क्योंकि (ज्ञान/आयु) वृद्ध के आने पर युवक के प्राण ऊपर की ओर चढ़ते हैं तथा उठने एवं अभिवादन करने से (पुनः) प्राप्त हो जाते हैं अर्थात् उचित अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं इसलिए अभिवादन करे ॥१२०॥

इतश्च फलमाह—

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि संप्रवर्धन्ते आयुर्प्रज्ञा यशो बलम् ॥१२१॥

अभिवादनशीलस्येति ॥ उत्थाय सर्वदा वृद्धाभिवादनशीलस्य वृद्धसेविनश्च आयुः-प्रज्ञा-यशो-बलानि चत्वारि सम्यक् प्रकर्षेण वर्धन्ते ॥१२१॥

अ०—नित्यम् अभिवादनशीलस्य वृद्धोपसेविनः आयुः प्रज्ञा यशः बलम् चत्वारि संप्रवर्धन्ते ॥१२१॥

सदा ही अभिवादन करने के स्वभाव वाले तथा ज्ञान और आयु वृद्धों की सेवा करने वाले की आयु, बुद्धि, यश तथा बल चारों उचित रूप से प्रचुर मात्रा में बढ़ते हैं ॥१२१॥

मेधातिथि ने 'प्रज्ञा' के स्थान पर 'धर्मः' तथा राघव० ने 'प्रज्ञा' तथा विद्या दोनों पाठ भेद स्वीकार किए हैं।

संप्रत्यभिवादनविधिमाह—

अभिवादात्परं विप्रो ज्यायांसमभिवादयन्।
असौ नामाहमस्मीति स्वं नाम परिकीर्तयेत् ॥१२२॥

अभिवादात्परमिति ॥ वृद्धमभिवादयन् विप्रादिरभिवादात्परं 'अभिवादये' इति शब्दोच्चारणानन्तरम् 'अमुकनामाहमस्मि' इति स्वं नाम परिकीर्तयेत्। अतो नामशब्दस्य विशेषपरत्वात्स्वनामविशेषोच्चारणानन्तरमभिवादनवाक्ये नामशब्दोऽपि प्रयोज्य इति मेधातिथि-गोविन्दराजयोरभिधानमप्रमाणम्। अत एव गौतमः-(६।१) 'स्वनाम प्रोच्याहमभिवादय इत्यभिवदेत्'। साङ्ख्यायनोऽपि 'असावहं भो इत्यात्मनो नामादिशेत्' इत्युक्तवान्। यदि च नामशब्दश्रवणात्तस्य प्रयोगस्तदा 'अकारश्चास्य नाम्नोऽन्ते' (२।१२५) इत्यभिधानात्प्रत्यभिवादनवाक्ये नामशब्दोच्चारणं स्यान्न च तत्कस्यचित्संमतम् ॥१२२॥

अ०—ज्यायांसम् अभिवादयन् विप्रः, अभिवादात् परम्, असौ नाम अहम् अस्मि इति स्वनाम परिकीर्तयेत् ॥१२२॥

श्रेष्ठ को अभिवादन करता हुआ ब्राह्मण अभिवादन करने के बाद 'मैं इस नाम वाला हूँ' इस प्रकार से अपना नाम कहे ॥२२॥

नामधेयस्य ये केचिदभिवादं न जानते।
तान्प्राज्ञोऽहमिति ब्रूयात्स्त्रियः सर्वास्तथैव च ॥१२३॥

नामधेयस्येति ॥ नामधेयस्य उच्चारितस्य सतो ये केचिदभिवाद्याः संस्कृतानभिज्ञतयाभिवादनमभिवादार्थं न जानन्ति तान्प्रत्यभिवादनेऽप्यसमर्थत्वात्प्राज्ञ इत्यभिवाद्यशक्तिविज्ञोऽभिवादयिता 'अभिवादयेऽहम्' इत्येवं ब्रूयात्। स्त्रियः सर्वास्तथैव ब्रूयात् ॥१२३॥

अ०—प्राज्ञः ये केचिद् नामधेयस्य अभिवादं न जानते, तान् तथैव सर्वाः स्त्रियः च अहम् इति ब्रूयात् ॥१२३॥

जो नामोच्चारण पूर्वक अभिवादन को नहीं जानते (जो धर्मशास्त्रोक्त विधि से अभिवादन को नहीं समझते या संस्कृत नहीं जानते) उनको तथा सभी स्त्रियों को बुद्धिमान (व्यक्ति) 'मैं हूं' इस प्रकार कहे ॥१२३॥

भोःशब्दं कीर्तयेदन्ते स्वस्य नाम्नोऽभिवादने।
नाम्नां स्वरूपभावो हि भोभाव ऋषिभिः स्मृतः ॥१२४॥

भोःशब्दमिति ॥ अभिवादने यन्नामप्रयुक्तं तस्यान्ते भोःशब्दं कीर्तयेदभिवाद्यसंबोधनार्थम्। अत एवाह—नाम्नामिति ॥ भो इत्यस्य यो भावः सत्ता सोऽभिवाद्य-

नाम्नां स्वरूपभाव ऋषिभिः स्मृतः । तस्मादेवभिवादनवाक्यम् 'अभिवादये शुभशर्माहमस्मि भोः' ॥१२४॥

अ०—अभिवादने स्वस्य नाम्नः अन्ते भोः शब्दं कीर्तयेत्, हि ऋषिभिः भोभावः नाम्नां स्वरूपभावः स्मृतः ॥१२४॥

अभिवादन के समय अपने नाम के अन्त में 'भो' शब्द कहे क्यो कि ऋषियों के द्वारा भो शब्द को सभी नामों का स्वरूप अर्थात् वाचक माना गया है ॥१२४॥

आयुष्मान्भव सौम्येति वाच्यो विप्रोऽभिवादने ।
अकारश्चास्य नाम्नोऽन्ते वाच्यः पूर्वाक्षरः प्लुतः ॥ १२५॥

आयुष्मानिति ॥ अभिवादने कृते प्रत्यभिवादयित्रा अभिवादको विप्रादिः 'आयुष्मान्भव सौम्य' इति वाच्यः । अस्य चाभिवादकस्य यन्नाम तस्यान्ते योऽकारादिः स्वरो नाम्नामकारान्तत्वनियमाभावात्स प्लुतःकार्यः । स्वरापेक्षं चेदकारान्तत्वं व्यञ्जनान्तेऽपि नाम्निसंभवति । पूर्वं नामगतमक्षरं संश्लिष्टं यस्य स पूर्वाक्षरस्तेन नागन्तुरपकृष्य चाकारादिः स्वरः प्लुतः कार्यः । एतच्च 'वाक्यस्य टेः प्लुत उदात्तः' (८।२।८२) इत्यस्यानुवृत्तौ 'प्रत्यभिवादेऽशूद्रे' (८।२।८३) इति प्लुतं स्मरन्पाणिनिः स्फुटमुक्तवान् । व्याख्यातं च वृत्तिकृता वामनेन—'टेरिति किम्, व्यञ्जनान्तस्यैव टेः प्लुतो यथा स्यात्' इति । तस्मादीदृशं प्रत्यभिवादनवाक्यं 'आयुष्मान्भव सौम्य शुभशर्मन्', एवं क्षत्रियस्य 'बलवर्मन्', एवं वैश्यस्य 'वसुभूते' । 'प्लुतो राजन्यविशां वा' (वा. ४८६५) इति कात्यायनवचनात्क्षत्रियवैश्ययोः पक्षे प्लुतो न भवति । शूद्रस्य प्लुतो न कार्यः, 'अशूद्रे' (८।२।८३) इति पाणिनिवचनात् । स्त्रियामपि निषेधः' (वा० ४८५४) इति कात्यायनवचनात्स्त्रियामपि प्रत्यभिवादनवाक्ये न प्लुतः । गोविन्दराजस्तु ब्राह्मणस्य नाम्निशर्मोपपदं नित्यं प्रागभिधाय प्रत्यभिवादनवाक्ये 'आयुष्मान् भव सौम्य भद्र' इति निरुपपदोदाहरणसोपपदोदाहरणानभिज्ञत्वमेव निजं ज्ञापयति । धरणीधरोऽपि 'आयुष्मान् भव सौम्य' इति संबुद्धिविभक्त्यन्तं मनुवचनं पश्यन्नप्यसंबुद्धि प्रथमैकवचनान्तममुकशर्मेत्युदाहरन्विचक्षणैरप्युपेक्षणीय एव ॥१२५॥

अ०—अभिवादने विप्रः आयुष्मान् भव सौम्य इति वाच्यः, अस्य नाम्नः अन्ते च पूर्वाक्षरः अकारः प्लुतः वाच्यः ॥१२५॥

अभिवादन करने पर विप्र हे सौम्य । आयुष्मान होओ ऐसा कहना चाहिए तथा (अभिवादन करने वाले के) नाम के अन्त में जो पूर्वाक्षर अकार हो उसका प्लुत उच्चारण करना चाहिए ॥१२५॥

यहाँ अकार स्वरसामान्य का वाचक है। व्यञ्जनान्त नाम में जो अन्तिम स्वर उसका प्लुत उच्चाण करना चाहिए। उदाहरणार्थं—(१) स्वरान्त—देवदत्त ३ । (२) व्यञ्जनान्त—सोमशर्म ३ न्। प्लुत का उच्चारण सामान्य स्वर के उच्चारण से

तीन गुना अधिक समय लगाकर किया जाता है।

यो न वेत्त्यभिवादस्य विप्रः प्रत्यभिवादनम्।
नाभिवाद्यः स विदुषा यथा शूद्रस्तथैव सः ॥१२६॥

यो न वेत्तीति ॥ यो विप्रोऽभिवादनस्यानुरूपं प्रत्यभिवादनं न जानात्यसावभिवादनविदुषापि स्वनामोच्चारणाद्युक्तविधिना शूद्र इव नाभिवाद्यः। 'अभिवादयेऽहम्' इति शब्दोच्चारणमात्रं तु चरणग्रहणादिशून्यमनिषिद्धम्। प्रागुक्तत्वात् ॥१२६॥

अ०—यः विप्रः अभिवादस्य प्रत्यभिवादनं न वेत्ति, स विदुषा न अभिवाद्यः सः यथा+शूद्रः तथैव ॥१२६॥

जो ब्राह्मण अभिवादन का प्रत्युत्तर नहीं जानता वह विद्वानों के द्वारा प्रणम्य नहीं हैं (क्योंकि) वह वैसा ही है जैसा शूद्र होता है ॥१२६॥

ब्राह्मणं कुशलं पृच्छेत्क्षत्रबन्धुमनामयम्।
वैश्यं क्षेमं समागम्य शूद्रमारोग्यमेव च ॥१२७॥

ब्राह्मणमिति ॥ समागम्य समागमे कृते अभिवादयमवरवयस्कं समानवयस्कमनभिवादकमपि ब्राह्मणं कुशलं, क्षत्रियमनामयं वैश्यं क्षेमं, शूद्रमारोग्यं पृच्छेत्। अत एवापस्तम्बः—'कुशलमवरवयसं समानवयसं वा विप्रं पृच्छेत्, अनामयं क्षत्रियं क्षेमं वैश्यं आरोग्यं शूद्रम्। अवरवयसमभिवादकं वयस्यमनभिवादकमपी' ति मन्वर्थमेवापस्तम्बः स्फुटयति स्म। गोविन्दराजस्तु प्रकरणात्प्रत्यभिवादकस्यैव कुशलादिप्रश्नमाह। तन्नः; अभिवादकेन सह समागमस्यानुप्राप्तत्वात्। समागम्येति निष्प्रयोजनानुवादप्रसङ्गात्। अतः कुशलक्षेमशब्दयोरनामयारोग्यपदयोश्च समानार्थत्वाच्छब्दविशेषोच्चारणमेव विवक्षितम् ॥१२७॥

अ०—समागम्य ब्राह्मणं कुशलं क्षत्रबन्धुम् अनामयम् वैश्यं क्षेमं शूद्रम् आरोग्यमेव च पृच्छेत् ॥१२७॥

(कहीं से) आये हुए ब्राह्मण से अर्थात् ब्राह्मण से मिलने पर कुशल क्षत्रिय से अनामय (आरोग्य) वैश्य से क्षेम तथा शूद्र से स्वास्थ्य के विषय में पूछे ॥१२७॥

मेधातिथि ने कुशल, अनामय, क्षेम तथा आरोग्य को समानार्थक माना है।

अवाच्यो दीक्षित नाम्ना यवीयानपि यो भवेत्।
भोभवत्पूर्वकं त्वेनमभिभाषेत धर्मवित् ॥१२८॥

अवाच्य इति ॥ प्रत्यभिवादनकाले अन्यदा च दीक्षणीयातःप्रभृत्यावभृथस्नानान्तकनिष्ठोऽपि दीक्षितो नाम्ना न वाच्यः, किंतु भोभवच्छब्दपूर्वकं दीक्षितादिशब्दैरुत्कर्षाभिधायिभिरेव धार्मिकोऽभिभाषेत—'भो दीक्षित, इदं कुरु, भवता यजमानेन

इदं क्रियताम्' इति ॥१२८॥

अ०—यः यवीयान् अपि दीक्षितः नाम्ना अवाच्यः भवेत् तु एनं भो भवत्पूर्वकम् अभिभाषेत् ॥१२८॥

आयु में छोटा भी जो दीक्षित हो उसको नाम लेकर नहीं पुकारना चाहिए अपितु भो अथवा भवत् कह कर बात करनी चाहिए ॥१२८॥

परपत्नी तु या स्त्री स्यादसंबन्धा च योनितः ।
तां ब्रूयाद्भवतीत्येवं सुभगे भगिनीति च ॥१२९॥

परपत्नी त्विति ॥ या स्त्री परपत्नी भवति, असंबन्धा च योनित इति स्वस्रादिर्न भवति तामनुपयुक्तसंभाषणकाले 'भवति, सुभगे, भगिनि' इति वा वदेत् । 'परपत्नी' ग्रहणात् कन्यायां नैष विधिः स्वसुः कन्यादेस्तु 'आयुष्मती' त्यादिपदैरभिभाषणम् ॥१२९॥

अ०—या स्त्री परपत्नी योनितः असम्बन्धा च स्यात्, तां तु भवति ! सुभगे ! भगिनी ! इत्येवं ब्रूयात् ॥१२९॥

जो स्त्री दूसरे की पत्नी तथा स्वयं की जाति कि न हो उसको भवति ! सुभगे । भगिनी ! इस प्रकार सम्बोधित करें ॥१२९॥

मातुलांश्च पितृव्यांश्च श्वशुरानृत्विजो गुरून् ।
असावहमिति ब्रूयात्प्रत्युत्थाय यवीयसः ॥१३०॥

मातुलांश्चेति ॥ मातुलादीनागतान्कनिष्ठानासनादुत्थाय 'असावहम्' इति वदेत् नाभिवादयेत् । असाविति स्वनामनिर्देशः, 'भूयिष्ठाः खलु गुरवः' इत्युपक्रम्य ज्ञानवृद्धतपोवृद्धयोरपि हारीतेन गुरुत्वकीर्तनात्तयोश्च कनिष्ठयोरपि संभवात्तद्विषयोऽयं 'गुरु' शब्दः ॥१३०॥

अ०—यवीयसः मातुलान् च पितृव्यान् श्वसुरान् ऋत्विजः गुरून् च प्रति असो अहम् इति ब्रूयात् ॥१३०॥

छोटे मामा, चाचा, श्वसुर, ऋत्विज् और गुरु के प्रति (यह मैं हूं) इस प्रकार सम्बोधित करे ॥१३०॥

मातृष्वसा मातुलानी श्वश्रूरथ पितृष्वसा ।
संपूज्या गुरुपत्नीवत्समास्ता गुरुभार्यया ॥१३१॥

मातृष्वसेति ॥ मातृष्वस्रादयो गुरुपत्नीवत्प्रत्युत्थानाभिवादनासनदानादिभिः संपूज्याः । अभिवादनप्रकरणादभिवादनमेव संपूजनं विज्ञायत इति समास्ता इत्यवोचत् । गुरुभार्यासमानत्वात्प्रत्युत्थानादिकमपि कार्यमित्यर्थः ॥१३१॥

अ०—मातृष्वसा मातुलानी श्वश्रूः पितृष्वसा, गुरुपत्नीवत् सम्पूज्याः ताः गुरुभार्यया समाः ॥१३१॥

मौसी, मामी, सास और बुआ गुरुपत्नी के समान पूजनीया हैं वे सब गुरु पत्नी के बराबर हैं ॥१३१॥

भ्रातुर्भार्योपसंग्राह्या सवर्णाऽहन्यहन्यपि ।
विप्रोष्य तूपसंग्राह्या ज्ञातिसंबन्धियोषितः ॥१३२॥

भ्रातुर्भार्येति ॥ भ्रातुः सजातीया भार्या ज्येष्ठा पूजाप्रकरणादुपसंग्राह्या पादयोरभिवाद्या । अहन्यहनि प्रत्यहमेव । अपिरेवार्थे । ज्ञातयः पितृपक्षाः पितृव्यादयः, संबन्धिनो मातृपक्षाः श्वशुरादयश्च, तेषां पत्न्यः पुनर्विप्रोष्य प्रवासात्प्रत्यागतेनैवाभिवाद्याः, न तु प्रत्यहं नियमः ॥१३२॥

अ०—सवर्णा भ्रातुः भार्याः अहनि अहनि अपि उपसङ्ग्राह्या तु ज्ञातिसम्बन्धियोषितः विप्रोष्य उपसङ्ग्राह्या ॥१३२॥

अपनी ही जाति की भाई की पत्नी को प्रतिदिन प्रणाम करना चाहिए, सम्बन्धियों की स्त्रियों को प्रवास से लौटने पर प्रणाम करना चाहिए अर्थात् नित्यप्रति नहीं करना चाहिए ॥१३२॥

पितुर्भगिन्यां मातुश्च ज्यायस्यां च स्वसर्यपि ।
मातृवद्वृत्तिमातिष्ठेन्माता ताभ्यो गरीयसी ॥१३३॥

पितुर्भगिन्यामिति ॥ पितुर्मातुश्च भगिन्यां ज्येष्ठायां चात्मनो भगिन्यां मातृवद्वृत्तिमातिष्ठेत् । माता पुनस्ताभ्यो गुरुतमा । ननु 'मातृष्वसा मातुलानी' (२।१३१) इत्यनेनैव गुरुपत्नीवत्पूज्यत्वमुक्तं किमधिकमनेन बोध्यते ? उच्यते-इदमेव 'माता ताभ्यो गरीयसी' इति । तेन पितृष्वस्रानुज्ञायां दत्तायां मात्र च विरोधे मातुराज्ञाऽनुष्ठेयेति; अथवा पूर्वं पितृष्वस्रादेर्मातृवत्पूज्यत्वमुक्तम् । अनेक तु स्नेहादिवृत्तिरप्यतिदिश्यत इत्यपुनरुक्तिः ॥१३३॥

अ०—पितुः मातुः च भगिन्यां ज्यायस्यां स्वसरि अपि च, मातुवद् वृत्तिम् अतिष्ठेत्, तेभ्यो माता गरीयसी ॥१३३॥

पिता तथा माता की बहन तथा बड़ी बहन से भी माता के समान व्यवहार रखें (किन्तु) इन सबसे माँ श्रेष्ठ है ॥१३३॥

इससे पूर्व श्लोक-१३१ में मौसी तथा बुआ को गुरुपत्नी के समान तथा यहाँ माँ के समान व्यवहार कहने से गुरुपत्नी तथा माता की समतुल्यता प्रतीत होती है ।

दशाब्दाख्यं पौरसख्यं पञ्चाब्दाख्यं कलाभृताम् ।
त्र्यब्दपूर्वं श्रोत्रियाणां स्वल्पेनापि स्वयोनिषु ॥१३४॥

दशाब्दाख्यमिति ।। दश अब्दा आख्या यस्य तद्दशाब्दाख्यं पौरसख्यम् । अयमर्थः—एकपुरवासिनां वक्ष्यमाणविद्यादिगुणरहितानामेकस्य दशभिरब्दैर्ज्येष्ठत्वे सत्यपि सख्यमाख्यायते । 'पुर' ग्रहणं प्रदर्शनार्थं,तेनैकग्रामादिनिवासिनामपि स्यात् । गीतादिकलाभिज्ञानां पञ्चवर्षपर्यन्तं सख्यं, श्रोत्रियाणां त्र्यब्दपर्यन्तं, सपिण्डेष्वत्यन्ताल्पेनैव कालेन सह सख्यम् । अपिरेवार्थे । सर्वत्रोक्तकालादूर्ध्वं ज्येष्ठव्यवहारः ।।१३४।।

अ०—पौरसख्यं दशाब्दाख्यं कलाभृतां पञ्चाब्दाख्यं श्रोत्रियाणां त्र्यब्दपूर्वं स्वयोनिषु स्वल्पेन अपि ।।१३४।।

समान ग्राम या नगर में रहने वालों से दस वर्ष तक (अन्तर रहने पर) मित्रता कही गई है, कलाकारों से पाँच वर्ष तक(अन्तर रहने पर), वेद पाठी ब्राह्मणों से तीन वर्ष तक (अन्तर रहने पर) तथा सपिण्डों से कुछ अन्तर से ही मित्रता कही गई है ।।१३४।।

एक स्थान पर रहने वाले व्यक्ति दस वर्ष छोटे अथवा बड़े हों, कलाकार पाँचवर्ष छोटे वड़े हों, इसी प्रकार श्रोत्रिय ब्राह्मण तीन वर्ष छोटा वड़ा हो तथा अपने दायाद कुछ ही छोटे वड़े हों तभी मित्रता करनी चाहिए इससे अधिक आयु का अन्तर हो तो उनसे मित्रता का नहीं अपितु उनके वड़े होने पर श्रेष्ठ जैसा तथा छोटे होने पर स्नेह का व्यवहार करना चाहिए ।

ब्राह्मणं दशवर्षं तु शतवर्षं तु भूमिपम् ।
पितापुत्रौ विजानीयाद्ब्राह्मणस्तु तयोः पिता ।।१३५।।

ब्राह्मणमिति ।। दशवर्षं ब्राह्मणं, शतवर्षं पुनः क्षत्रियं पितापुत्रौ विजानीयात् । तयोर्मध्ये दशवर्षोऽपि ब्राह्मण एव क्षत्रियस्य शतवर्षस्यापि पिता । तस्मात्पितृवदसौ तस्य मान्यः ।।१३५।।

अ०—दशवर्षं तु ब्राह्मणं शतवर्षं तु भूमिपं पितापुत्रौ विजानीयात् तयोः ब्राह्मणः पिता ।।१३५।।

दस वर्ष के ब्राह्मण तथा सौ वर्ष के क्षत्रिय को पिता पुत्र समझना चाहिए उनमें ब्राह्मण पिता है अर्थात् पिता के समान पूजनीय है ।।१३५।।

वित्तं बन्धुर्वयः कर्म विद्या भवति पञ्चमी ।
एतानि मान्यस्थानानि गरीयो यद्यदुत्तरम् ।।१३६।।

वित्तमिति ।। वित्तं न्यायार्जितं धनं, बन्धुः पितृव्यादिः, वयोऽधिकवयस्कता, कर्म श्रौतं स्मार्तं च, विद्या वेदार्थतत्त्वज्ञानं, एतानि पञ्च मान्यत्वकारणानि । एषां मध्ये यद्यदुत्तरं तत्तत्पूर्वस्माच्छ्रेष्ठमिति बहुमान्यमेलके बलाबलमुक्तम् ।।१३६।।

अ०—वित्तं बन्धुर्वयः कर्म पञ्चमी विद्या एतानि मान्यस्थानानि यत् यत् उत्तरम्

(तत् तत् पूर्वस्मात्-पूर्वस्मात्) गरीयः ॥१३६॥

सम्पत्ति, बन्धु, आयु, कर्म तथा पांचवीं विद्या ये महत्ता के कारण हैं, जो जो बाद में है वह वह पहले पहले से अधिक महत्वपूर्ण है ॥१३६॥

व्यक्ति को अभिवाद्य अथवा अभिवादक बनाने में उपरोक्त गुणों की अधिकता तथा न्यूनता कारण है। इसके अतिरिक्त ये गुण भी एक जैसे महत्त्व वाले नहीं है अपितु धनगुण से बन्धु गुण, बन्धु गुण से आयु गुण महत्त्वपूर्ण है इसी प्रकार शेष भी।

राघव०—इनके अनुसार यहाँ सजातीय व्यक्तियों की मान्यता के सम्बन्ध में उपरोक्त गुणों को कहा गया है, विजातियों में कौन किससे मान्य है यह तो पहले ही कहा जा चुका है—**'विजातीयानामुत्कर्षमुक्त्वा सजातीयानां तमाह वित्तमिति'**।

पञ्चानां त्रिषु वर्णेषु भूयांसि गुणवन्ति च।
यत्र स्युः सोऽत्र मानार्हः शूद्रोऽपि दशमीं गतः ॥१३७॥

पञ्चानामिति ॥ त्रिषु वर्णेषु ब्राह्मणादिषु पञ्चानां वित्तादीनां मध्ये यत्र पुरुषे पूर्वमप्यनेकं भवति स एवोत्तरस्मादपि मान्यः। तेन वित्तबन्धुयुक्तो वयोधिकान्मान्यः। एवं वित्तादित्रययुक्तः कर्मवतो मान्यः। वित्तादिचतुष्टययुक्तो विदुषो मान्यः। गुणवन्ति चेति प्रकर्षवन्ति। तेन द्वयोरेव विद्यादिसत्त्वे प्रकर्षो मानहेतुः शूद्रोऽपि दशमीमवस्थां नवत्यधिको गतो द्विजन्मनामपि मानार्हः। शतवर्षाणां दशधाविभागे दशम्यवस्था नवत्यधिका भवति ॥१३७॥

अ०—त्रिषु वर्णेषु पञ्चानां यत्र भूयांसि गुणवन्ति च स्युः सः दशमीं गतः शूद्रः अपि मानार्हः ॥१३७॥

तीनों वर्णों में तथा पाँचों गुणों में से जिसमें अधिक महत्त्वपूर्ण गुण हों वह तथा दसवें दशक में अर्थात् नब्वे वर्ष से अधिक आयुवाला शूद्र भी सम्मान के योग है ॥१३७॥

अयमपि पूजाप्रकारः प्रसङ्गादुच्यते—

चक्रिणो दशमीस्थस्य रोगिणो भारिणः स्त्रियाः।
स्नातकस्य च राज्ञश्च पन्था देयो वरस्य च ॥१३८॥

चक्रिण इति ॥ चक्रयुक्तरथादियानारूढस्य, नवत्यधिकवयसः, रोगार्तस्य, भारपीडितस्य, स्त्रियाः, अचिरनिवृत्तसमावर्तनस्य, देशाधिपस्य, विवाहाय प्रस्थितस्य पन्थास्त्यक्तव्यः। त्यागार्थत्वाञ्च ददातेर्न चतुर्थी ॥१३८॥

अ०—चक्रिणः, दशमीस्थस्य, रोगिणः, भारिणः, स्त्रियाः, स्नातकस्य च राज्ञः च वरस्य च पन्था देयः ॥१३८॥

रथादि पर आरूढ़, नब्वे वर्ष से अधिक आयु वाला, रोगी, भार उठाये

हुए, स्त्रियाँ तथा स्नातक, राजा एवं दूल्हा इन सबके लिए मार्ग छोड़ देना चाहिए ॥१३८॥

तेषां तु समवेतानां मान्यौ स्नातकपार्थिवौ।
राजस्नातकयोश्चैव स्नातको नृपमानभाक् ॥१३९

तेषामिति ॥ तेषामेकत्र मिलितानां देशाधिपस्नातकौ मान्यौ। राजस्नातकयोरपि स्नातक एव राजापेक्षया मान्यः। अतो 'राज' शब्दोऽत्र पूर्वश्लोके न केवलजातिवचनः। क्षत्रियजात्यपेक्षया 'ब्राह्मणं दशवर्षं तु' (२।१३५) इत्यनेन ब्राह्मणमात्रस्य मान्यत्वाभिधानात् स्नातकग्रहणवैयर्थ्याच्च ॥१३९॥

अ०—समवेतानां तेषां तु स्नातकपार्थिवौ मान्यौ राजास्नातकयोः च स्नातकः एव नृपमानभाक् ॥१३९॥

एक साथ इन सब के उपस्थित होने पर स्नातक तथा राजा माननीय हैं किन्तु राजा तथा स्नातक में से स्नातक ही राजा से अधिक पूजनीय है ॥१३९॥

आचार्यादिशब्दार्थमाह—

उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद्द्विजः।
सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते ॥१४०॥

उपनीयेति ॥ तैः शब्दैरिह शास्त्रे प्रायो व्यवहारात्। यो ब्राह्मणः शिष्यमुपनीय कल्परहस्यसहितां वेदशाखां सर्वामध्यापयति तमाचार्यं पूर्वे मुनयो वदन्ति। कल्पो यज्ञविद्या, रहस्यमुपनिषत्। वेदत्वेऽप्युपनिषदां प्राधान्यविवक्षया पृथङ्निर्देशः ॥१४०॥

अ०—यः द्विजः शिष्यम् उपनीय तु सकल्पं सरहस्यं च वेदम् अध्यापयेत्, तम् आचार्यं प्रचक्षते ॥१४०॥

जो ब्राह्मण शिष्य को उपनीत करके यज्ञविद्या, अध्यात्म विद्या तथा वेद पढ़ता है, वह आचार्य कहलाता है ॥१४०॥

१ सकल्पम्—कल्प सहित। कुल्लू०—यज्ञविद्या।

मेधातिथि—कल्प शब्द सभी वेदाङ्गों का वाचक है—कल्पशब्दः सर्वाङ्गप्रदर्शनार्थः।

२. सरहस्यम्—रहस्य सहित। कुल्लू०—उपनिषद् सहित।

सर्वज्ञ०—वेद तथा अङ्गों की अत्यन्त गुप्त व्याख्या, न कि उपनिषद् क्योंकि उसका ग्रहण तो वेद पद से ही हो जाता है।

३. आचार्यः—मन्त्र की व्याख्या करने वाला—'मन्त्रव्याख्याकृदाचार्यः' अ० को० ब्रह्मवर्ग द्वितीय काण्ड। उपनयन करवाके वेद का अध्यापन कराने वाला

आचार्य होता है—

'उपनीय दद्वेदमाचार्यः स उदाहृतः।' याज्ञ० I. ३४

एकदेशं तु वेदस्य वेदाङ्गान्यपि वा पुनः।
योऽध्यापयति वृत्त्यर्थमुपाध्यायः स उच्यते॥१४१॥

एकदेशमिति॥ वेदस्यैकदेशं मन्त्रं ब्राह्मणं च वेदरहितानि व्याकरणादीन्यङ्गानि यो वृत्त्यर्थमध्यापयति स उपाध्याय उच्यते ॥१४१॥

अ०—यः तु वेदस्य एकदेशं पुनः वेदाङ्गानि अपि वा, वृत्त्यर्थम् अध्यापयति, सः उपाध्यायः उच्यते ॥१४१॥

वेद के एक भाग (मन्त्र अथवा ब्राह्मण) को अथवा वेदाङ्गों (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरूक्त, छन्द एवं ज्योतिष) को जीविका के लिए जो पढ़ता है वह उपाध्याय कहलाता है ॥१४१॥

निषेकादीनि कर्माणि यः करोति यथाविधि।
संभावयति चान्नेन स विप्रो गुरुरुच्यते ॥१४२॥

निषेकादीनीति ॥ निषेको गर्भाधानं, तेन पितुरयं गुरुत्वोपदेशः। गर्भाधानादीनि संस्कारकर्माणि पितुरुपदिष्टानि यथाशास्त्रं यः करोति, अन्नेन च संवर्धयति स विप्रो गुरुरुच्यते ॥१४२॥

अ०—यः निषेकादीनि कर्माणि यथाविधि करोति, अन्नेन च सम्भावयति सः विप्रः गुरुः उच्यते ॥१४२॥

जो गर्भाधानादि संस्कार शास्त्रोक्त विधि से करता है तथा अन्न से भरण पोषण करता है वह विप्र गुरु कहलाता है ॥१४२॥

गर्भाधानादि संस्कार पिता के द्वारा ही किए जाते हैं अतः पिता ही गुरु है।

गुरुः—याज्ञ० के अनुसार संस्कार करने के साथ-साथ वेद पढ़ाने वाला गुरु कहलाता है—

"स गुरुर्यः क्रियाः कृत्वा वेदमस्मै प्रयच्छति" यज्ञ० १।३४

अग्न्याधेयं पाकयज्ञानग्निष्टोमादिकान्मखान्।
यः करोति वृतो यस्य स तस्यर्त्विगिहोच्यते ॥१४३॥

अग्न्याधेयमिति॥ आहवनीयाद्यग्न्युत्पादकं कर्माग्न्याधेयं, अष्टकादीन्पाकयज्ञान्, अग्निष्टोमादीन्यज्ञान्कृतवरणो यस्य करोति स तस्यर्त्विगिह शास्त्रेऽभिधीयते। ब्रह्मचारिधर्मेष्वनुपयुक्तमप्यृत्विग्लक्षणमाचार्यादिवदृत्विजोऽपि मान्यत्वं दर्शयितुं प्रसङ्गादुक्तम् ॥१४३॥

अ०—यः वृतः अग्नयाधेयं पाकयज्ञान् अग्निष्टोमादिकान् मखान् यस्य करोति स तस्य इह ऋत्विक् उच्यते ॥१४३॥

जो जिसके के लिए आह्वनीयादि अग्नि को उत्पन्न करने के कर्म का, जिसमें पकाए अन्न की आहुति दी जाती है ऐसे पाक यज्ञों का तथा अग्निष्टोमादि यज्ञों का वरण करता है वह उसका ऋत्विक् होता है। ॥१४३॥

कुल्लू०—ब्रह्मचर्याश्रम के कर्तव्यों के उपदेश के सन्दर्भ में यद्यपि ऋत्विक् का लक्षण कहना अनुचित है तथापि आचार्य के समान ऋत्विक् भी सम्माननीय है अतः आचार्य के प्रसङ्ग में यह लक्षण करना उचित ही है।

य आवृणोत्यवितथं ब्रह्मणा श्रवणावुभौ।
स माता स पिता ज्ञेयस्तं न द्रुह्येत्कदाचन ॥१४४॥

य आवृणोतीति ॥ य उभौ कर्णौ अवितथमिति वर्णस्वरवैगुण्यरहितेन सत्यरूपेण वेदेनापूरयति स माता पिता च ज्ञेयः। महोपकारकत्वगुणयोगादयमध्यापको 'माता-पितृ' शब्दवाच्यस्तं नापकुर्यात्। कदाचनेति गृहीते वेदे ॥१४४॥

अ०—यः उभौ श्रवणौ अवितथं ब्रह्मणा आवृणोति, स माता स पिता ज्ञेयः तं न कदाचन द्रुह्येत्। ॥१४४॥

जो कानों को सत्य ब्रह्म से आच्छादित करता है अर्थात् जो वेद पढ़ाता है उसे माता पिता समझना चाहिए उससे द्रोह कभी नहीं करना चाहिए ॥१४४॥

उपाध्यायान्दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता।
सहस्रं तु पितॄन्माता गौरवेणातिरिच्यते ॥१४५॥

उपाध्यायानिति ॥ दशोपाध्यायनपेक्ष्य आचार्यः, आचार्यशतमपेक्ष्य पिता; सहस्रं पितॄनपेक्ष्य माता गौरवेणातिरिक्ता भवति। अत्रोपनयनपूर्वकसावित्रीमात्राध्यापयिता आचार्योऽभिप्रेतः; तमपेक्ष्य पितुरुत्कर्षः। 'उत्पादकब्रह्मदात्रोः, (२।१४६) इत्यनेन मुख्याचार्यस्य पितरमपेक्ष्योत्कर्षं वक्ष्यतीत्यविरोधः ॥१४५॥

अ०—दश उपाध्यायान् आचार्यः, आचार्याणां शतं पिता, सहस्रं पितॄन् तु माता गौरवेण अतिरिच्यते ॥१४५॥

दश उपाध्यायों (धन लेकर अध्यापन करने वालों) की अपेक्षा आचार्य (उपनयन संस्कार करवाकर अध्यापन करने वाला), सौ आचार्यों की अपेक्षा पिता तथा हजारों पिताओं से माता गौरव की दृष्टि से उत्कृष्ट है। दूसरे शब्दों में उपाध्याय से दश गुना अधिक महत्त्व आचार्य का, आचार्य से सौ गुना महत्त्व पिता का तथा पिता से हजार गुना महत्त्व माता का है। ॥१४५॥

उत्पादकब्रह्मदात्रोर्गरीयान्ब्रह्मदः पिता।
ब्रह्मजन्म हि विप्रस्य प्रेत्य चेह च शाश्वतम् ॥१४६॥

उत्पादकेति ॥ जनकाचार्यौ द्वावपि पितरौ। जन्मदातृत्वात्। तयोराचार्यः

पिता गुरुतरः । यस्माद्विप्रस्य ब्रह्मग्रहणार्थं जन्मोपनयनसंस्काररूपं जन्म परलोके इहलोके च शाश्वतं नित्यम् । ब्रह्मप्राप्तिफलकत्वात् ॥१४६॥

अ०—उत्पादकब्रह्मदात्रोः ब्रह्मदः पितागरीयान्, हि विप्रस्य ब्रह्म जन्म प्रेत्य च इह च शाश्वतम् ॥१४६॥

जन्म देने वाले तथा वेद का ज्ञान देने वाले (इन दोनों) में वेद ज्ञान देने वाला पिता श्रेष्ठ है क्योंकि ब्राह्मण का ब्रह्म जन्म (उपनयन संस्कार से होने वाला जन्म) इस लोक में तथा दूसरे लोक में नित्य है ॥१४६॥

कामान्माता पिता चैनं यदुत्पादयतो मिथः ।
संभूतिं तस्य तां विद्याद्यद्योनावभिजायते ॥१४७॥

कामादिति ॥ मातापितरौ यदेनं बालकं कामवशेनान्योन्यमुत्पादयतः संभवमात्रं तत्तस्य पश्वादिसाधारणम् । यद्योनौ मातृकुक्षावभिजायतेऽङ्गप्रत्यङ्गानि लभते ॥१४७॥

अ०—माता पिता च कामाद् यद् एवं मिथः उत्पादयतः तस्य तां सम्भूतिं विद्याद् यद्योनौ अभिजायते ॥१४७॥

परस्पर कामवशीभूत होकर माता पिता इस (शिशु) को उत्पन्न करते हैं इसलिए योनि से उत्पन्न होने को इस (शिशु) का जन्म लेना ही समझना चाहिए अर्थात् माता पिता के कारण से होने वाले जन्म का महत्त्व गुरु के द्वारा होने वाले ब्रह्मजन्म की अपेक्षा कुछ भी नहीं है ॥१४७॥

आचार्यस्त्वस्य यां जातिं विधिवद्वेदपारगः ।
उत्पादयति सावित्र्या सा सत्या साऽजराऽमरा ॥१४८॥

आचार्य इति ॥ आचार्यः पुनर्वेदज्ञोऽस्य माणवकस्य यां जातिं यज्जन्म विधिवत्सावित्र्येति साङ्गोपनयनपूर्वकसावित्र्यनुवचनेनोत्पादयति सा जातिः सत्या अजराऽमरा च । ब्रह्मप्राप्तिफलत्वात् । उपनयनपूर्वकस्य वेदाध्ययनतदर्थज्ञानानुष्ठानैर्निष्कामस्य मोक्षलाभात् ॥१४८

अ०—वेदपारगः आचार्यः तु अस्य यां जातिं विधिवत् सावित्र्या उत्पादयति, सा सत्या अजरा अमरा ॥१४८॥

किन्तु वेदज्ञ आचार्य इस (बालक) को शास्त्रोक्त पद्धति से सावित्री के द्वारा जो जन्म देता है वह जन्म सत्य है, अजर है तथा अमर है ॥१४८॥

अल्पं वा बहु वा यस्य श्रुतस्योपकरोति यः ।
तमपीह गुरुं विद्याच्छ्रुतोपक्रियया तया ॥१४९॥

अल्पं वेति ॥ श्रुतस्य श्रुतेनेत्यर्थः । उपाध्यायो यस्य शिष्यस्याल्पं वा बहु वा

कृत्वा श्रुतेनोपकरोति तमपीह शास्त्रे तस्य गुरुं जानीयात्। श्रुतमेवोपक्रिया, तया श्रुतोपक्रियया ॥१४९॥

अ०—यः यस्य अल्पं वा बहु वा श्रुतस्य उपकरोति इह तया श्रुतोपक्रियया तमपि गुरुं विद्यात्।

जो थोड़ा अथवा अधिक वेदज्ञान से उपकार करता है, उसे वेद पढ़ाने के उपकार के कारण इस लोक में गुरु जानना चाहिए ॥१४९॥

ब्राह्मस्य जन्मनः कर्ता स्वधर्मस्य च शासिता।
बालोऽपि विप्रो वृद्धस्य पिता भवति धर्मतः ॥१५०॥

ब्राह्मस्येति ॥ ब्रह्मश्रवणार्थं जन्म ब्राह्ममुपनयनम्। स्वधर्मस्य शासिता वेदार्थव्याख्याता तादृशोऽपि बालो वृद्धस्य ज्येष्ठस्य पिता भवति। धर्मत इति पितृधर्मास्तस्मिन्ननुष्ठातव्याः ॥१५०॥

अ०—ब्राह्मस्य जन्मनः कर्ता स्वधर्मस्य च शासिता विप्रः बालः अपि वृद्धस्य धर्मतः पिता भवति ॥१५०॥

वेद पढने के अधिकार रूपी जन्म को देने वाला तथा अपने धर्म का शासन करने वाला अर्थात् धर्मशास्त्र पढ़ाने वाला ब्राह्मण आयु में छोटा होते हुए भी वृद्ध का धर्म से पिता होता है ॥१५०॥

प्रकृतानुरूपार्थवादमाह—

अध्यापयामास पितॄञ्शिशुराङ्गिरसः कविः।
पुत्रका इतिहोवाच ज्ञानेन परिगृह्य तान् ॥१५१॥

अध्यापयामासेति ॥ अङ्गिरसः पुत्रो बालः कविर्विद्वान् पितॄन्गौणान् पितृव्य तत्पुत्रादीनकवयसोऽध्यापितवान्। ताञ्ज्ञानेन परिगृह्य शिष्यान्कृत्वा 'पुत्रकाः' इति आजुहाव। इति ह इत्यव्ययं पुरावृत्तसूचनार्थम् ॥१५१॥

अ०—आंगिरसः शिशुः कविः पितॄन् अध्यापयामास, तान् ज्ञानेन परिगृह्य पुत्रकाः इति ह उवाच ॥१५१॥

प्राचीन काल में अङ्गिरस के क्रान्तदर्शी पुत्र ने पिताओं (पिता तुल्य चाचा, मामा, आदि श्रेष्ठों) को पढ़ाया तथा ज्ञान से स्वीकार करके 'पुत्रों' इस प्रकार सम्बोधित किया था ॥१५१॥

ते तमर्थमपृच्छन्त देवानागतमन्यवः।
देवाश्चैतान्समेत्योचुर्न्याय्यं वः शिशुरुक्तवान् ॥१५२॥

ते तमर्थमपृच्छन्तेति ॥ ते पितृतुल्याः 'पुत्रकाः' इत्युक्ता अनेन जातक्रोधाः 'पुत्रक' शब्दार्थं देवान्पृष्टवन्तः। देवाश्च पृष्टा मिलित्वा एतानवोचन्—युष्मान्य-

च्छिशुः 'पुत्र' शब्देनोक्तवांस्तद्युक्तम् ॥१५२॥

अ०—आगतमन्यवः ते देवान् तम् अर्थम् अपृच्छन्त, देवाश्च एतान् समेत्य ऊचुः शिशुः वः न्याय्यं उक्तवान् ॥१५२॥

क्रोध से आवेशित होकर उन्होंने (पिता तुल्य श्रेष्ठों ने) देवताओं से उसका (पुत्र कहने का) औचित्य पूछा तो देवताओं ने मिलकर कहा कि तुम लोगों को उस शिशु ने ठीक ही सम्बोधित किया है ॥१५२॥

अज्ञो भवति वै बालः पिता भवति मन्त्रदः ।
अज्ञं हि बालमित्याहुः पितेत्येव तु मन्त्रदम् ॥१५३॥

अज्ञ इति ॥ वैशब्दोऽवधारणे । अज्ञ एव बालो भवति न त्वल्पवयाः । मन्त्रदः पिता भवति । 'मन्त्र' ग्रहणं वेदोक्षणार्थम् । यो वेदमध्यापयति व्याचष्टे स पिता ॥१५३॥

अ०—अज्ञः बालः भवति, मन्त्रदः पिता भवति, हि अज्ञं बालं मन्त्रदं पिता इत्येव तु आहुः ॥१५३॥

ज्ञानहीन बालक होता है, मन्त्र देने वाला पिता होता है इसलिए अज्ञानी को बालक तथा मन्त्र देने वाले को पिता कहा जाता है ॥१५३॥

अत्रैव हेतुमाह—यस्मात्पूर्वेऽपि मुनयोऽज्ञं बालमित्यूचुः, मन्त्रदं च पितेत्येवाव्रुवन्नित्याह ।

न हायनैर्न पलितैर्न वित्तेन न बन्धुभिः ।
ऋषयश्चक्रिरे धर्मं योऽनूचानः स नो महान् ॥१५४॥

न हायनैरिति ॥ न बहुभिर्वर्षैः, न केशश्मश्रुलोमभिः शुक्लैः, न बहुना धनेन, न पितृव्यत्वादिभिर्बन्धुभावैः, समुदितैरप्येतैर्न महत्त्वं भवति, किंतु ऋषय इमं धर्मं कृतवन्तः । यः साङ्गवेदाध्येता सोऽस्माकं महान् संमतः ॥१५४॥

न तो वर्षों से, न सफेद बालों से, न सम्पत्ति से न बन्धुओं से (अपितु) ऋषियों ने यही धर्म निश्चित् किया है जो वेद एवं वेदाङ्गों के अध्यापन का सामर्थ्य रखता है वही हम सब में महान है ॥१५४॥

सम्पत्ति, बन्धु, आयु, कर्म तथा विद्या वे गुण हैं जो व्यक्ति को महान बनाते हैं मनु० १३६ । किन्तु यहां उपरोक्त गुणों से भी महत्वपूर्ण गुण वेद एवं वेदाङ्गों के अध्यापन का सामर्थ्य कहा गया है अर्थात् उपरोक्त आयु, सम्पत्ति आदि से छोटा भी व्यक्ति वेदाध्यापन के कारण महान है ।

विप्राणां ज्ञानतो ज्यैष्ठ्यं क्षत्रियाणां तु वीर्यतः ।
वैश्यानां धान्यधनतः शूद्राणामेव जन्मतः ॥१५५॥

विप्राणामिति ॥ ब्राह्मणानां विद्यया, क्षत्रियाणां पुनर्वीर्येण, वैश्यानां

धान्यवस्त्रादिधनेन, शूद्राणामेव पुनर्जन्मना श्रेष्ठत्वम् सर्वत्र तृतीयार्थे तसिः ।।१५५।।

अ०—विप्राणां ज्ञानतः क्षत्रियाणां तु वीर्यतः वैश्यानां धान्यधनतः शूद्राणाम् एव जन्मतः ज्यैष्ठ्यम् ।।१५५।।

विप्रों की ज्ञान से, क्षत्रियों की पराक्रम से, वैश्यों की अन्न एवं धन से तथा शूद्रों की आयु से श्रेष्ठता होती है ।।१५५।।

न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलितं शिरः ।
यो वै युवाप्यधीयानस्तं देवाः स्थविरं विदुः ।।१५६।।

न तेनेति ।। न तेन वृद्धो भवति येनास्य शुक्लकेशं शिरः किंतु युवापि सन् यो विद्वांस्तं देवाः स्थविरं जानन्ति ।।१५६।।

अ०—येन अस्य शिरः पलितं तेन वृद्धो न भवति, यः वै युवा अपि अधीयानः देवाः तं स्थविरं विदुः ।।१५६।।

किसी के बाल सफेद होने से वह वृद्ध नहीं होता अपितु देवता उसे वृद्ध मानते हैं जो आयु में छोटा होता हुआ भी विद्वान होता है । ।।१५६।।

यथा काष्ठमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः ।
यश्च विप्रोऽनधीयानस्त्रयस्ते नाम बिभ्रति ।।१५७।।

यथा काष्ठमय इति ।। यथा काष्ठघटितो हस्ती, यथा चर्मनिर्मितो मृगः, यश्च विप्रो नाधीते, त्रय एते नामामात्रं दधति, न तु हस्त्यादिकार्यं शत्रुवधादिकं कर्तुं क्षमन्ते ।।१५७।।

अ०—यथा काष्ठमयः हस्ती यथा चर्ममयः मृगः यश्च विप्रः अनधीयानः ते त्रयः नाम बिभ्रति ।।१५७।।

लकड़ी का हाथी तथा चमड़े का मृग (भूसा भरा हुआ पशु) एवं मूर्ख ब्राह्मण ये तीनों मात्र नाम को ही धारणा करते हैं अर्थात् महत्त्वहीन होते हैं ।।१५७।।

यथा षण्ढोऽफलः स्त्रीषु यथा गौर्गवि चाफला ।
यथा चाज्ञेऽफलं दानं तथा विप्रोऽनृचोऽफलः ।।१५८।।

यथा षण्ढ इति ।। यथा नपुंसकः स्त्रीषु निष्फलः, यथा च स्त्रीगवी गव्यामेव निष्फला, यथा चाज्ञे दानमफलं, तथा ब्राह्मणोऽप्यनधीयानो निष्फलः श्रौतस्मार्तकर्मानर्हतया तत्फलरहितः ।।१५८।।

अ०—यथा स्त्रीषु षण्ढः अफलः यथा गवि गौः अफला यथा च अज्ञे दानं अफलं तथा अनृचः विप्रः अफलः ।।१५८।।

जिस प्रकार नपुंसक व्यक्ति स्त्रियों में निष्फल है, गाय-गाय में निष्फल है तथा अपात्र में दान निष्फल है उसी प्रकार ऋचाओं से रहित ब्राह्मण निष्फल है । ।।१५८।।

अहिंसयैव भूतानां कार्यं श्रेयोऽनुशासनम् ।
वाक्चैव मधुरा श्लक्ष्णा प्रयोज्या धर्ममिच्छता ॥१५९॥

अहिंसयैवेति ॥ भूतानां शिष्याणां प्रकरणाच्छ्रेयोर्थमनुशासनमनतिहिंसया कर्तव्यम्, 'रज्ज्वा वेणुदलेन वा' (८।९९) इत्यल्पहिंसया अभ्यनुज्ञानात् । वाणी मधुरा प्रीतिजननी श्लक्ष्णया नोच्चैरुच्यते सा शिष्यशिक्षार्थं धर्मबुद्धिमिच्छता प्रयोक्तव्या ॥१५९॥

अ०—धर्मन् इच्छता भूतानाम् अहिंसया एव श्रेयोऽनुशासनं कार्यम् मधुराश्लक्ष्णा चैव वाक् प्रयोज्या ॥१५९॥

धर्मानुष्ठान के इच्छुक व्यक्तियों को प्राणियों का अनुशासन अहिंसा से ही करना चाहिए तथा मधुर एवं कोमल वाणी का ही प्रयोग करना चाहिए ॥१५९॥

इदानीं पुरुषमात्रस्य फलं धर्म वाङ्मनः संयममाह—

यस्यवाङ्मनसी शुद्धे सम्यग्गुप्ते च सर्वदा ।
स वै सर्वमवाप्नोति वेदान्तोपगतं फलम् ॥१६०॥

यस्येति ॥ अध्यापयितुरेव यस्य वाङ्मनश्चोभयं शुद्धं भवति, वागनृतादिभिरदुष्टा, मनश्च रागद्वेषादिभिरदूषितं भवति, एते वाङ्मनसी निषिद्धविषयप्रककणे सर्वदा यस्य पुंसः सुरक्षिते भवतः, स वेदान्तेऽवगतं सर्वं फलं सर्वज्ञत्वं सर्वेशानादिरूपं मोक्षलाभादवाप्नोति ॥१६०॥

अ०—यस्य वाङ्मनसी शुद्धे सर्वदा सम्यक्गुप्ते च, स वेदान्तोपगतं सर्वं फलं वै अवाप्नोति ॥१६०॥

जिसके वाणी एवं मन सदा ही शुद्ध एवं ठीक प्रकार से (विषयों से) रक्षित रहते हैं वही वेदान्त में कहे गए सारे फल(मोक्ष) को प्राप्त करता है ॥१६०॥

नारुन्तुदः स्यातोऽपि न परद्रोहकर्मधीः ।
ययास्योद्विजते वाचा नाऽलोक्यां तामुदीरयेत् ॥१६१॥

नारुंतुद इति ॥ अयमपि पुरुषमात्रस्यैव धर्मो नाध्यापकस्य । आर्तः पीडितोऽपि नारुंतुदः स्यान्न मर्मपीडाकरं तत्त्वदूषणमुदाहरेत् । तथा परस्य द्रोहोऽपकारस्तदर्थं कर्म बुद्धिश्च न कर्तव्या । तथा यया वाचाऽस्य परो व्यथते तां मर्मस्पृशमनालोक्यां स्वर्गादिप्राप्ति विरोधिनीं न वदेत् ॥१६१॥

अ०—आर्तः अपि अरुन्तुदः न स्यात्, परद्रोहकर्मधीः न, अस्य यया वाचा उद्विजते, अलोक्यां तां न उदीरयेत् ॥१६१॥

(परिस्थिति विशेष से) स्वयं दुखी पुरुष भी (द्वेष की भावना से) किसी को तंग न करे न ही दूसरे के प्रति विद्रोह की भावना करे तथा जिससे कोई दूसरा उद्विग्न हो तथा (उसके स्वयं के) स्वर्गादिफल प्राप्ति में जो बाधक हो ऐसे (कठोर) वचन न कहे ॥१६१॥

संमानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव ।
अमृतस्येव चाकाङ्क्षेदवमानस्य सर्वदा ॥१६२॥

संमानादिति ॥ ब्राह्मणः संमानाद्विषादिव सर्वदोद्विजेत संमाने प्रीतिं न कुर्यात् अमृतस्येव सर्वस्माल्लोकादवमानस्याकाङ्क्षेत्, अवमाने परेण कृतेऽपि क्षमावांस्तत्र खेदं न कुर्यात् । मानावमानद्वन्द्वसहिष्णुत्वमनेन विधीयते ॥१६२॥

अ०—ब्राह्मणः सम्मानाद् विषादिव नित्यम् उद्विजेत, अवमानस्य च अमृतस्य इव सर्वदा आकाङ्क्षेत् ॥१६२॥

ब्राह्मण सम्मान से विष के समान भयभीत रहे तथा अपमान की अमृत के समान हमेशा कामना करे ॥१६२॥

अवमानसहिष्णुत्वे हेतुमाह—

सुखं ह्यवमतः शेते सुखं च प्रतिबुध्यते ।
सुखं चरति लोकेऽस्मिन्नवमन्ता विनश्यति ॥१६३॥

सुखं ह्यवमतः शेत इति ॥ यस्मादवमाने परेण कृते तत्र खेदमकुर्वाणः सुखं निद्राति । अन्यथाऽवमानदुःखेन दह्यमानः कथं निद्रां लभते । कथं च सुखं प्रतिबुध्यते प्रतिबुद्धश्च कथं सुखं कार्येषु चरति ? अवमानकर्ता तेन पापेन विनश्यति ॥१६३॥

अ०—हि अवमतः सुखं शेते सुखं च प्रतिबुध्यते, अस्मिन् लोके सुखं चरति अवमन्ता विनश्यति ॥१६३॥

क्योंकि जिसका अपमान होता है वह सुख से सोता एवं उठता है तथा इस लोक में सुख से रहता है जबकि अपमान करने वाला नष्ट हो जाता है ॥१६३॥

अतः अपमान को सहन करे ।

अनेन क्रमयोगेन संस्कृतात्मा द्विजः शनैः ।
गुरौ वसन्संचिनुयाद्ब्रह्माधिगमिकं तपः ॥१६४॥

अनेनेति ॥ अनेन क्रमकथितोपायेन जातकर्मादिनोपनयनपर्यन्तेन संस्कृतो द्विजो गुरुकुले वसन् शनैरत्वरया वेदग्रहणार्थं तपोऽभिहिताभिधास्यमाननियमकलापरूपमनुतिष्ठेत् । विध्यन्तरसिद्धस्याप्ययमर्थवादोऽध्ययनाङ्गत्वबोधनाय ॥१६४॥

अ०—अनेन क्रमयोगेन संस्कृतात्मा द्विजः गुरौ वसन् शनैः ब्रह्माधिगमिकं तपः सञ्चिनुयात् ॥१६४॥

इस क्रम (निषेक से उपनयन पर्यन्त) संस्कार से पवित्र आत्मा द्विज गुरु के पास रहता हुआ धीरे-धीरे वेद प्राप्ति के लिए तप का सञ्चय करे ॥१६४॥

अध्ययनाङ्गत्वमेव स्पष्टयति—

तपोविशेषैर्विविधैर्व्रतैश्च विधिचोदितैः ।
वेदः कृत्स्नोऽधिगन्तव्यः सरहस्यो द्विजन्मना ॥१६५॥

तपोविशेषैरिति ॥ तपोविशेषैर्नियमकलापैर्विविधैर्बहुप्रकारैश्च 'अध्येष्यमाण-स्त्वाचान्तः' (२।७०) इत्यादिनोक्तैः, 'सेवेतेमांस्तु नियमान्' (२।१७५) इत्यादिभिर्वक्ष्यमाणैरपि, व्रतैश्चोपनिषन्महानाम्निकादिभिर्विधिचोदितैः स्वगृह्यविहितैः समग्रवेदो मन्त्रब्राह्मणात्मकः सोपनिषत्कोऽप्यध्येतव्यः । रहस्यमुपनिषदः । प्राधान्य-ख्यापनाय पृथङ्निर्देशः ॥१६५॥

अ०—द्विजन्मना तपो विशेषैः विधिचोदितैः व्रतैः च सरहस्यः कृत्स्नः वेदः अधिगन्तव्यः ॥१६५॥

द्विजको विशेष तपों से तथा शास्त्रोक्त व्रतों के द्वारा उपनिषद् सहित अथवा गूढ़ अर्थों सहित संपूर्ण वेद का अध्ययन करना चाहिए ॥१६५॥

वेदमेव सदाभ्यस्येत्तपस्तप्स्यन्द्विजोत्तमः ।
वेदाभ्यासो हि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते ॥१६६॥

वेदमेवेति ॥ यत्र नियमानामङ्गत्वमुक्तं तत्कृत्स्नस्वाध्यायाध्ययनमनेन विधत्ते । तपस्तप्स्यंश्चरिष्यन्द्विजो वेदमेव ग्रहणार्थमावर्तयेत् । तस्माद्वेदाभ्यास एव विप्रादेरिह लोके प्रकृष्टं तपो मुनिभिरभिधीयते ॥१६६॥

अ०—द्विजोत्तमः तपः तप्स्यन् वेदमेव सदा अभ्यसेत् हि इह विप्रस्य वेदाभ्यासः परं तपः उच्यते ॥१६६॥

ब्राह्मण तपस्या करता हुआ सदा वेद का ही अभ्यास करे क्योंकि इस लोक में ब्राह्मण का वेदाभ्यास ही उत्कृष्ट तप कहा गया है ॥१६६॥

आ हैव स नखाग्रेभ्यः परमं तप्यते तपः ।
यः स्रग्व्यपि द्विजोऽधीते स्वाध्यायं शक्तितोऽन्वहम् ॥१६७॥

आ हैवेति ॥ स्वाध्यायाध्ययनस्तुतिरियम् । हशब्दः परमशब्दविहितस्यापि प्रकर्षस्य सूचकः । स द्विज आ नखाग्रेभ्य एव चरणनखपर्यन्तं सर्वदेहव्यापकमेव प्रकृष्टतमं तपस्तप्यते । यः स्रग्व्यपि कुसुममालाधार्यपि प्रत्यहं यथाशक्ति स्वाध्यायमधीते । स्रग्व्यपीत्यनेन वेदाध्ययनाय ब्रह्मचारिनियमत्यागमपि स्तुत्यर्थं दर्शयति । तप्यत इति 'तपस्तपः कर्मकस्यैव' (पा० ३।१।८८) इति यणात्मनेपदे भवतः ॥१६७॥

अ०—यः स्रग्वी अपि द्विजः शक्तितः अन्वहं स्वाध्यायम् अधीते सः आ नखाग्रेभ्यः एव हि परमं तपः तप्यते ॥१६७॥

जो मालाधारी (ब्रह्मचर्य नियमों का उल्लंघन करने वाला) भी द्विज यथाशक्ति प्रतिदिन वेद पढ़ता है वह पैर के नाखून तक (संपूर्ण शरीर) से श्रेष्ठ तपस्या

करता है अर्थात् व्रतनियमों के द्वारा तपस्या करके शरीर को सुखाया जाता है किंतु इसके विपरीत ब्रह्मचर्य आश्रम के नियमों का पालन न करने वाला (माला आदि धारण करना ब्रह्मचारी के लिए निषद्ध है मनु० २।१७७) भी वेदाध्ययन के द्वारा समग्र तपस्या का लाभ प्राप्त करता है ॥१६७॥

योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम् ।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः ॥१६८॥

योऽनधीत्येति ॥ यो द्विजो वेदमनधीत्यान्यत्रार्थशास्त्रादौ श्रमं यत्नातिशयं करोति स जीवन्नेव पुत्रपौत्रादिसहितः शीघ्रं शूद्रत्वं गच्छति। वेदमनधीत्यापि स्मृतिवेदाङ्गाध्ययने विरोधाभावः। अत एव शङ्ख-लिखितौ—'न वेदमनधीत्यान्यां विद्यामधीयीतान्यत्र वेदाङ्गस्मृतिभ्यः' ॥१६८॥

अ०—यः द्विजः वेदम् अनधीत्य अन्यत्र श्रमं कुरुते सः जीवन् एव आशु सान्वयं शूद्रत्वं गच्छति ॥१६८॥

जो द्विजन्मा वेद को न पढ़ कर कहीं और दूसरे शास्त्र में परिश्रम करता है वह जीते हुए(इस जन्म में) जल्दी ही कुल सहित शूद्रत्व को प्राप्त करता है ॥१६८॥

द्विजानां तत्र तत्राधिकारश्रुतेर्द्विजत्वनिरूपणार्थमाह—

मातुरग्रेऽधिजननं द्वितीयं मौञ्जिबन्धने ।
तृतीयं यज्ञदीक्षायां द्विजस्य श्रुतिचोदनात् ॥१६९॥

मातुरग्र इति ॥ मातुः सकाशादादौ पुरुषस्य जन्म। द्वितीयं मौञ्जिबन्धने उपनयने। 'ङ्यापोः संज्ञाछन्दसोर्बहुलम्' (पा० ६।३।६३) इति ह्रस्वः; तृतीयं ज्योतिष्टोमादियज्ञदीक्षायां वेदश्रवणात्। तथा च श्रुतिः 'पुनर्वा यदृत्विजो यज्ञियं कुर्वन्ति यद्दीक्षयन्ति' इति। प्रथमद्वितीयतृतीयजन्मकथनं चेदं द्वितीयजन्मस्तुत्यर्थं, द्विजस्यैव यज्ञदीक्षायामप्यधिकारात् ॥१६९॥

अ०—द्विजस्य अग्रे मातुः अधिजननं मौञ्जीबन्धने द्वितीयं जन्म यज्ञदीक्षायां श्रुति चोदनात् तृतीयम् ॥१६९॥

वेद के अनुसार द्विजन्मा का पहला जन्म माता से उपनयन संस्कार से दूसरा तथा यज्ञ की दीक्षा से तीसरा जन्म होता है ॥१६९॥

तत्र यद्ब्रह्मजन्मास्य मौञ्जीबन्धनचिह्नितम् ।
तत्रास्य माता सावित्री पिता त्वाचार्य उच्यते ॥१७०॥

तत्रेति ॥ तेषु त्रिषु जन्मसु मध्ये यदेतद्ब्रह्मग्रहणार्थं जन्मोपनयनसंस्काररूपं मेखलाबन्धनोपलक्षितं तत्रास्य माणवकस्य सावित्री माता, आचार्यश्च पिता, मातृपितृसंपाद्यत्वाज्जन्मनः ॥१७०॥

अ०—तत्र अस्य मौञ्जीबन्धनचिह्नितं यद् ब्रह्मजन्म तत्र अस्य माता सावित्री आचार्यस्तु पिता उच्यते ॥१७०॥

इसका (बालक का) मौञ्जीबन्धन से लक्षित जो वेदाध्ययन अधिकार रूप जन्म उपनयन संस्कार है वहां इसकी माता सावित्री तथा पिता आचार्य है ॥१७०॥

वेदप्रदानादाचार्यं पितरं परिचक्षते ।
न ह्यस्मिन्युज्यते कर्म किंचिदामौञ्जिबन्धनात् ॥१७१॥

वेदप्रदानादिति ॥ वेदाध्यापनादाचार्यं पितरं मन्वादयो वदन्ति । पितृवन्महोपकारफलाद्गौणं पितृत्वम् । महोपकारमेव दर्शयति—न ह्यस्मिन्निति । यस्मादस्मिन्माणवके प्रागुपनयनात्किचित्कर्म श्रौतं स्मार्तं च न संबध्यते, न तत्राधिक्रियत इत्यर्थः ॥१७१॥

अ०—वेदप्रदानाद् आचार्यं पितरं परिचक्षते, हि अस्मिन् आमौञ्जिबन्धनात् किञ्चित् कर्म न युज्यते ॥१७१॥

वेदज्ञान देने के कारण आचार्य को पिता कहा जाता है क्योंकि मौञ्जी बन्धन (उपनयन संस्कार) से पूर्व इस (बालक) में कोई (वैदिक) कर्म युक्त नहीं होता अर्थात् मनुष्य उपनयन संस्कार से पूर्व वैदिक कर्म का अधिकारी नहीं होता॥१७१॥

नाभिव्याहारयेद् ब्रह्म स्वधानिनयनादृते ।
शूद्रेण हि समस्तावद्यावद्वेदे न जायते ॥१७२॥

नाभिव्याहारयेदिति॥ आमौञ्जिबन्धनादित्यनुवर्तते । प्रागुपनयनाद्वेदं नोच्चारयेत् । 'स्वधा' शब्देन श्राद्धमुच्यते । निनीयते निष्पाद्यते येन मन्त्रजातेन तद्वर्जयित्वा मृतपितृको नवश्राद्धादौ मन्त्रं नोच्चारयेत् । तद्व्यतिरिक्तं वेदं नोदाहरेत् । यस्माद्यावद्वेदे न जायते तावदसौ शूद्रेण तुल्यः ॥१७२॥

अ०—स्वधानिनयनाद् ऋते ब्रह्म न अभिव्यवहारयेत, हि यावद् वेदे न जायते तावत् शूद्रेण समः ॥१७२॥

श्राद्ध के वैदिक मन्त्रों को छोड़कर वेद का उच्चारण (उपनयन से पूर्व) न करे क्योंकि जब तक वेद में उसका जन्म (उपनयन) नहीं होता तब तक वह शूद्र के समान है ॥१७२॥

कृतोपनयनस्यास्य व्रतादेशनमिष्यते ।
ब्रह्मणो ग्रहणं चैव क्रमेण विधिपूर्वकम् ॥१७३॥

कृतोपनयनस्येति ॥ यस्मादस्य माणवकस्य 'समिधमाधेहि' (गृ०सू०१।२२।६) 'दिवा मा स्वाप्सीः' (गृ० सू० १।२२।२) इत्यादिव्रतादेशनं वेदस्याध्ययनं मन्त्र-

ब्राह्मणक्रमेण 'अध्येष्यमाणस्त्वाचान्तः' (२।७०) इत्यादिविधिपूर्वकमुपनीतस्योपदिश्यते, तस्मादुपनयनात्पूर्वं न वेदमुदाहरेत् ॥१७३॥

अ०—कृतोपनयनस्य अस्य व्रतादेशनं क्रमेण विधिपूर्वकं ब्रह्मणः ग्रहणञ्च इष्यते ॥१७३॥

जिसका उपनयन संस्कार हो चुका है उसको व्रतों का आदेश एवं शास्त्रोक्त विधि से वेद का ग्रहण क्रम से इष्ट (कल्याणकारी) है ॥१७३॥

यद्यस्य विहितं चर्म यत्सूत्रं या च मेखला।
यो दण्डो यच्च वसनं तत्तदस्य व्रतेष्वपि ॥१७४॥

यद्यस्येति ॥ यस्य ब्रह्मचारिणो यानि चर्मसूत्रमेखलादण्डवस्त्राण्युपनयनकाले गृह्येण विहितानि, गोदानादिव्रतेष्वपि तान्येव नवानि कर्तव्यानि ॥१७४॥

अ०—यस्य यत् चर्मं यत् सूत्रं विहितं या च मेखला दण्डः यच्च वसनं तत् तत् अस्य व्रतेषु अपि (ज्ञेयम्) ॥१७४॥

जिसके जो चर्म, सूत्र, मेखला एवं दण्ड तथा वस्त्र कह गए हैं वही व्रतो के अनुष्ठान के समय में भी समझने चाहिएं ॥१७४॥

ब्रह्मचर्याश्रम के पश्चात् गृहस्थाश्रम में भी जिस किसी व्रत को करने का नियम द्विजन्मा ले उस अवधि में ब्रह्मचर्याश्रम में कहे गए दण्ड, मेखलादि को ही धारण करे।

सेवेतेमांस्तु नियमान्ब्रह्मचारी गुरौ वसन्।
सन्नियम्येन्द्रियग्रामं तपोवृद्ध्यर्थमात्मनः ॥१७५॥

सेवेतेति ॥ ब्रह्मचारी गुरुसमीपे वसन्निन्द्रियसंयमं कृत्वानुगतादृष्टवृद्धयर्थमिमान्नियमाननुतिष्ठेत् ॥१७५॥

अ०—ब्रह्मचारी गुरौवसन् आत्मनः तपोवृद्धयर्थम् इन्द्रियग्रामं सन्नियम्य इमाम् नियमान् तु सेवेत ॥१७५॥

ब्रह्मचारी गुरु के पास रहता हुआ अपने तप में वृद्धि के लिए इन्द्रियों के समूह को ठीक प्रकार से वशीभूत करके इन नियमों का पालन करे ॥१७५॥

नित्यं स्नात्वा शुचिः कुर्याद्देवर्षिपितृतर्पणम्।
देवताभ्यर्चनं चैव समिदाधानमेव च ॥१७६॥

नित्यमिति ॥ प्रत्यहं स्नात्वा देवर्षिपितृभ्य उदकदानं, प्रतिमादिषु हरिहरादिदेवपूजनं, सायंप्रातश्च समिद्धोमं कुर्यात्। यस्तु गौतमीये स्नाननिषेधो ब्रह्मचारिणः स सुखस्नानविषयः। अत एव बौधायनः (२।३८)—'नाप्सु श्लाघमानः स्नायात्'। विष्णुनात्र—'कालद्वयमभिषेकाग्निकार्यकरणमप्सु दण्डवन्मज्जनम्' इति ब्रुवाणेन

वारद्वयं स्नानमुपदिष्टम् ॥१७६॥

अ०—(ब्रह्मचारी) नित्यं स्नात्वा शुचिः एव देवर्षितर्पणं देवताभ्यर्चनं च समिदाधानञ्च कुर्यात् ॥१७६॥

(ब्रह्मचारी) प्रति दिन स्नान करके शुद्ध होकर ही देवताओं एवं ऋषियों का तर्पण तथा देवताओं की अर्चना एवं हवन करे ॥१७६॥

वर्जयेन्मधु मांसं च गन्धं माल्यं रसान्स्त्रियः ।
शुक्तानि यानि सर्वाणि प्राणिनां चैव हिंसनम् ॥१७७॥

वर्जयेदिति ॥ क्षौद्रं मांसं च न खादेत् । गन्धं च कर्पूरचन्दनकस्तूरिकादि वर्जयेत् । एषां च गन्धानां यथासंभवं भक्षणमनुलेपनं च निषिद्धम् । माल्यं च न धारयेत् । उद्रिक्तरसांश्च गुडादीन्न खादेत् । स्त्रियश्च नोपेयात् । यानि स्वभावतो मधुरादिरसानि कालवशेनोदकवासादिना चाम्लयन्ति तानि शुक्तानि न खादेत् । प्राणिनां हिंसां न कुर्यात् ॥१७७॥

अ०—मधुमांसं गन्धं माल्यं रसान्स्त्रियः च यानि सर्वाणि शुक्तानि प्राणिनां हिंसनं चैव वर्जयेत् ॥१७७॥

ब्रह्मचारी मद्य, मांस, सुगन्ध, फूलों के हार, रस युक्त पदार्थ, स्त्री, स्वभाव से नहीं अपितु वासी होने के कारण अम्लत्व को प्राप्त पदार्थ तथा प्राणियों की हिंसा से भी संयम (परहेज) रखे ॥१७७॥

अभ्यङ्गमञ्जनं चाक्ष्णोरुपानच्छत्रधारणम् ।
कामं क्रोधं च लोभं च नर्तनं गीतवादनम् ॥१७८॥

अभ्यङ्गमिति ॥ तैलादिना शिरःसहितदेहमर्दनलक्षणं, कज्जलादिभिश्च चक्षुषोरञ्जनं, पादुकायाश्छत्रस्य च धारणं, कामं मैथुनातिरिक्तविषयाभिलाषातिशयम् । मैथुनस्य स्त्रिय इत्यनेनैव निषिद्धत्वात् । क्रोधलोभनृत्यगीतवीणापणवादि वर्जयेत् ॥१७८॥

अ०—अभ्यङ्गम् अक्ष्णोः अञ्जनं च उपानच्छत्रधारणं कामं क्रोधं च लोभं च नर्तनं गीतवादनम् (वर्जयेत्) ॥१७८॥

सभी अङ्गों में तेल मालिश, आंखों में काजल-सुरमा लगाना, जूते तथा छाता धारण करना, काम, क्रोध, लोभ, नाच, गाना-बजाना न करे ॥१७८॥

द्यूतं च जनवादं च परिवादं तथानृतम् ।
स्त्रीणां च प्रेक्षणालम्भमुपघातं परस्य च ॥१७९॥

द्यूतं चेति ॥ अक्षक्रीडां, जनैः सह निरर्थकवाक्कलहं, परस्य दोषवादं, मृषाभिधानं, स्त्रीणां च मैथुनेच्छया सानुरागेण प्रेक्षणालिङ्गनं, परस्य चापकारं वर्जयेत् ॥१७९॥

अ०—(ब्रह्मचारी) द्यूतं जनवादं परिवादं तथा अनृतं स्त्रीणां प्रेक्षणालम्भौ परस्य उपघातं च (वर्जयेत्) ॥१७६॥

(ब्रह्मचारी) जूआ, ईर्ष्या से दूसरे की निन्दा, व्यर्थ वाद विवाद, झूठ, स्त्रियों को देखना तथा आलिङ्गन करना तथा दूसरे का अपकार (न करे) ॥१७६॥

एकः शयीत सर्वत्र न रेतः स्कन्दयेत्क्वचित् ।
कामाद्धि स्कन्दयन्रेतो हिनस्ति व्रतमात्मनः ॥१८०॥

एक इति ॥ सर्वत्र नीचशय्यादावेकाकी शयनं कुर्यात् । इच्छया न स्वशुक्रं पातयेत् । यस्मादिच्छया स्वमेहनाच्छुक्रं पातयन्स्वकीयव्रतं नाशयति । व्रतलोपे चावकीर्णिप्रायश्चित्तं कुर्यात् ॥१८०॥

अ०—सर्वत्र एकः शयीत क्वचिद् रेतः न स्कन्दयेत् हि कामाद् रेतः स्कन्दयन् आत्मनः व्रतं हिनास्ति ॥१८०॥

(ब्रह्मचारी) सभी स्थानों पर अकेला सोए कहीं पर भी शुक्र (वीर्य) न गिराए क्योंकि काम के वशीभूत होकर वीर्य गिराते हुए अपने व्रत को नष्ट करता है अर्थात् वीर्य गिराने से व्रत भङ्ग हो जाता है ॥१८०॥

स्वप्ने सिक्त्वा ब्रह्मचारी द्विजः शुक्रमकामतः ।
स्नात्वाऽर्कमर्चयित्वा त्रिः पुनर्मामित्यृचं जपेत् ॥१८१॥

स्वप्न इति ॥ ब्रह्मचारी स्वप्नादावनिच्छया रेतः सिक्त्वा कृतस्नानश्चन्दनाद्यनुलेपनपुष्पधूपादिभिः, सूर्यमभ्यर्च्य 'पुनर्मामैत्विन्द्रियम्' (आश्व. गृ.३।६) इत्येतामृचं वारत्रयं पठेत् । इदमत्र प्रायश्चित्तम् ॥१८१॥

अ०—ब्रह्मचारी द्विजः स्वप्ने अकामतः शुक्रं सिक्त्वा स्नात्वा अर्कम् अर्चयित्वा पुनर्माम इति ऋचं त्रिः जपेत् ॥१८१॥

ब्रह्मचारी द्विज स्वप्न में बिना काम विकार से वीर्यपात होने पर सूर्य की अर्चना करके 'पुनर्माम' से प्रारम्भ होने वाली ऋचा (मन्त्र) को तीन बार जपे ॥१८१॥

अनिच्छा से वीर्यपात होने पर उपरोक्त प्रायश्चित कहा गया इच्छापूर्वक वीर्यपात का प्रायश्चित मनु ने IX. (११८-१२३) श्लोकों में कहा है इसके अनुसार दोषी व्यक्ति को काणे गधे की चर्बी से 'निर्ऋति' नामक देवता के उद्देश्य से यज्ञ करना चाहिए तथा गधे की खाल पहनकर एक वर्ष तक सात घरों से अपना पाप कहते हुए भिक्षा लेकर एक समय भोजन तथा तीन समय स्नान करना चाहिए।

उदकुम्भं सुमनसो गोशकृन्मृत्तिकाकुशान् ।
आहरेद्यावदर्थानि भैक्षं चाहरहश्चरेत् ॥१८२॥

उदकुम्भमिति ॥ जलकलशपुष्पगोमयमृत्तिकाकुशान् यावदर्थानि यावद्भिः प्रयोजनानि आचार्यस्य तावन्त्याचार्यार्थमाहरेत् । अत एवोदकुम्भमित्यत्रैकत्वमप्यविवक्षितम् । प्रदर्शनार्थं चैतत् । अन्यदप्याचार्योपयुक्तमुपाहरेद्भैक्षं च प्रत्यहमर्जयेत् ॥१८२॥

अ०—उदकुम्भं सुमनसः गोशकृन्मृत्तिकाकुशान् यावदर्थानि आहरेत्, अहरहः भैक्षं च चरेत् ॥१८२॥

जल का घड़ा, पुष्प, गोबर, मिट्टी और कुशा आवश्यकता के अनुसार लाए तथा नित्य भिक्षाटन करे ॥१८२॥

वेदयज्ञैरहीनानां प्रशस्तानां स्वकर्मसु ।
ब्रह्मचार्याहरेद्भैक्षं गृहेभ्यः प्रयतोऽन्वहम् ॥१८३॥

वेदयज्ञैरिति ॥ वेदयज्ञैश्चात्यक्तानां स्वकर्मसु दक्षाणां गृहेभ्यः प्रत्यहं ब्रह्मचारी सिद्धान्नभिक्षासमूहमाहरेत् ॥१८३॥

अ०—ब्रह्मचारी वेदयज्ञैः अहीनानां स्वकर्मसु प्रशस्तानां (जनानां) गृहेभ्यः अन्वहं प्रयतः सन् भैक्षम् आहरेत् ॥१८३॥

ब्रह्मचारी वेद तथा यज्ञों से युक्त अर्थात् वेद पढ़ने तथा यज्ञ करने वालों एवं अपने काम में कुशल व्यक्तियों के (ही) घर से नित्य प्रति पवित्र होते हुए भिक्षाटन करे ॥१८३॥

सभी के यहां से नहीं अपितु उपरोक्त गुणों से युक्त व्यक्तियों के घर से ही भिक्षा लेने का विधान है ।

गुरोः कुले न भिक्षेत न ज्ञातिकुलबन्धुषु ।
अलाभे त्वन्यगेहानां पूर्वं पूर्वं विवर्जयेत् ॥१८४॥

गुरोः कुल इति ॥ आचार्यस्य सपिण्डेषु, बन्धुषु, मातुलादिषु च न भिक्षेत । तद्गृहव्यतिरिक्तभिक्षायोग्यगृहाभावे चोक्तेभ्यः पूर्वं पूर्वं वर्जयेत् । ततश्च प्रथमं बन्धून्भिक्षेत, तत्रालाभे ज्ञातीन्, तत्रालाभे गुरोरपि ज्ञातीन्भिक्षेत ॥१८४॥

अ०—गुरोः कुले न भिक्षेत ज्ञातिकुलबन्धुषु न (भिक्षेत) अन्यगेहानां अलाभे तु पूर्वं पूर्वं विवर्जयेत् ॥१८४॥

गुरु के कुल में, दायादों में (पितृ पक्ष के लोगों में) अन्य सम्बन्धी एवं मित्रों में भिक्षाटन न करे, दूसरे घरों से भिक्षा प्राप्त न होने पर पूर्व पूर्व का परहेज करे। अर्थात् अन्य घरों से भिक्षा न मिलने पर (गुरु के) मित्रों से, मित्रों के यहां प्राप्ति न होने पर पितृ पक्ष के चाचा आदि के यहां जाए वहां भी असफल रहे तब गुरु के कुल में भिक्षा मांगे ॥१८४॥

सर्वं वापि चरेद्ग्रामं पूर्वोक्तानामसंभवे।
नियम्य प्रयतो वाचमभिशस्तांस्तु वर्जयेत् ॥१८५॥

सर्वं वेति ॥ पूर्वं 'वेदयज्ञैरहीनानाम्' (२।१८३) इत्यनेनोक्तानामसंभवे सर्वं वा ग्राममुक्तगुणरहितमपि शुचिर्मौनी भिक्षेत्। महापातकाद्यभिशस्तांस्त्यजेत् ॥१८५॥

अ०—पूर्वोक्तानाम् असम्भवे प्रयतः वाचं नियम्य अभिशस्तान् तु वर्जयेत् सर्वं ग्रामम् चरेत् ॥१८५॥

पूर्व कहे गए (गुरु कुल, ज्ञाति कुलादि) घरों से भी (भिक्षा) सम्भव न होने पर पवित्र होकर वाणी को नियन्त्रित करके महापातक से युक्त लोगों को छोड़कर सारे गांव में भिक्षाटन करे ॥१८५॥

ब्राह्मण की हत्या अथवा वेद का अपमान, मदिरा सेवन, चोरी, गुरु की स्त्री से संभोग तथा ऐसा कर्म करने वालों से संसर्ग ये पांच महापातक हैं।

ब्रह्महत्या सुरापानं स्तेयं गुर्वांगनागमः,
महान्ति पातकान्याहुस्तत्संसर्गश्च पञ्चमम्। मनु० XI. ५४

दूरादाहृत्य समिधः संनिदध्याद्विहायसि।
सायंप्रातश्च जुहुयात्ताभिरग्निमतन्द्रितः ॥१८६॥

दूरादिति ॥ दूराद्दिग्भ्यः परिगृहीतवृक्षेभ्यः समिध आनीय आकाशे धारणाशक्तः पटलादौ स्थापयेत्। ताभिश्च समिद्भिः सायंप्रातरनले होमं कुर्यात् ॥१८६॥

अ०—दूरात् समिधः आहृत्य विहायसि सन्निदध्यात् ताभिः अतन्द्रितः प्रातः सायम् अग्नि जुहुयात् ॥१८६॥

दूर से लकड़ियां लाकर (सुखाने के लिए) आकाश पर (छप्पर अथवा मचानादि पर) ठीक प्रकार से रखे तथा उन्हीं से आलस्य रहित होकर दोनों संध्याओं के समय होम करे ॥१८६॥

अकृत्वा भैक्षचरणमसमिध्य च पावकम् ॥
अनातुरः सप्तरात्रमवकीर्णिव्रतं चरेत् ॥१८७॥

अकृत्वेति ॥ भिक्षाहारं, सायंप्रातः समिद्धोमं, अरोगो नैरन्तर्येण सप्तरात्रमकृत्वा लुप्तव्रतो भवति। ततश्चावकीर्णिप्रायश्चित्तं कुर्यात् ॥१८७॥

अ०—भैक्षचरणम् अकृत्वा पावकम् असमिध्य च अनातुरः सप्तरात्रम् अवकीर्णिव्रतं चरेत् ॥१८७॥

(स्वस्थ होने पर यदि) भिक्षा में प्राप्त अन्न का आहार न करके एक सप्ताह तक होम न करने पर अवकीर्णि नामक प्रायश्चित करे ॥१८७॥

इस प्रायश्चित को इच्छापूर्वक ब्रह्मचर्य भङ्ग करने पर करना पड़ता है। इसकी विधि इसी अध्याय के १८१ वें श्लोक की व्याख्या में बताई गई है।

भैक्षेण वर्तयेन्नित्यं नैकान्नादी भवेद्व्रती।
भैक्षेण व्रतिनो वृत्तिरुपवाससमा स्मृता ॥१८८॥

भैक्षेणेति ॥ ब्रह्मचारी न एकान्नमद्यात्किंतु बहुगृहाहृतभिक्षासमूहेन प्रत्यहं जीवेत्। यस्माद्भिक्षासमूहेन ब्रह्मचारिणो वृत्तिरुपवासतुल्या मुनिभिः स्मृता ॥१८८॥

अ०—व्रती भैक्षेण नित्यं वर्तयेत्, एकान्नादी न भवेत्, व्रतिनः भैक्षेण वृत्तिः उपवाससमा स्मृता ॥१८८॥

ब्रह्मचर्य व्रत धारण करने वाले को नित्य भिक्षाटन करना चाहिए एवं एक का अन्न खाने वाला नहीं होना चाहिए अर्थात् भिक्षा कई जगह घूम घूमकर इकट्ठी करनी चाहिए ब्रह्मचारी का भिक्षा से जीवन यापन करना उपवास के समान कहा गया है ॥१८८॥

व्रतवद्देवदैवत्ये पित्र्ये कर्मण्यथर्षिवत्।
काममभ्यर्थितोऽश्नीयाद् व्रतमस्य न लुप्यते ॥१८९॥

व्रतवदिति ॥ पूर्वनिषिद्धस्यैकान्नभोजनस्यायं प्रतिप्रसवः। देवदैवत्ये कर्मणि देवतोद्देशेनाभ्यर्थितो ब्रह्मचारी व्रतवदितिव्रतविरुद्धमधुमांसादिवर्जितमेकस्याप्यन्नं यथेप्सितं भुञ्जीत। अथ पित्रुद्देशेनाभ्यर्थितो भवति तदा ऋषिर्यतिः सम्यग्दर्शनसंपन्नत्वात्स इव मधुमांसवर्जितमेकस्याप्यन्नं यथेप्सितं भुञ्जीत इति स एवार्थो वैदग्ध्येनोक्तः, तथापि भैक्षवृत्तिनियमरूपं व्रतमस्य लुप्तं न भवति। याज्ञवल्क्योऽपि श्राद्धेऽभ्यर्थितस्यैकान्नभोजनमाह—'ब्रह्मचर्ये स्थितो नैकमन्नमद्यादनापदि ब्राह्मणः काममश्नीयाद्श्राद्धे व्रतमपीडयन् ॥' (याज्ञ. स्मृ. १।३२)—इति। विश्वरूपेण तु 'व्रतमस्य न लुप्यते' इति पश्यता ब्रह्मचारिणो मांसभक्षणमनेन मनुवचनेन विधीयत इति व्याख्यातम् ॥१८९॥

अ०—देवदैवत्ये अभ्यर्थितः व्रतवत् अथ पित्र्ये कर्मणि ऋषिवत् कामम् अश्नीयात्, अस्य व्रतं न लुप्यते ॥१८९॥

देवताओं के निमित्त (यागादि कर्मों में) निमन्त्रित होने पर व्रतानुकूल तथा श्राद्ध कर्म में ऋषि योग्य भोजन भर इच्छा करे, इससे इसका व्रत नष्ट नहीं होता ॥१८९॥

पूर्व श्लोक में ब्रह्मचारी को केवल एक स्थान से मांगी गई भिक्षा से भर पेट भोजन करने का निषेध किया है, किन्तु यज्ञ अथवा श्राद्ध में निमन्त्रित होने पर वह एक स्थान पर यथेच्छ भोजन कर सकता है। श्राद्ध कर्म में मत्स्य मांसादि

भोजन में होता है किन्तु ब्रह्मचारी केवल व्रतानुकूल तथा जो ऋषियों के योग्य भोजन हो उसे ही ग्रहण करे।

ब्राह्मणस्यैव कर्मैतदुपदिष्टं मनीषिभिः।
राजन्यवैश्ययोस्त्वेवं नैतत्कर्म विधीयते ॥१९०॥

ब्राह्मणस्यैवेति ॥ ब्राह्मणक्षत्रियविशां त्रयाणामेव ब्रह्मचारिणां भैक्षाचरणविधानात् 'व्रतवत्' (२।१८९) इत्यनेन तदपवादरूपमेकान्नभोजनमुपदिष्टं क्षत्रियवैश्ययोरपि पुनरुक्तेन पर्युदस्यते। एतदेकान्नभोजनरूपं कर्म तद्ब्राह्मणस्यैव वेदार्थविद्भिर्विहितम्। क्षत्रियवैश्ययोः पुनर्न चैतत्कर्मेति ब्रूते ॥१९०॥

अ०—मनीषिभिः एतत् कर्म ब्राह्मणस्य एव उपदिष्टम् राजन्यवैश्ययोस्तु एवम् एतत् कर्म न विधीयते ॥१९०॥

विद्वानों ने उपरोक्त कर्म (यज्ञ-श्राद्ध निमित्त भोजन) ब्राह्मण ब्रह्मचारी के ही कहे हैं, क्षत्रिय एवं वैश्य को उपरोक्त कर्म का विधान नहीं किया गया है॥१९०॥

चोदितो गुरुणा नित्यमप्रचोदित एव वा।
कुर्यादध्ययने यत्नमाचार्यस्य हितेषु च ॥१९१॥

चोदित इति ॥ आचार्येण प्रेरितो न प्रेरितो वा स्वयमेव प्रत्यहमध्ययने गुरुहितेषु चोद्योगं कुर्यात् ॥१९१॥

अ०—गुरुणाचोदितः अप्रचोदित एव वा अध्ययने आचार्यस्य हितेषु च नित्यं यत्नं कुर्यात् ॥१९१॥

(ब्रह्मचारी) गुरु के द्वारा प्रेरित करने पर अथवा न करने पर भी अध्ययन में तथा आचार्य के हित में सदैव लगा रहे ॥१९१॥

शरीरं चैव वाचं च बुद्धीन्द्रियमनांसि च।
नियम्य प्राञ्जलिस्तिष्ठेद्वीक्षमाणो गुरोर्मुखम् ॥१९२॥

शरीरं चेति ॥ देहवाग्बुद्धीन्द्रियमनांसि नियम्य कृताञ्जलिर्गुरुमुखं पश्यंस्तिष्ठेन्नोपविशेत् ॥१९२॥

अ०—शरीरं च वाचं च बुद्धीन्द्रियमनांसि च नियम्य एव प्राञ्जलिः गुरोः मुखं वीक्षमाणः तिष्ठेत् ॥१९२॥

शरीर, वाणी, बुद्धि, इन्द्रिय एवं मन को वश में करके हाथ जोड़कर गुरु के मुख की ओर देखता हुआ खड़ा रहे ॥१९२॥

नित्यमुद्धृतपाणिः स्यात्साध्वाचारः सुसंयतः।
आस्यतामिति चोक्तः सन्नासीताभिमुखं गुरोः ॥१९३॥

नित्यमिति ।। सततमुत्तरीयाद्बहिष्कृतदक्षिणबाहुः, शोभनाचारः, वस्त्रावृतदेहः, 'आस्यताम्' इति गुरुणोक्तः सन् गुरोरभिमुखं यथा भवति तथा आसीत ।।१९३।।

अ०—(ब्रह्मचारी) नित्यं उद्धृतपाणिः साध्वाचारः सुसंयतः स्यात्, आस्यताम् इति उक्तश्च सन् गुरोः अभिमुखम् आसीत् ।।१९३।।

ब्रह्मचारी प्रतिदिन उर्ध्ववस्त्र से हाथ निकाले हुए, पवित्र आचरण एवं नियंत्रित रहते हुए 'बैठ जाओ' गुरु के ऐसा कहने पर बैठे ।।१९३।।

हीनान्नवस्त्रवेषः स्यात्सर्वदा गुरुसन्निधौ ।
उत्तिष्ठेत्प्रथमं चास्य चरमं चैव संविशेत् ।।१९४।।

हीनान्नवस्त्रेति ।। सर्वदा गुरुसमीपे गुर्वपेक्षया त्वपकृष्टान्नवस्त्रप्रसाधनो भवेत् । गुरोश्च प्रथमं रात्रिशेषे शयनादुत्तिष्ठेत्, प्रदोषे च गुरौ सुप्ते पश्चाच्छयीत ।।१९४।।

अ०—गुरसन्निधौ सर्वदा हीनान्नवस्त्रवेषः स्यात्, अस्य प्रथमम् उत्तिष्ठेत्; चरमं चैव संविशेत् ।।१९४।।

गुरु के सान्निध्य में (गुरुकुल में रहते हुए) ब्रह्मचारी (गुरु से) सदा ही निम्न भोजन एवं वेशभूषा रखे। गुरु से पहले उठे तथा बाद में सोने के लिए जाए ।।१९४।।

प्रतिश्रवणसंभाषे शयानो न समाचरेत् ।
नासीनो न च भुञ्जानो न तिष्ठन्न पराङ्मुखः ।।१९५।।

प्रतिश्रवणेति ।। प्रतिश्रवणमाज्ञाङ्गीकरणं, संभाषणं च गुरौ शय्यायां सुप्तः, आसनोपविष्टः, भुञ्जानः, तिष्ठन्, विमुखश्च न कुर्यात् ।।१९५।।

अ०—शयानः न आसीनः न भुञ्जानः न च पराङ्मुखः तिष्ठन् प्रतिश्रवण-सम्भाषे समाचरेत् ।।१९५।।

न सोते हुए, न बैठे हुए, न खाते हुए न विमुख स्थित होकर (मुंह फेर के बैठ के अथवा खड़े होकर) (गुरु को) सुने या (गुरु से) वार्तालाप करे ।।१९५।।

कथं तर्हि कुर्यात्तदाह—

आसीनस्य स्थितः कुर्यादभिगच्छंस्तु तिष्ठतः ।
प्रत्युद्गम्य त्वाव्रजतः पश्चाद्धावंस्तु धावतः ।।१९६।।

आसीनस्येति ।। आसनोपविष्टस्य गुरोराज्ञां ददतः स्वयमासनादुत्थितः, तिष्ठतो गुरोरादिशतस्तदभिमुखं कतिचित्पदानि गत्वा, यदा गुरुरागच्छति तदाप्यभिमुखं गत्वा, यदा तु गुरुर्धावन्नादिशति तदा तस्य पश्चाद्धावन्प्रतिश्रवणसंभाषे कुर्यात् ।।१९६।।

अ०—आसीनस्य स्थितः तिष्ठतः तु अभिगच्छन् आव्रजतस्तु प्रत्युद्गम्य धावतस्तु पश्चाद् धावन् कुर्यात् ॥१९६॥

बैठे हुए (गुरु) से खड़ा होकर, खड़े हुए से उसकी ओर जाते हुए, चलते हुए से आगे पहुंच कर, दौड़ते हुए के पीछे दोड़ते हुए (शिष्य वार्तालाप करे अथवा उसको सुने) ॥१९६॥

पराङ्मुखस्याभिमुखो दूरस्थस्यैत्य चान्तिकम् ।
प्रणम्य तु शयानस्य निदेशे चैव तिष्ठतः ॥१९७॥

पराङ्मुखस्येति ॥ पराङ्मुखस्य वा दिशतः संमुखस्थः, दूरस्थस्य गुरोः समीपमागत्य, शयानस्य गुरोः प्रणम्य प्रह्वो भूत्वा, निदेशे निकटेऽवतिष्ठतो गुरोरादिशतः प्रह्वीभूयैव प्रतिश्रवणसंभाषे कुर्यात् ॥१९७॥

अ०—पराङ्गमुखस्य अभिमुखः दूरस्थस्य अन्तिकम् एत्य शयानस्य तु निदेशे च तिष्ठतः प्रणम्य एव (आज्ञाऽङ्गीकरणं वार्तालापञ्च समाचरेत्) ॥१९७॥

विमुख (गुरु) के सम्मुख जाकर, दूर स्थित के पास पहुंचकर, लेटे हुए अथवा बैठे हुए को प्रणाम करके ही आज्ञा प्राप्त करे अथवा वार्ता करे ॥१९७॥

नीचं शय्यासनं चास्य सर्वदा गुरुसन्निधौ ।
गुरोस्तु चक्षुर्विषये न यथेष्टासनो भवेत् ॥१९८॥

नीचमिति ॥ गुरुसमीपे चास्य गुरुशय्यासनापेक्षया नीचे एव शय्यासने नित्यं स्याताम् । यत्र च देशे समासीनं गुरुः पश्यति न तत्र यथेष्टचेष्टां चरणप्रसारणादिकां कुर्यात् ॥१९८॥

अ०—गुरुसन्निधौ अस्य सर्वदा नीचं शय्यासनञ्च गुरोः चक्षुर्विषये तु यथेष्टासनः न भवेत् ॥१९८॥

गुरु के समीप ब्रह्मचारी को सदा अपना आसन एवं बिस्तर (गुरु की अपेक्षा) निम्न करना चाहिए तथा गुरु की उपस्थिति में मनमाने आसन पर न बैठें ॥१९८॥

नोदाहरेदस्य नाम परोक्षमपि केवलम् ।
न चैवास्यानुकुर्वीत गतिभाषितचेष्टितम् ॥१९९॥

नोदाहरेदिति ॥ अस्य गुरोः परोक्षमपि उपाध्यायाचार्यादिपूजावचनोपपदशून्यं नाम नोच्चारयेत् । नतु गुरोर्गमनभाषितचेष्टितान्यनुकुर्वीत गुरुगमनादिसदृशान्यात्मनो गमनादीन्युपह्रासबुद्ध्या न कुर्वीत ॥१९९॥

अ०—अस्य परोक्षमपि केवलं नाम न उदाहरेत्, अस्य गतिभाषितचेष्टितं च न एव अनुकुर्वीत ।१९९॥

इस (गुरु) के पीठ पीछे भी उसका विशेषण रहित नाम न लेवे तथा गुरु की चाल, भाषादि चेष्टाओं की नकल न करे ॥१९९॥

गुरोर्यत्र परीवादो निन्दा वापि प्रवर्तते।
कर्णौ तत्र पिधातव्यौ गन्तव्यं वा ततोऽन्यतः ॥२००॥

गुरोर्यत्रेति ॥ विद्यमानदोषस्याभिधानं परीवादः, अविद्यमानदोषाभिधानं निन्दा, यत्र देशे गुरोः परीवादो निन्दा च वर्तते तत्र स्थितेन शिष्येण कर्णौ हस्तादिना तिरोधातव्यौ। तस्माद्वा देशाद्देशान्तरं गन्तव्यम् ॥२००॥

अ०—यत्र गुरोः परीवादः निन्दा वा प्रवर्तते तत्र कर्णौ पिधातव्यौ वा ततः अन्यतः गन्तव्यम् ॥२००॥

जहां पर गुरु के दोषों का कथन अथवा गुरु में न रहने वाले दोषों का कथन किया जा रहा हो वहां शिष्य को दोनों कानों को बन्द कर लेना चाहिए अथवा वहां से दूसरे स्थान पर चला जाना चाहिए ॥२००॥

इदानीं शिष्यकर्तृकपरीवादकृतफलमाह—

परीवादात्खरो भवति श्वा वै भवति निन्दकः।
परिभोक्ता कृमिर्भवति कीटो भवति मत्सरी ॥२०१॥

परीवादादिति ॥ गुरोः परीवादाच्छिष्यो मृतः खरो भवति। गुरोर्निन्दकः कुक्कुरो भवति। परिभोक्ता अनुचितेन गुरुधनेनोपजीवकः कृमिर्भवति। मत्सरी गुरोरुत्कर्षासहनः कीटो भवति; कीटः कृमिभ्यः किंचित्स्थूलो भवति ॥२०१॥

अ०—परीवादात् खरो भवति, निन्दकः श्वा भवति, परिभोक्ता कृमिः भवति, मत्सरी कीटो भवति ॥२०१॥

परीवाद (गुरु में विद्यमान दोष कथन) से (अगले जन्म में) गधा, निन्दा (अविद्यमान दोष कथन) से कुत्ता, गुरु से अधिक सुख भोगने वाला (शिष्य) कृमि तथा गुरु के उत्कर्ष को न सहने वाला कीट बनता है ॥२०१॥

दूरस्थो नार्चयेदेनं न क्रुद्धो नान्तिके स्त्रियाः।
यानासनस्थश्चैवैनमवरुह्याभिवादयेत् ॥२०२॥

दूरस्थ इति ॥ दूरस्थः शिष्योऽन्यं नियुज्य माल्यवस्त्रादिना गुरुं नार्चयेत्। स्वयं गमनाशक्तौ त्वदोषः। क्रुद्धः कामिनीसमीपे च स्थितं स्वयमपि नार्चयेत्। यानासनस्थश्च शिष्यो यानासनादवतीर्य गुरुमभिवादयेत्। 'यानासनस्थश्चैवैनं प्रत्युत्थाय' (२।१९) इत्यनेन यानासनादुत्थानं विहितम्; अनेन तु यानासनत्याग इत्यपुनरुक्तिः ॥२०२॥

अ०—दूरस्थः एनं न अर्चयेत्, क्रुद्धः न (अर्चयेत्) स्त्रियाः अन्तिके न (अर्चयेत्) यानासनस्थश्च एनम् अवरुह्य एव अभिवादयेत् ॥२०२॥

(शिष्य) दूर खड़ा होकर, क्रुद्ध होकर, पत्नी के साथ बैठा हुआ गुरु की पूजा न करे यान पर स्थित हो तो उतर कर ही गुरु का अभिवादन करे ॥२०२॥

प्रतिवातेऽनुवाते च नासीत गुरुणा सह।
असंश्रवे चैव गुरोर्न किंचिदपि कीर्तयेत् ॥२०३॥

प्रतिवात इति ॥ प्रतिगतोऽभिमुखीभूतः शिष्यस्तदा गुरुदेशाच्छिष्यदेशमागच्छति स प्रतिवातः, यः शिष्यदेशाद्गुरुदेशमागच्छति सोऽनुवातः, तत्र गुरुणा समं नासीत। तथाऽविद्यमानः संश्रवो यत्र तस्मिन्नसंश्रवे। गुरुर्यत्र न शृणोतीत्यर्थः। तत्र गुरुगतमन्यगतं वा न किंचित्कथयेत् ॥२०३॥

अ०—प्रतिवाते अनुवाते च गुरुणा सह न आसीत गुरोः असंश्रवे च नैव किञ्चिदपि कीर्तयेत् ॥२०३॥

गुरु की ओर से शिष्य की ओर अथवा शिष्य की ओर से गुरु की ओर बहती हुई हवा में शिष्य गुरु के साथ न बैठे (अर्थात् गुरु शिष्य की दिशा तथा हवा की बहने की दिशा परस्पर योग (+) अथवा गुणा (×) का चिह्न बनाती हों) तथा ऐसा कुछ नहीं बोले जो गुरु न सुन सके ॥२०३॥

गोऽश्वोष्ट्रयानप्रासादप्रस्तरेषु कटेषु च।
आसीत गुरुणा सार्धं शिलाफलकनौषु च ॥२०४॥

गोऽश्वेति ॥ 'यान' शब्दःप्रत्येकमभिसंबध्यते। बलीवर्दयाने, घोटकप्रयुक्ते याने, उष्ट्रयुक्तयाने, रथकाष्ठादौ, प्रासादोपरि, स्रस्तरे, कटे च तृणादिनिर्मिते, शिलायां, फलके च दारुघटितदीर्घासने, नौकायां च गुरुणा सह आसीत ॥२०४॥

अ०—गोऽश्वोष्ट्रयानप्रासादप्रस्तरेषु कटेषु च शिलाफलकनौषु च गुरुणा सार्धम् आसीत ॥२०४॥

बैल, घोड़ा अथवा ऊंट गाड़ी पर, (राजा के) महल में बिछाई हुई चटाई पर, शिला पर तथा नाव पर गुरु के साथ बैठ सकता है ॥२०४॥

१९८ वें श्लोक में समान आसन पर बैठने का निषेध है किंतु उपरोक्त परिस्थितियों में शिष्य गुरु के साथ बैठ सकता है।

गुरोर्गुरौ सन्निहिते गुरुवद्वृत्तिमाचरेत्।
न चानिसृष्टो गुरुणा स्वान्गुरूनभिवादयेत् ॥२०५॥

गुरोर्गुराविति ॥ आचार्यस्याचार्ये सन्निहिते आचार्य इव तस्मिन्नप्यभिवादनादिकां वृत्तिमनुतिष्ठेत्। तथा गुरुगृहे वसन् शिष्य आचार्येणातियुक्तो न स्वान्गुरून्मातृपितृव्यादीनभिवादयेत् ॥२०५॥

अ०—गुरोः गुरौ सन्निहिते गुरुवद् वृत्तिम् आचरेत्, गुरुणा अनिसृष्टः च स्वान् गुरून् न अभिवादयेत् ॥२०५॥

गुरु के गुरु के सन्निध्य में (गुरु के गुरु से) गुरु के समान ही आचरण रखे,

गुरु की बिना आज्ञा के (गुरुकुल में) अपने श्रेष्ठ सम्बन्धियों को अभिवादन न करे ।।२०५।।

विद्यागुरुष्वेतदेव नित्या वृत्तिः स्वयोनिषु ।
प्रतिषेधत्सु चाधर्माद्धितं चोपदिशत्स्वपि ।।२०६।।

विद्येति ।। आचार्यव्यतिरिक्ता उपाध्याया विद्यागुरवः, तेष्वेतदेवेति सामान्योपक्रमः । किं तत् ? आचार्य इव नित्या सार्वकालिकी वृत्तिर्विधेया, तथा स्वयोनिष्वपि पितृव्यादिषु तद्वृत्तिः, अधर्मान्निषेधत्सु धर्मतत्त्वं चोपदिशत्सु गुरुवद्वर्तितव्यम् ।।२०६।।

अ०—विद्यागुरुषु स्वयोनिषु अधर्मात् च प्रतिषेधत्सु हितम् उपदिशत्सु च अपि एतदेव नित्यावृत्तिः (कार्या:) ।।२०६।।

विद्या में श्रेष्ठों के प्रति, अपने कुल में श्रेष्ठों के प्रति, अधर्म का निषेध करने वालों के प्रति तथा हितकारी उपदेश करने वालों के प्रति गुरु के समान ही व्यवहार करना चाहिए ।।२०६।।

श्रेयःसु गुरुवद्वृत्तिं नित्यमेव समाचरेत् ।
गुरुपुत्रेषु चार्येषु गुरोश्चैव स्वबन्धुषु ।।२०७।।

श्रेयःस्विति ।। श्रेयःसु विद्यातपः समृद्धेषु, आर्येष्विति गुरुपुत्रविशेषणम् । समानजातिगुरुपुत्रेषु गुरोश्च ज्ञातिष्वपि पितृव्यादिषु सर्वदा गुरुवद्वृत्तिमनुतिष्ठेत् । गुरुपुत्रश्चात्र शिष्याधिकवयाश्च बोद्धव्यः । शिष्यबालसमानवयसामनन्तरं शिष्यस्य वक्ष्यमाणत्वात् ।।२०७।।

अ०—श्रेयःसु आर्येषु गुरुपुत्रेषु च गुरोः स्वबन्धुषु च नित्यमेव गुरुवद् एव वृत्तिं समाचरेत् ।२०७।।

श्रेष्ठों में, आर्य (शिष्ट) गुरुपुत्रों में, गुरु के सम्बन्धियों में सदा ही गुरु के समान व्यवहार करना चाहिए अर्थात् इन सबका गुरु के समान आदर करना चाहिए ।।२०७।।

बालः समानजन्मा वा शिष्यो वा यज्ञकर्मणि ।
अध्यापयन्गुरुसुतो गुरुवन्मानमर्हति ।।२०८।।

बाल इति । कनिष्ठः सवया वा ज्येष्ठोऽपि वा शिष्योऽध्यापयन्नध्यापनसमर्थः । गृहीतवेद इत्यर्थः । स यज्ञकर्मणि ऋत्विगनृत्विग्वा यज्ञदर्शनार्थमागतो गुरुवत्पूजामर्हति ।।२०८।।

अ०—बालः समानजन्मा वा यज्ञकर्मणि शिष्यो वा गुरुसुतः अध्यापयन् गुरुवद् मानम् अर्हति ।।२०८।।

आयु में समान अथवा छोटा भी या यज्ञकर्म में शिष्य भी गुरु का पुत्र (गुरु के स्थान पर) अध्यापन करता हुआ गुरु के समान सम्मान का अधिकारी है ॥२०८॥

आचार्यवदित्यविशेषेण पूजायां प्राप्तायां विशेषमाह—

उत्सादनं च गात्राणां स्नापनोच्छिष्टभोजने ।
न कुर्याद्गुरुपुत्रस्य पादयोश्चावनेजनम् ॥२०९॥

उत्सादनमिति ॥ गात्राणामुत्सादनमुद्वर्तनं, उच्छिष्टस्य भक्षणं, पादयोश्च प्रक्षालनं गुरुपुत्रस्य न कुर्यात् ॥२०९॥

अ०—गुरुपुत्रस्य गात्राणाम् उत्सादनं स्नापनोच्छिष्टभोजने च पादयोः अवनेजनं च न कुर्यात् ॥२०९॥

गुरु के पुत्र के अंगों को दबाना, स्नान कराना, झूठा भोजन तथा पैर दबाना (क्रियाओं को) न करे ॥२०९॥

यद्यपि गुरुपुत्र का सम्मान गुरु के समान करना चाहिए तथापि उपरोक्त सेवा का अधिकारी गुरुपुत्र नहीं है ।

गुरुवत्प्रतिपूज्याः स्युः सवर्णा गुरुयोषितः ।
असवर्णास्तु संपूज्याः प्रत्युत्थानाभिवादनैः ॥२१०॥

गुरुवदिति ॥ सवर्णा गुरुपत्न्यः गुरुवदाज्ञाकरणादिना पूज्या भवेयुः । असवर्णाः पुनः केवलप्रत्युत्थानाभिवादनैः ॥२१०॥

अ०—सवर्णाः गुरुयोषितः गुरुवत् प्रतिपूज्याः स्युः, असवर्णास्तु प्रत्युत्थानाभिवादनैः सम्पूज्याः ॥२१०॥

समान वर्ण (जाति) की गुरुपत्नी अर्थात् जो वर्ण गुरु का है वही यदि उसकी पत्नी का भी होता तो वह गुरु के समान ही सम्माननीया है किन्तु यदि असवर्णा हो तो केवल उसके स्वागत में उठ कर अभिवादन करना चाहिए ॥२१०॥

अभ्यञ्जनं स्नापनं च गात्रोत्सादनमेव च ।
गुरुपत्न्या न कार्याणि केशानां च प्रसाधनम् ॥२११॥

अभ्यञ्जनमिति ॥ तैलादिना देहाभ्यङ्ग स्नापनं, गात्राणां चोद्वर्तनं, केशानां च मालादिना प्रसाधनम्; एतानि गुरुपत्न्या न कर्तव्यानि । केशानामिति प्रदर्शनमात्रार्थं, देहस्यापि चन्दनादिना प्रसाधनं न कुर्यात् ॥२११॥

अ०—गुरुपत्न्याः अभ्यञ्जनं स्नापनञ्च गात्रोत्सादनम् एव च केशानां प्रसाधनञ्च न कार्याणि ॥२११॥

(शिष्य को) गुरु की पत्नी की मालिश, स्नान, उबटन तथा उसके बालों का शृंगारादि कर्म नहीं करने चाहिए ॥२११॥

गुरुपत्नी तु युवतिर्नाभिवाद्येह पादयोः ।
पूर्णविंशतिवर्षेण गुणदोषौ विजानता ॥२१२॥

गुरुपत्नी त्विति ॥ युवतिर्गुरुपत्नी पादयोरुपसंगृह्य अभिवादनदोषगुणज्ञेन यूना नाभिवाद्या । पूर्णविंशतिवर्षत्वं यौवनप्रदर्शनार्थम् । बालस्य पादयोरभिवादनमनिषिद्धम् । यूनस्तु भूमावभिवादनं वक्ष्यति ॥२१२॥

अ०—इह पूर्णविंशतिवर्षेण गुणदोषौ विजानता युवतिः गुरुपत्नी तु पादयोः न अभिवाद्या ॥२१२॥

इस संसार में जिसने बीस वर्ष पूरे कर लिए हैं ऐसे ऊंच नीच को जानने वाले शिष्य के द्वारा गुरु की पत्नी के पैरों को छूकर प्रणाम नहीं करना चाहिए ॥२१२॥

स्वभाव एव नारीणां नराणामिह दूषणम् ।
अतोऽर्थान्न प्रमाद्यन्ति प्रमदासु विपश्चितः ॥२१३॥

स्वभाव इति ॥ स्त्रीणामयं स्वभावः यदिह शृङ्गारचेष्टया व्यामोह्य पुरुषाणां दूषणम् । अतोऽर्थादस्माद्धेतोः पण्डिताः स्त्रीषु न प्रमत्ता भवन्ति ॥२१३॥

अ०—इह नराणां दूषणं नारीणां एषः स्वभावः अतः अर्थात् विपश्चितः प्रमदासु न प्रमाद्यन्ति ॥२१३॥

इस संसार में पुरुषों को दूषित करना स्त्रियों का स्वभाव है इसलिए विद्वान् स्त्रियों में असावधानी नहीं बरतते ॥२१३॥

अविद्वांसमलं लोके विद्वांसमपि वा पुनः ।
प्रमदा ह्युत्पथं नेतुं कामक्रोधवशानुगम् ॥२१४॥

अविद्वांसमिति ॥ 'विद्वानहं जितेन्द्रिय' इति बुद्ध्या न स्त्रीसन्निधिर्विधेयः । यस्मादविद्वांसं विद्वांसमपि वा पुनः पुरुषं देहधर्मात्कामक्रोधवशानुयायिनं स्त्रिय उत्पथं नेतुं समर्थाः ॥२१४॥

अ०—हि प्रमदा कामक्रोधवशानुगम् अविद्वांसं विद्वांसमपि वा पुनः उत्पथं नेतुम् अलम् ॥२१४॥

क्योंकि स्त्री कामक्रोध के वशीभूत मूर्ख तथा विद्वान को भी भटकाने में समर्थ है ॥२१४॥

अत आह—

मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत् ।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति ॥२१५॥

मात्रेति ॥ मात्रा, भगिन्या, दुहित्रा, निर्जनगृहादौ नासीत । यतोऽतिबल इन्द्रियगणः शास्त्रनियमितात्मानमपि पुरुषं परवशं करोति ॥२१५॥

अ०—मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा विविक्तासनः न भवेत्, इन्द्रियग्रामः बलवान् (वर्तते) विद्वांसम् अपि कर्षति ॥२१५॥

माता, बहन अथवा बेटी के साथ भी एकान्त में न बैठे क्योंकि इन्द्रियों का समूह समर्थ है (इसलिए) विद्वान को भी बलात् खींच लेता है ॥२१५॥

कामं तु गुरुपत्नीनां युवतीनां युवा भुवि ।
विधिवद्वन्दनं कुर्यादसावहमिति ब्रुवन् ॥२१६॥

कामं त्विति ॥ कामं तु गुरुपत्नीनां युवतीनां स्वयमपि युवा यथोक्तविधिना 'अभिवादयेऽमुकशर्माहं भोः' इति ब्रुवन्पादग्रहणं विना यथेष्टमभिवादनं कुर्यात् ॥२१६॥

अ०—युवा भुवि युवतीनां गुरुपत्नीनां तु विधिवत् असौ अहम् इति ब्रुवन् कामं वन्दनं कुर्यात् ॥२१६॥

युवक शिष्य भले ही युवा गुरुपत्नियों को 'मैं वह हूं' इस प्रकार भूमि पर विधिवत् प्रणाम करे (पैर छूकर नहीं) ॥२१६॥

विप्रोष्य पादग्रहणमन्वहं चाभिवादनम् ।
गुरुदारेषु कुर्वीत सतां धर्ममनुस्मरन् ॥२१७॥

विप्रोष्येति ॥ प्रवासादागत्य 'सव्येन सव्यं दक्षिणेन च दक्षिणम्' इत्युक्तविधिना पादग्रहणं प्रत्यहं भूमावभिवादनं च गुरुपत्नीषु युवा कुर्यात् । शिष्टानामयमाचार इति जानन् ॥२१७॥

अ०—सतां धर्मम् अनुस्मरन् गुरुदारेषु; पादग्रहणं विप्रोष्य, अभिवादनं च अन्वहं कुर्यात् ॥२१७॥

सज्जनों के आचरण का स्मरण करता हुआ शिष्य परदेश से लौटकर गुरु की पत्नियों के चरण स्पर्श करें तथा नित्य (उपरोक्त श्लोक में निर्दिष्ट) अभिवादन करे ॥२१७॥

उक्तस्य शुश्रूषाविधेः फलमाह—

यथा खनन्खनित्रेण नरो वार्यधिगच्छति ।
तथा गुरुगतां विद्यां शुश्रूषुरधिगच्छति ॥२१८॥

यथेति ॥ यथा कश्चिन्मनुष्यः खनित्रेण भूमिं खनन् जलं प्राप्नोति, एवं गुरौ स्थितां विद्यां गुरुसेवापरः शिष्यः प्राप्नोति ॥२१८॥

अ०—यथा नरः खनित्रेण खनन् वारि अधिगच्छति तथा शुश्रूषुः (शिष्यः) गुरुगतां विद्याम् अधिगच्छति ॥२१८॥

जिस प्रकार मनुष्य खन्ति से (भूमि) खोदता हुआ जल को प्राप्त करता है, उसी

प्रकार सेवा करने वाला शिष्य गुरु में रहने वाली विद्या को प्राप्त करता है ॥२१८॥

ब्रह्मचारिणः प्रकारत्रयमाह—

मुन्डो वा जटिलो वा स्यादथवा स्याच्छिखाजटः ।
नैनं ग्रामेऽभिनिम्लोचेत् सूर्यो नाभ्युदियात्क्वचित् ॥२१९॥

मुण्डो वेति ॥ मुण्डितमस्तकः, शिरः केशजटावान्वा, शिखैव वा जटा जाता यस्य वा, परे शिरः केशा मुण्डितास्तथा वा भवेत् । एनं ब्रह्मचारिणं क्वचिन्ग्रामे निद्राणं, उत्तरत्र 'शयानम्' इति दर्शनात्सूर्यो नाभिनिम्लोचेन्नास्तमियात् ॥२१९॥

अ०—मुण्डो वा जटिलो वा अथवा शिखाजटः स्यात् एनं सूर्यः ग्रामे न अभिनिम्लोचेत् न क्वचिद् अभ्युदियात् ॥२१९॥

(ब्रह्मचारी चाहे) मुण्डित (उस्तरे से कटे हुए बाल वाला) हो, जटाधारी हो अथवा शिखाजट (जटा को ही शिखा बनाए हुए हो तथा आगे के बाल कटाए हुए) हो, गांव में रहते हुए इसके सूर्य उदय तथा अस्त न हो ॥२१९॥

ब्रह्मचारी कभी भी सूर्योदय के बाद तक तथा सूर्यास्त से पूर्व सोता हुआ न रहे।

अत्र प्रायश्चित्तमाह—

तं चेदभ्युदियात्सूर्यः शयानं कामचारतः ।
निम्लोचेद्वाऽप्यविज्ञानाज्जपन्नुपवसेद्दिनम् ॥२२०॥

तं चेदिति ॥ तं चेत्कामतो निद्राणं निद्रोपवशत्वेन सूर्योऽभ्युदियादस्तमियात्तदा सावित्रीं जपन्नुभयत्रापि दिनमुपवसन् रात्रौ भुञ्जीत । अभिनिर्मुक्तस्योत्तरेऽहनि उपवासजपौ । 'अभिरभागे' (पा० १।४।९१) इति कर्मप्रवचनीयसंज्ञा, ततः कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया । सावित्रीजपं तु गौतमवचनात् । तदाह गौतमः (२४।२)—'सूर्याभ्युदितो ब्रह्मचारी तिष्ठेदहरभुञ्जानोऽभ्यस्तमितश्च रात्रिं जपन्सावित्रीम् । ननु गौतमवचनात्सूर्याभ्युदितस्यैव दिनाभोजनजपावुक्तौ, अभ्यस्तमितस्य तु रात्र्यभोजनजपौ । नैतत्, अपेक्षायां व्याख्यासंदेहे वा मुन्यन्तरविवृतमर्थमन्वयं वाश्रयामहे नतु स्फुटं मन्वर्थं स्मृत्यन्तरदर्शनादन्यथा कुर्मः । अत एव जपापेक्षायां गौतमवचनात्सावित्रीजपोऽभ्युपेय एव न तूभयत्र स्फुटं मनूक्तं दिनोपवासजपावपाकुर्मः । तस्मादभ्यस्तमितस्य मानवगौतमीयप्रायश्चित्तविकल्पः ॥२२०॥

अ०—सूर्यः कामचारतः शयानं तं चेत् अभ्युदियात् अपि वा अविज्ञानात् निम्लोचेत् जपन् दिनम् उपवसेत् ॥२२०॥

कभी यदि मनमानी से अथवा अन्जाने में भी सोते हुए सूर्योदय अथवा सूर्यास्त हो जाए तो जप करते हुए दिन भर उपवास रखे ॥२२०॥

अस्य तु प्रायश्चित्तविधेरर्थवादमाह—

सूर्येण ह्यभिनिर्मुक्तः शयानोऽभ्युदितश्च यः ।
प्रायश्चित्तमकुर्वाणो युक्तः स्यान्महतैनसा ॥२२१॥

सूर्येणेति ॥ यस्मात्सूर्येणाभिनिर्मुक्तोऽभ्युदितश्च निद्राणः प्रायश्चित्तमकुर्वन् महता पापेन युक्तो नरकं गच्छति । तस्माद्यथोक्तप्रायश्चित्तं कुर्यात् ॥२२१॥

अ०—हि शयानः सूर्येण अभिनिर्मुक्तः अभ्युदितश्च प्रायश्चित्तम् अकुर्वाणः महता एनसा युक्तः स्यात् ॥२२१॥

क्योंकि सूर्योदय एवं सूर्यास्त के समय सोते रहने पर प्रायश्चित (उपरोक्त श्लोक में कथित) न करने पर महान पाप का भागी होता है ॥२२१॥

यस्मादुक्तप्रकारेण संध्यातिक्रमे महत्पापम्, अतः—

आचम्य प्रयतो नित्यमुभे संध्ये समाहितः ।
शुचौ देशे जपञ्जप्यमुपासीत यथाविधि ॥२२२॥

आचम्येति ॥ आचम्य पवित्रो नित्यमनन्यमनाः शुचिदेशे सावित्रीं जपन्नुभे संध्ये विधिवदुपासीत ॥२२२॥

अ०—आचम्य प्रयतः नित्यं समाहितः शुचौ देशे जप्यं जपन् उभे सन्ध्ये यथाविधि उपासीत ॥२२२॥

आचमन करके इन्द्रियों को वश में करते हुए एकाग्रचित्त होकर पवित्र स्थान पर जपनीय (गायत्री) को जपता हुआ दोनों सन्ध्याओं के समय शास्त्रोक्त विधि से उपासना करे ॥२२२॥

यदि स्त्री यद्यवरजः श्रेयः किंचित्समाचरेत् ।
तत्सर्वमाचरेद्युक्तो यत्र चास्य रमेन्मनः ॥२२३॥

यदीति ॥ यदि स्त्री शूद्रो वा किंचिच्छ्रेयोऽनुतिष्ठति तत्सर्वं युक्तोऽनुतिष्ठेत् । यत्र च शास्त्रानिषिद्धे मनोऽस्य तुष्यति तदपि कुर्यात् ॥२२३॥

अ०—यदि स्त्री यदि अवरजः किञ्चित् श्रेयः समाचरेत् यत्र वा अस्य मनः रमेत् तत्सर्वं युक्तः आचरेत् ॥२२३॥

यदि स्त्री या निकृष्ट जाति का भी कोई कल्याणकारी कार्य करे तथा जो इसके मन के अनुकूल हो उन सब (कार्यों)का मनोयोग से आचरण करे ॥२२३॥

श्रेय एव हि धर्मार्थौ तद्दर्शयति—

धर्मार्थावुच्यते श्रेयः कामार्थौ धर्म एव च ।
अर्थ एवेह वा श्रेयस्त्रिवर्ग इति तु स्थितिः ॥२२४॥

धर्मार्थाविति ॥ धर्मार्थौ श्रेयोऽभिधीयते, कामहेतुत्वादिति केचिदाचार्या

मन्यन्ते । अन्ये त्वर्थकामौ सुखहेतुत्वाच्छ्रेयोऽभिधीयते । धर्म एवेत्यपरे । अर्थकामयोरभ्युपायत्वात् । अर्थ एवेह लोके श्रेय इत्यन्ये । धर्मकामयोरपि साधनत्वात् । संप्रति स्वमतमाह—धर्मार्थकामात्मकः परस्पराविरुद्धस्त्रिवर्ग एव पुरुषार्थतया श्रेय इति विनिश्चयः । एवं च बुभुक्षून्प्रत्युपदेशो न मुमुक्षून् । मुमुक्षूणां तु मोक्ष एव श्रेय इति षष्ठे वक्ष्यते ॥२२४॥

अ०—धर्माथौं श्रेयः उच्यते कामाथौं धर्म एव च इह धर्म एव वा त्रिवर्गः इति तु स्थितिः ॥२२४॥

(कोई) धर्म तथा अर्थ को, (कोई) काम तथा अर्थ को, (कोई) धर्म को तथा कोई अर्थ को ही कल्याणकारी कहते हैं वास्तव में तीन का समूह (धर्म, अर्थ, काम) ही कल्याणकारी है ॥२२४॥

आचार्यश्च पिता चैव माता भ्राता च पूर्वजः ।
नार्तेनाप्यवमन्तव्या ब्राह्मणेन विशेषतः ॥२२५॥

आचार्यश्च ॥ आचार्यो जनको जननी च भ्राता च सगर्भो ज्येष्ठः पीडितेनाप्यमी नावमाननीयाः, विशेषतो ब्राह्मणेन ॥२२५॥

अ०—आचार्यः पिता च माता एव च पूर्वजः भ्राता च आर्तेन अपि विशेषतः ब्राह्मणेन न अवमन्तव्या ॥२२५॥

आचार्य, पिता, माता तथा बड़े भाई का अपमान दुःखी पुरुष के द्वारा भी विशेषतः ब्राह्मण के द्वारा नहीं किया जाना चाहिए ॥२२५॥

यस्मात्—

आचार्यो ब्रह्मणो मूर्तिः पिता मूर्तिः प्रजापतेः ।
माता पृथिव्या मूर्तिस्तु भ्राता स्वो मूर्तिरात्मनः ॥२२६॥

आचार्य इति ॥ आचार्यो वेदान्तोदितस्य ब्रह्मणः परात्मनो मूर्तिः शरीरं, पिता हिरण्यगर्भस्य, माता च धारणात्पृथिवीमूर्तिः, भ्राता च स्वः सगर्भः क्षेत्रज्ञस्य । तस्माद्देवतारूपा एता नावमन्तव्याः ॥२२६॥

अ०—आचार्यः ब्रह्मणो मूर्तिः, पिता प्रजापतेः मूर्तिः माता तु पृथिव्याः मूर्तिः स्वः भ्राता आत्मनः मूर्तिः ॥२२६॥

आचार्य ब्रह्म की मूर्ति है, पिता हिरण्यगर्भ की मूर्ति है, माता पृथ्वी की मूर्ति है तथा अपना भाई आत्मा अर्थात् स्वयं की ही मूर्ति है ॥२२६॥

इन सब का महत्त्व देवताओं के समान है अतः इनका अपमान नहीं करना चाहिए ।

यं मातापितरौ क्लेशं सहेते संभवे नृणाम् ॥
न तस्य निष्कृतिः शक्या कर्तुं वर्षशतैरपि ॥२२७॥

यमिति ॥ नृणामपत्यानां संभवे गर्भाधाने सति अनन्तरं यं क्लेशं माता-पितरौ सहेते तस्य वर्षशतैरप्यनेकैरपि जन्मभिरानृण्यं कर्तुमशक्यम् । मातुस्तावत्कुक्षौ धारणदुःखं, प्रसववेदनातिशयः, जातस्य रक्षणवर्धनकष्टं च पितुरधिकान्येवारक्षा-संवर्धनदुःखं, उपनयनात्प्रभृति वेदतदङ्गाध्यापनादिक्लेशातिशय इति सर्वसिद्धम् ॥२२७॥

अ०—मातापितरौ नृणाम् संभवे यं क्लेशं सहेते तस्य वर्षशतैरपि निष्कृतिः कर्तुं न शक्या ॥२२७॥

माता पिता को मनुष्य को जन्म देने में जो कष्ट होता है, सैकड़ों वर्षों में भी उस ऋण से उऋण नहीं हुआ जा सकता ॥२२७॥

तस्मात्—

तयोर्नित्यं प्रियं कुर्यादाचार्यस्य च सर्वदा ।
तेष्वेव त्रिषु तुष्टेषु तपः सर्वं समाप्यते ॥२२८॥

तयोर्नित्यमिति ॥ तयोर्मातापित्रोः प्रत्यहमाचार्यस्य च सर्वदा प्रीतिमुत्पाद-येत् । यस्मात्तेष्वेव त्रिषु प्रीतेषु सर्वं तपश्चान्द्रायणादिकं फलद्वारेण सम्यक्प्राप्यते मात्रादित्रयतुष्ट्यैव सर्वस्य तपसः फलं प्राप्यत इत्यादि ॥२२८॥

अ०—तयोः नित्यम् आचार्यस्य च सर्वदा प्रियं कुर्यात् तेषु एव त्रिषु तुष्टेषु सर्वं तपः समाप्यते ॥२२८॥

उन दोनों (माता-पिता) के तथा आचार्य के सदा अनुकूल आचरण करना चाहिए । उन तीनों के संतुष्ट होने पर सभी तप पूर्ण हो जाते हैं अर्थात् सभी तपस्याओं का फल प्राप्त हो जाता है ॥२२८॥

तेषां त्रयाणां शुश्रूषा परमं तप उच्यते ।
न तैरनभ्यनुज्ञातो धर्ममन्यं समाचरेत् ॥२२९॥

तेषामिति ॥ तेषां मातापित्राचार्याणां परिचर्या सर्वं तपोमयं श्रेष्ठम्, अत एव सर्वतपः फलप्राप्तेः । यद्यन्यमपि धर्मं कथंचित्करोति तदप्येतत्त्रयानुमतिव्यतिरे-केण न कुर्यात् ॥२२९॥

अ०—तेषां त्रयाणां शुश्रूषा परमं तपः उच्यते, तैः अनभ्यनुज्ञातः अन्यं धर्मं न समाचरेत् ॥२२९॥

इन तीनों की सेवा परम तप कहा गया है, इनकी आज्ञा के विना अन्य धर्म का आचरण न करे ॥२२९॥

त एव हि त्रयो लोकास्त एव त्रय आश्रमाः ।
त एव हि त्रयो वेदास्त एवोक्तास्त्रयोऽग्नयः ॥२३०॥

त एवेति ॥ यस्मात्त एव मातापित्राचार्यास्त्रयो लोकाः, लोकत्रयप्राप्तिहेतु

त्वात् । कारणे कार्योपचारः । त एव ब्रह्मचर्यादिभावत्रयरूपा आश्रमाः । गार्हस्थ्या- त्वात् । कारणे कार्योपचारः । त एव त्रयो वेदाः, वेदत्रयफलोपायत्वात् । त एव हि द्याश्रमत्रयप्रदायकत्वात् । त एव त्रयो वेदाः, वेदत्रयफलोपायत्वात् । त एव हि त्रयोऽग्नयोऽभिहितास्त्रेतासंपाद्ययज्ञादिफलदातृत्वात् ॥२३०॥

अ०—हि त एव त्रयः लोकाः त एव त्रयः आश्रमाः त एव त्रयः वेदाः त एव त्रयः अग्नयः उक्ताः ॥२३०॥

क्योंकि वे तीनों (माता, पिता एवं गुरु) ही तीन लोक, तीन आश्रम, तीन वेद एवं तीन अग्नियां कहे गए हैं ॥२३०॥

पिता वै गार्हपत्योऽग्निर्माताग्निर्दक्षिणः स्मृतः ।
गुरुराहवनीयस्तु साऽग्नित्रेता गरीयसी ॥२३१॥

पितेति ॥ वैशब्दोऽवधारणे । पितैव गार्हपत्योऽग्निः, माता दक्षिणाग्निः, आचार्य आहवनीयः । सेयमग्नित्रेता श्रेष्ठतरा । स्तुत्यर्थत्वाच्चास्य न वस्तुविरोधोऽत्र भावनीयः ॥२३१॥

अ०—पिता वै गार्हपत्यः अग्निः माता दक्षिणोऽग्निः गुरुराहवनीयः स्मृतः, सा अग्नि त्रेता गरीयसी ॥२३१॥

पिता गार्हपत्य अग्नि, माता दक्षिणाऽग्नि तथा गुरु आहवनीय अग्नि कहे गए हैं तथा इन तीन का समूह (अन्य की अपेक्षा) मान्य है ॥२३१॥

त्रिष्वप्रमाद्यन्नेतेषु त्रींल्लोकान्विजयेद्गृही ।
दीप्यमानः स्ववपुषा देववद्दिवि मोदते ॥२३२॥

त्रिष्विति ॥ एतेषु त्रिषु प्रमादमकुर्वन्ब्रह्मचारी तावज्जयत्येव, गृहस्थोऽपि त्रींल्लोकान्विजयते । संज्ञापूर्वकस्यात्मनेपदविधेरनित्यत्वान्न 'विपराभ्यां जेः' (पा० १।३।१९) इत्यात्मनेपदम् । त्रींल्लोकान्विजयेदिति त्रिष्वाधिपत्यं प्राप्नोति; तथा स्ववपुषा प्रकाशमानः सूर्यादिदेववद्दिवि हृष्टो भवति ॥२३२॥

अ०—गृही एतेषु त्रिषु अप्रमाद्यन् त्रीन् लोकान् विजयेत् स्ववपुषा दीप्यमानः देववत् दिवि मोदते ॥२३२॥

गृहस्थ मनुष्य इन तीनों (माता, पिता तथा गुरु) में असावधानी न करता हुआ तीनों लोकों को जीत लेता है तथा अपने शरीर को तेजस्वि बनाता हुआ देवताओं के समान स्वर्ग में प्रसन्न होता है ॥२३२॥

इमं लोकं मातृभक्त्या पितृभक्त्या तु मध्यमम् ।
गुरुशुश्रूषया त्वेवं ब्रह्मलोकं समश्नुते ॥२३३॥

इममिति ॥ इमं भूर्लोकं मातृभक्त्या, पितृभक्त्या मध्यममन्तरिक्षम्, आचार्यभक्त्या तु हिरण्यगर्भलोकमेव प्राप्नोति ॥२३३॥

अ०—मातृभक्त्या इमं लोकं पितृभक्त्या तु मध्यमम् एवं गुरुशुश्रूषया ब्रह्म-लोकं समश्नुते ॥२३३॥

(गृहस्थ) माता की भक्ति से यह लोक, पिता की भक्ति से अन्तरिक्ष लोक तथा गुरु की सेवा से ब्रह्म लोक को प्राप्त करता है ॥२३३॥

सर्वे तस्यादृता धर्मा यस्यैते त्रय आदृताः ।
अनादृतास्तु यस्यैते सर्वास्तस्याफलाः क्रियाः ॥२३४॥

सर्व इति ॥ यस्यैते त्रयो मातृपित्राचार्या आदृताः सत्कृतास्तस्य सर्वे धर्माः फलदा भवन्ति । यस्यैते त्रयोऽनादृतास्तस्य सर्वाणि श्रौतस्मार्तकर्माणि निष्फलानि भवन्ति ॥२३४॥

अ०—यस्य एते त्रयः आदृताः तस्य सर्वे कर्माः आदृताः यस्य एते नादृताः तस्य सर्वाः क्रियाः अफलाः (भवन्ति) ॥२३४॥

जिसके ये तीनों (माता, पिता, आचार्य) सत्कृत हैं उसके सभी धर्म अनुष्ठित हैं, जिसके ये तीनों तिरस्कृत हैं उसकी सभी क्रियाएं निष्फल होती हैं ॥२३४॥

तीनों की सेवा में ही सब धर्मनिहित हैं तथा इनकी अवहेलना करके किए गए सभी धर्मानुष्ठान निष्फल हैं।

यावत्त्रयस्ते जीवेयुस्तावन्नान्यं समाचरेत् ।
तेष्वेव नित्यं शुश्रूषां कुर्यात्प्रियहिते रतः ॥२३५॥

यावदिति ॥ ते त्रयो यावज्जीवन्ति तावदन्यं धर्मं स्वातन्त्र्येण नानुतिष्ठेत् । तदनुज्ञया तु कर्मानुष्ठानं प्रागिवहितमेव । किंतु तेष्वेव प्रत्यहं प्रियहितपरः शुश्रूषां तदर्थं प्रीतिसाधनं प्रियम्, भेषजपानादिवत् । आयत्यामिष्टसाधनं हितम् ॥२३५॥

अ०—यावत् ते त्रयः जीवेयुः तावत् अन्यं न समाचरेत्, प्रियहिते रतः तेषु एव नित्यं शुश्रूषां कुर्यात् ॥२३५॥

जब तक ये तीनों जिएं तब तक (उनकी आज्ञा के बिना) दूसरे धर्म का आच-रण न करे अपितु उनके अनुकूल एवं हितकारी कार्यों में लगा हुआ सदा ही (उनकी) सेवा करे ॥२३५॥

तेषामनुपरोधेन पारत्र्यं यद्यदाचरेत् ।
तत्तन्निवेदयेत्तेभ्यो मनोवचनकर्मभिः ॥२३६॥

तेषामिति ॥ तेषां शुश्रूषाया अविरोधेन तदनुज्ञातो यद्यन्मनोवचनकर्मभिः पर-लोकफलं कर्मानुष्ठितं तन्मयैतदनुष्ठितमिति पश्चात्तेभ्यो निवेदयेत् ॥२३६॥

अ०—तेषामनुरोधेन मनोवचनकर्मभिः यत् यत् पारत्र्यम् आचरेत् तत् तत् तेभ्यो निवेदयेत् ॥२३६॥

उनकी आज्ञा से मन वाणी क्रिया से जो जो परलोक सम्बन्धी कर्म करे उन्हें

उनको (माता, पिता, गुरु को) बता दे अथवा समर्पित कर दे ॥२३६॥

त्रिष्वेतेष्वितिकृत्यं हि पुरुषस्य समाप्यते ।
एष धर्मः परः साक्षादुपधर्मोऽन्य उच्यते ॥२३७॥

त्रिष्विति ॥ इतिशब्दः कार्त्स्न्ये । हिशब्दो हेतौ । यस्मादेतेषु त्रिषु शुश्रूषितेषु पुरुषस्य सर्वं श्रौतस्मार्तं कर्तव्यं संपूर्णमनुष्ठितं भवति, तत्फलावाप्तेः । तस्मादेव श्रेष्ठो धर्मः साक्षात्सर्वपुरुषार्थसाधनः । अन्यस्त्वग्निहोत्रादिप्रतिनियतस्वर्गादिहेतु-रूपधर्मो जघन्यधर्म इति शुश्रूषास्तुतिः ॥२३७॥

अ०—हि एतेषु त्रिषु पुरुषस्य इतिकृत्यं समाप्यते, एषः साक्षात् परः धर्मः अन्यः उपधर्मः उच्यते ॥२३७॥

इन तीनों में ही मनुष्य कृत्कृत्य अर्थात् इनकी सेवा से ही मनुष्य के सभी कर्तव्य अनुष्ठित हो जाते हैं। यही प्रत्यक्ष परम धर्म हैं शेष सभी विहित कार्य गौण धर्म हैं ॥२३७॥

श्रद्दधानः शुभां विद्यामाददीतावरादपि ।
अन्त्यादपि परं धर्मं स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि ॥२३८॥

श्रद्दधान इति ॥ श्रद्धायुक्तः शुभां दृष्टशक्ति गारुडादिविद्यामवराच्छूद्रादपि गृह्णीयात् । अन्त्यश्चाण्डालस्तस्मादपि जातिस्मरादेर्विहितयोगप्रकर्षात् दुष्कृतशेषोपभोगार्थमवाप्तचाण्डालजन्मतः परं धर्मं मोक्षोपायमात्मज्ञानमाददीत । तथा अज्ञानमेवोपक्रम्य मोक्षधर्मे 'प्राप्य ज्ञानं ब्राह्मणात्क्षत्रियाद्वैश्याच्छूद्रादपि नीचादभीक्ष्णं श्रद्धातव्यं 'श्रद्दधानेन नित्यम् ।' न श्रद्धितं प्रति जन्ममृत्युविशेषता । मेधातिथिस्तु —"श्रुतिस्मृत्यपेक्षया परो धर्मो लौकिकः । धर्मशब्दो व्यवस्थायामपि युज्यते । यदि चाण्डालोऽपि—'अत्र प्रदेशे मा चिरं स्था मा चास्मिन्नम्भसि स्नाया" इति वदति तमपि धर्ममनुतिष्ठेत् ।" 'प्रागल्भ्याल्लौकिकं वस्तु परं धर्ममिति ब्रुवन् । चित्रं तथापि सर्वत्र श्लाघ्यो मेधातिथिः सताम् ॥' स्त्रीरत्नं आत्मापेक्षया निकृष्टकुलादपि परिणेतुं स्वीकुर्यात् ॥२३८॥

अ०—श्रद्दधानः शुभां विद्याम् अवराद् अपि अन्त्यात् अपि परं धर्मं दुष्कुलात् अपि स्त्रीरत्नम् आददीत् ॥२३८॥

जो श्रेष्ठ नहीं है उससे भी श्रद्धापूर्वक कल्याणकारी विद्या, चाण्डालादि नीच से भी परम धर्म (माता, पिता, आचार्य की सेवा) नीच कुल से भी उत्कृष्ट स्त्री को ग्रहण करना चाहिए ॥२३८॥

विषादप्यमृतं ग्राह्यं बालादपि सुभाषितम् ।
अमित्रादपि सद्वृत्तममेध्यादपि काञ्चनम् ॥२३९॥

विषादिति ॥ विषं यद्यमृतसंयुक्तं भवति तदा विषमपसार्य तस्मादमृतं ग्राह्यम्, बालादपि हितवचनं ग्राह्यं, शत्रुतोऽपि सज्जनवृत्तं, अमेध्यादपि सुवर्णादि ग्रहीतव्यम् ॥२३९॥

अ०—विषात् अपि अमृतं ग्राह्यम् बालात् अपि सुभाषितम्, अमित्रात् अपि सद्वृत्तम् अमेध्यात् अपि काञ्चनम् ग्राह्यम् ॥२३९॥

विष से भी अमृत का, बच्चे से भी सूक्ति का, जो मित्र नहीं है उससे भी अच्छे आचरण का, तथा जो यज्ञ के लिए उपयुक्त नहीं है ऐसे अपवित्र व्यक्ति (शूद्र) अथवा (यज्ञ के लिए अनुपयुक्त) स्थान से सुवर्ण का ग्रहण कर लेना चाहिए ॥२३९॥

स्त्रियो रत्नान्यथो विद्या धर्मः शौचं सुभाषितम् ।
विविधानि च शिल्पानि समादेयानि सर्वतः ॥२४०॥

स्त्रिय इति ॥ अत्र स्त्र्यादीनामुक्तानामपि दृष्टान्तत्वेनोपादानम्; यथा स्त्र्यादयो निकृष्टकुलादिभ्यो गृह्यन्ते तथा अन्यान्यपि हितानि चित्रलिखनादीनि सर्वतः प्रतिग्रहीतव्यानि ॥२४०॥

अ०—स्त्रियः रत्नानि अथो विद्या धर्मः शौचं सुभाषितं विविधानि शिल्पानि च सर्वतः समादेयानि ॥२४०॥

स्त्री, रत्न, विद्या, धर्म, शुद्धता, सूक्ति एवं विभिन्न शिल्पों का ग्रहण सबसे करना चाहिए ॥२४०॥

अब्राह्मणादध्ययनमापत्काले विधीयते ।
अनुव्रज्या च शुश्रूषा यावदध्ययनं गुरोः ॥२४१॥

अब्राह्मणादिति ॥ ब्राह्मणादन्यो यो द्विजः क्षत्रियस्तदभावे वैश्यो वा तस्मादध्ययनमापत्काले ब्राह्मणाध्यापकासंभवे ब्रह्मचारिणो विधीयते । अनुव्रज्यादिरूपा गुरोः शुश्रूषा यावदध्ययनं तावत्कार्या । गुरुपादप्रक्षालनोच्छिष्टप्राशनादिरूपा शुश्रूषाऽप्रशस्ता सा न कार्या । तदर्थमनुव्रज्या चेति विशेषितम् । गुरुत्वमपि यावदध्ययनमेव क्षत्रियस्याह व्यासः (व्या. स्मृ. १।३५)—'मन्त्रदः क्षत्रियो विप्रैः शुश्रूषानुगमादिना । प्राप्तविद्यो ब्राह्मणस्तु पुनस्तस्य गुरुः स्मृतः' ॥२४१॥

अ०—आपात्काले अब्राह्मणात् अध्ययनं विधीयते अनुव्रज्या गुरोः शुश्रूषा च यावदध्ययनं (कर्तव्या) ॥२४१॥

आपत्काल (ब्राह्मण अध्यापक के न प्राप्त होने पर) में ब्राह्मण से अतिरिक्त वर्ण से भी अध्ययन का विधान है, उसके अनुकूल आचरण तथा सेवा' अध्ययन पर्यन्त ही करने चाहिएं ॥२४१॥

ब्रह्मचारित्वे नैष्ठिकस्याप्यब्राह्मणादध्ययनं प्रसक्तं प्रतिषेधयति—

नाब्राह्मणे गुरौ शिष्यो वासमात्यन्तिकं वसेत् ।
ब्राह्मणे चाननूचाने काङ्क्षन्गतिमनुत्तमाम् ॥२४२॥

नाब्राह्मण इति ॥ आत्यन्तिकं वासं यावज्जीविकं ब्रह्मचर्यं क्षत्रियादिके गुरौ ब्राह्मणे साङ्गवेदानध्येतरि। अनुत्तमां गतिं मोक्षलक्षणामिच्छन् शिष्यो नावतिष्ठेत ॥२४२॥

अ०—शिष्यः अनुत्तमां गतिं कांक्षन् अब्राह्मणे अननूचाने ब्राह्मणे च आत्यन्तिकं वासं न वसेत् ॥२४२॥

मोक्ष को चाहने वाला शिष्य ब्राह्मण से अतिरिक्त वर्ण में तथा जिस ब्राह्मण में वेद पढ़ाने का सामर्थ्य न हो ऐसे ब्राह्मण में आत्यन्तिक (जीवन पर्यन्त) निवास न करे अर्थात् वेद पढ़ाने में सामर्थ ब्राह्मण की ही शिष्यता मोक्ष के लिए स्वीकार करे॥२४२॥

यदि त्वात्यन्तिकं वासं रोचयेत गुरोः कुले ।
युक्तः परिचरेदेनमा शरीरविमोक्षणात् ॥२४३॥

यदीति ॥ यदि तु गुरोः कुले नैष्ठिकब्रह्मचर्यात्मकमात्यन्तिकं वासमिच्छेत्तदा यावज्जीवनमुद्युक्तो गुरुं शुश्रूषयेत् ॥२४३॥

अ०—यदि तु गुरोः कुले आत्यन्तिकं वासं रोचयेत, आ शरीरविमोक्षणात् युक्तः एनं परिचरेत् ॥२४३॥

यदि गुरु कुल में (शिष्य की) आत्यन्तिक वास की रुचि हो तो मृत्यु पर्यन्त मनोयोग से गुरु की परिचर्या (सेवा) करे ॥२४३॥

अस्य फलमाह—

आ समाप्तेः शरीरस्य यस्तु शुश्रूषते गुरुम् ।
स गच्छत्यञ्जसा विप्रो ब्रह्मणः सद्म शाश्वतम् ॥२४४॥

आ समाप्तेरिति ॥ समाप्तिः शरीरस्य जीवनत्यागः, तत्पर्यन्तं यो गुरुं परिचरति स तत्त्वतो ब्रह्मणः सद्मरूपमविनाशि पदं प्राप्नोति। ब्रह्मणि लीयत इत्यर्थः ॥२४४॥

अ०—यस्तु शरीरस्य समाप्तेः आ गुरुं शुश्रूषते स विप्रः ब्रह्मणः शाश्वतं सद्म अञ्जसा गच्छति ॥२४४॥

जो शरीर की समाप्ति तक अर्थात् मृत्यु पर्यन्त गुरु की सेवा करता है वह विप्र ब्रह्म के सनातन पद को शीघ्र ही प्राप्त करता है ॥२४४॥

न पूर्वं गुरवे किंचिदुपकुर्वीत धर्मवित् ।
स्नास्यंस्तु गुरुणाऽऽज्ञप्तः शक्त्या गुर्वर्थमाहरेत् ॥२४५॥

न पूर्वमिति ।। उपकुर्वाणस्यायं विधिः, नैष्ठिकस्य स्नानासंभवात् । गुरुदक्षिणादानं धर्मज्ञो ब्रह्मचारी स्नानात्पूर्वं किंचिद्गोवस्त्रादि धनं गुरवे नावश्यं दद्यात् । यदि तु यदृच्छातो लभते तदा गुरवे दद्यादेव। अत एव स्नानात्पूर्वं गुरवे दानमाहापस्तम्बः—'यदन्यानि द्रव्याणि यथालाभमुपहरति दक्षिणा एव ताः स एवं ब्रह्मचारिणो यज्ञो नित्यव्रतम्' इति। स्नास्यन्पुनर्गुरुणा दत्ताज्ञो यथाशक्ति धनिनं याचित्वापि प्रतिग्रहादिनापि गुरवेऽर्थमाहृत्यावश्यं दद्यात् ।।२४५।।

अ०—धर्मवित् पूर्वं गुरवेन किञ्चित् उपकुर्वीत स्नास्यन् गुरुणा आज्ञप्तः शक्त्या गुर्वर्थम् आहरेत् ।।२४५।।

धर्मज्ञ पहले गुरु को कुछ न निवेदित करे अध्ययन के पश्चात् किए जाने वाले समावर्तन संस्कार के समय गुरु की आज्ञा से यथा शक्ति गुरु को भेंट दें ।।२४५।।

किं तत्तदाह—

क्षेत्रं हिरण्यं गामश्वं छत्रोपानहमासनम् ।
धान्यं शाकं च वासांसि गुरवे प्रीतिमावहेत् ।।२४६।।

क्षेत्रमिति ।। 'शक्त्या गुर्वर्थमाहरेत् (२।२४५) इत्युक्तत्वात्क्षेत्रहिरण्यादिकं यथासामर्थ्यं विकल्पितं समुदितं वा गुरवे दत्वा तत्प्रीतिमर्जयेत् । विकल्पपक्षे चान्ततोऽन्यासंभवे छत्रोपानहमपि दद्यात्; द्वन्द्वनिर्देशात् समुदितदानम् । प्रदर्शनार्थं चैतत् । संभवेऽन्यदपि दद्यात् । अत एव लघुहारीतः—'एकमप्यक्षरं यस्तु गुरुः शिष्ये निवेदयेत् । पृथिव्यां नास्ति तद्द्रव्यं यद्दत्त्वा चानृणी भवेत्' ।। असंभवे शाकमपि दद्यात् ।।२४६।।

अ०—गुरवे क्षेत्रं हिरण्यं गाम् अश्वं छत्रोपानहम्, आसनं धान्यं शाकं च वासांसि (प्रदाय) प्रीतिम् आवहेत् ।।२४६।।

गुरु को खेती योग्य भूमि, सुवर्ण, गौ, घोड़ा तथा छाता-जूता; आसन, धानादि अन्न, शाक एवं वस्त्रों को देकर संतुष्ट करे ।।२४६।।

आचार्ये तु खलु प्रेते गुरुपुत्रे गुणान्विते ।
गुरुदारे सपिण्डे वा गुरुवद्वृत्तिमाचरेत् ।।२४७।।

आचार्य इति ।। नैष्ठिकस्यायमुपदेशः । आचार्ये मृते तत्सुते विद्यादिगुणयुक्ते, तदभावे गुरुपत्न्यां, तदभावे गुरोः सपिण्डे पितृव्यादौ गुरुवच्छुश्रूषामनुतिष्ठेत् ।।२४७।।

अ०—आचार्ये तु प्रेते खलु गुणान्विते गुरुपुत्रे, गुरुदारे वा सपिण्डे गुरुवत् वृत्तिम् आचरेत् ।।२४७।।

(मुमुक्षु शिष्य) आचार्य के देहावसान के बाद गुणवान् गुरु के पुत्र के प्रति

(उसके अभाव में) गुरु की पत्नी के प्रति (पत्नी के अभाव में) गुरु के दायादों (चाचा, चचेरे भाई, भतीजे आदि) के प्रति गुरु के समान व्यवहार करे ॥२४७॥

एतेष्वविद्यमानेषु स्नानासनविहारवान् ।
प्रयुञ्जानोऽग्निशुश्रूषां साधयेद्देहमात्मनः ॥२४८॥

एतेष्विति ॥ एतेषु त्रिष्वविद्यमानेषु सततमाचार्यस्यैवाग्नेः समीपे स्नानासनविहारैः सायंप्रातरादौ समिद्धोमादिना चाग्नेः शुश्रूषां कुर्वन्नात्मनो देहमात्मदेहावच्छिन्नं जीवं ब्रह्मप्राप्तियोग्यं साधयेत् ॥२४८॥

अ०—एतेषु अविद्यमानेषु स्नानासनविहारवान् अग्निशुश्रूषां प्रयुञ्जान आत्मनः देहं साधयेत् ॥२४८॥

इन सब (गुरु पुत्र, गुरु पत्नी; गुरु सपिण्ड) के न रहने पर स्नान-आसन-विहार युक्त अग्नि की परिचर्या करता हुआ अपने शरीर को मोक्ष के योग्य बनाए ॥२४८॥

एवं चरति यो विप्रो ब्रह्मचर्यमविप्लुतः ।
स गच्छत्युत्तमस्थानं न चेह जायते पुनः ॥२४९॥

इति मानवे धर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायां द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

एवं चरतीति ॥ 'आ समाप्तेः शरीरस्य' (२।२४४) इत्यनेन यावज्जीवनाचार्यशुश्रूषाया मोक्षलक्षणं फलम् । इदानीमाचार्ये मृतेऽपि एवमित्यनेनानन्तरोक्तविधिना आचार्यपुत्रादीनामप्यग्निपर्यन्तानां शुश्रूषको यो नैष्ठिकब्रह्मचर्यमखण्डितव्रतोऽनुतिष्ठति स उत्तमं स्थानं ब्रह्मण्यात्यन्तिकलयलक्षणं प्राप्नोति । न चेह संसारे कर्मवशादुत्पत्तिं लभते ॥२४९॥

इति श्रीकुल्लूकभट्टकृतायां मन्वर्थमुक्तावल्यां मनुवृत्तौ द्वितीयोऽध्यायः ।

अ०—यः विप्रः अविलुप्तः एवं ब्रह्मचर्यं चरति सः उत्तमस्थानं गच्छति, इह च पुनः न जायते ॥२४९॥

जो ब्राह्मण अखण्डित ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करता है वह उत्तम पद (मोक्ष) को प्राप्त करता है तथा पुनः इस जगत् में उत्पन्न नहीं होता ॥२४९॥

इति मनुस्मृतौ 'आरति' भाषाटीकायां ब्रह्मचर्याश्रमविधानं
नाम द्वितीयोऽध्यायः

सप्तमोऽध्यायः

राजधर्मान्प्रवक्ष्यामि यथावृत्तो भवेन्नृपः ।
संभवश्च यथा तस्य सिद्धिश्च परमा यथा ॥१॥

राजधर्मानिति ॥ 'धर्म' शब्दोऽत्र दृष्टादृष्टार्थानुष्ठेयपरः, षाड्गुण्यादेरपि वक्ष्यमाणत्वात् । 'राज' शब्दोऽपि नात्र क्षत्रियजातिवचनः, किंत्वभिषिक्तजनपदपुरपालयितृपुरुषवचनः । अत एवाह 'यथावृत्तो भवेन्नृपः' इति । यथावदाचारो नृपतिर्भवेत्तथा तस्यानुष्ठेयानि कथयिष्यामि । यथा येन प्रकारेण वा 'राजानमसृजत्प्रभुः' (७।३) इत्यादिना तस्योत्पत्तिः, यथा च दृष्टादृष्टफलसंपत्तिः तदपि वक्ष्यामि ॥१॥

अ०—(मनुनादिष्टोऽहम् भृगुः) यथावृत्तः नृपः भवेत्, यथा तस्य संभवः यथा च परमा सिद्धिः (एतादृशान्) राजधर्मान् प्रवक्ष्यामि ॥१॥

(मनु के द्वारा आदेश प्राप्त मैं भृगु) जिस प्रकार के आचरण-व्यवहार वाला राजा हो, जिस प्रकार से उसका सृजन हुआ तथा जिस प्रकार से (उसकी) अत्यंत सफलता होती है राजा के ऐसे कर्तव्यों को कहूंगा ॥१॥

परमा सिद्धिः—उत्कृष्ट सफलता, मोक्ष ।

मेधातिथि—विजय के इच्छुक राजाओं को उत्कृष्ट सफलता तो एकाधिपत्य ही है—'प्रकृष्टा सिद्धिर्विजिगीषोरैकाधिपत्यम्' ।

ब्राह्मं प्राप्तेन संस्कारं क्षत्रियेण यथाविधि ।
सर्वस्यास्य यथान्यायं कर्तव्यं परिरक्षणम् ॥२॥

ब्राह्ममित्यादि ॥ ब्रह्म वेदस्तत्प्राप्त्यर्थतयोपनयनसंस्कारस्तं यथाशास्त्रं प्राप्नुवता क्षत्रियेणास्य सर्वस्य स्वविषयावस्थितस्य शास्त्रानुसारेण नियमतो रक्षणं कर्तव्यम् । एतेन क्षत्रिय एव नान्यो राज्याधिकारीति दर्शितम् । अत एव शास्त्रार्थतत्त्वं क्षत्रियस्य जीवनार्थं, तथा क्षत्रियस्य तु रक्षणं स्वकर्मसु श्रेष्ठं च वक्ष्यति, ब्राह्मणस्य ह्यापदि 'जीवेत्क्षत्रियधर्मेण' (१०।८१) इत्यभिधास्यति, वैश्यस्यापि क्षत्रियधर्मं,

शूद्रस्य च क्षत्रियवैश्यकर्मणी जीवनार्थमापदि जगाद नारदः—'न कथंचन कुर्वीत ब्राह्मणः कर्म वार्षलम् । वृषलः कर्म च ब्राह्मं पतनीये हि ते तयोः ।। उत्कृष्टं चापकृष्टं च तयोः कर्म न विद्यते । मध्यमे कर्मणी हित्वा सर्वसाधारणे हि ते ।। रक्षणं वेदधर्मार्थि तपः क्षत्रस्य रक्षणम्' । इति, 'सर्वतो धर्मषड्भागो राज्ञो भवति रक्षतः' (८।३०४) इति च वक्ष्यमाणत्वाद्रक्षितुर्बलिषड्भागग्रहणाद्दृष्टार्थमपि 'योऽरक्षन्बलिमादत्ते' (८।३०७) इति नरकपातं वक्ष्यति ॥२॥

अ०—यथाविधि ब्राह्मं संस्कारं प्राप्तेन क्षत्रियेण सर्वस्यास्य यथान्यायं परिरक्षणं कर्तव्यम् ॥२॥

शास्त्रोक्त विधि से जिसका वेद सम्बन्धी संस्कार (उपनयन) हुआ है ऐसे क्षत्रिय को इस सारे (स्थावर जङ्गम) की उचित प्रकार से रक्षा करनी चाहिए ॥२॥

ब्राह्मं संस्कार—वेद सम्बन्धी संस्कार।

कुल्लू०—उपनयन संस्कार।

Buhler—इनके अनुसार सर्वज्ञ नारायण के द्वारा किया गया अर्थ **'राज्याभिषेक संस्कार'** उचित है।

अराजके हि लोकेऽस्मिन्सर्वतो विद्रुते भयात् ।
रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजत्प्रभुः ॥३॥

अराजक इति ॥ यस्मादराजके जगति बलवद्भयात्सर्वतः प्रचलिते सर्वस्यास्य चराचरस्य रक्षार्थं राजानं सृष्टवांस्तस्मात्तेन रक्षणं कार्यम् ॥३॥

अ०—अराजके हि अस्मिन् लोके, भयात् सर्वतः विद्रुते प्रभुः अस्य सर्वस्य रक्षार्थं राजानम् असृजत् ॥३॥

क्योंकि बिना राजा के इस संसार में भय के कारण चारों ओर भाग दौड़ (अव्यवस्था) होने लगी (अतः) इस संसार की रक्षा के लिए ईश्वर ने राजा की सृष्टि करी ॥३॥

कथं सृष्टवानित्याह—

इन्द्रानिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च ।
चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वतीः ॥४॥

इन्द्रेति ॥ इन्द्रवातयमसूर्याग्निवरुणचन्द्रकुबेराणां मात्रा अंशान्सारभूतानाकृष्य राजानमसृजत् ॥४॥

अ०—(प्रभुः) इन्द्रानिलयमार्काणाम् अग्नेः च वरुणस्य च चन्द्रवित्तेशयोः चैवं शाश्वतीः मात्राः निर्हृत्य (राजानमसृजत्) ॥४॥

(ईश्वर ने) इन्द्र, वायु, सूर्य, अग्नि, वरुण, चन्द्र तथा कुबेर के नित्य अवयवों

को पूर्ण रूप से लेकर (राजा को रचा) ॥४॥

शाश्वतीः मात्राः—नित्य अवयवों को।

कुल्लू—सारभूत अंशों को।

यस्मादेषां सुरेन्द्राणां मात्राभ्यो निर्मितो नृपः।
तस्मादभिभवत्येष सर्वभूतानि तेजसा ॥५॥

यस्मादिति ॥ यस्मादिन्द्रादीनां देवश्रेष्ठानामंशेभ्यो नृपतिः सृष्टस्तस्मादेष सर्वप्राणिनो वीर्येणातिशेते ॥५॥

अ०—यस्मात एषां सुरेन्द्राणां मात्राभ्यः निर्मितः तस्मात् एषः नृपः तेजसा सर्वभूतानि अभिभवति ॥५॥

क्योंकि इन इन्द्र सूर्यादि देवताओं के अवयवों से बनाया गया है इसलिए यह राजा (अपने) पराक्रम से सब प्राणियों को तिरस्कृत करता है ॥५॥

राजा अलौकिक तत्त्वों से निर्मित होने के कारण दूसरे लौकिक मनुष्यों को अपने अलौकिक व्यक्तित्व से दबा देता है।

तपत्यादित्यवच्चैष चक्षूंषि च मनांसि च।
न चैनं भुवि शक्नोति कश्चिदप्यभिवीक्षितुम् ॥६॥

तपतीत्यादि ॥ अयं च राजा स्वतेजसा सूर्य इव पश्यतां चक्षूंषि मनांसि च संतापयति, न चैनं राजानं पृथिव्यां कश्चिदप्याभिमुख्येन द्रष्टुं क्षमते ॥६॥

अ०—एषः (नृपः) आदित्यवत् चक्षूंषि च मनांसि च तपति (तस्मात्) कश्चिद् अपि च एनं भुवि अभिवीक्षितुम् न शक्नोति ॥६॥

यह (राजा) सूर्य के समान आंखों तथा चित्तों को तपाता है इसलिए पृथ्वी पर इस को कोई सम्मुख होकर देखने में समर्थ नहीं होता ॥६॥

सोऽग्निर्भवति वायुश्च सोऽर्कः सोमः स धर्मराट्।
स कुबेरः स वरुणः स चेन्द्रः स्वप्रभावतः ॥७॥

स इत्यादि ॥ एवं चाग्न्यादीनां पूर्वोक्तांशभवत्वात्तत्कर्मकारित्वाच्च प्रताप उक्तः, 'तेजस्वी' (९।३१०) इत्यादिना नवमाध्याये वक्ष्यमाणत्वात्। स राजा शक्त्यतिशयेनाग्न्यादिरूपो भवति ॥७॥

अ०—स स्वप्रभावतः अग्निः वायुः च स अर्कः, सोमः, स धर्मराट्, स कुबेरः, स च इन्द्रः भवति ॥७॥

वह (राजा) अपने प्रभाव से अग्नि, वायु, सूर्य चन्द्र, यम, कुबेर तथा इन्द्र है ॥७॥

इन्द्र जिस प्रकार वर्षा करके मनुष्यों की इच्छा पूर्ति करता है उसी प्रकार राजा अपने राष्ट्र की प्रजा की इच्छा पूर्ति करता है। सूर्य जिस प्रकार अपनी

किरणों से जल ग्रहण करता है उसी प्रकार राजा प्रजा से कर ग्रहण करता है। वायु के समान सब मनुष्यों में अपने गुप्तचरों के द्वारा प्रविष्ट रहता है। अपना-पराया भुलाकर यम के समान न्याय करता है। वरुण पापियों को बांधता है, यह राजा भी ऐसा ही करता है। पूर्णचन्द्रमा के समान प्रजा को आह्लादित करता है। पापियों को दण्ड देने में प्रचण्ड अग्नि के समान तेजस्वी होता है तथा धरा के धारण गुण के समान ही प्रजा को धारण करता है। (मनु.IX.३०४-३११।) कुवेर के समान अपने कोष से सिद्ध ही है। अतः देवताओं के आचरण के समान आचरण वाला होने के कारण राजा उनके समान पूजनीय है।

बालोऽपि नावमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः।
महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति ॥८॥

बाल इत्यादि ॥ ततश्च मनुष्य इति बुद्ध्या बालोऽपि राजा नावमन्तव्यः। यस्मान्महतीयं काचिद्देवता मानुषरूपेणावतिष्ठते। एतेन देवतावज्ञायामधर्मादयोऽदृष्टदोषा उक्ताः ॥८॥

अ०—मनुष्य इति बालः अपि भूमिपः न अवमन्तव्यः, एषा हि महती देवताः नररूपेण तिष्ठति ॥८॥

(राजा) मनुष्य है यह मानकर आयु तथा विद्या में न्यून भी राजा का अपमान नहीं करना चाहिए, क्योंकि यह नर के रूप में महान देवता होता है ॥८॥

संप्रति दृष्टदोषमाह—

एकमेव दहत्यग्निर्नरं दुरुपसर्पिणम्।
कुलं दहति राजाग्निः सपशुद्रव्यसंचयम् ॥९॥

एकमित्यादि ॥ योऽग्नेरतिसमीपमनवहितः सन्नुपसर्पति तं दुरुपसर्पिणमेकमेवाग्निर्दहति, न तत्पुत्रादिकम्। क्रुद्धो राजाग्निः पुत्रदारभ्रात्रादिरूपं कुलमेव गवाश्वादिपशुसुवर्णादिधनसंचयसहितं सापराधं निहन्ति ॥९॥

अ०—अग्निः दुरुपसर्पिणम् एकमेव नरं दहति (किंतु) राजाग्निः सपशुद्रव्यसंचितं कुलं दहति ॥९॥

अग्नि असावधानी पूर्वक पास आने वाले अकेले पुरुष को ही जलाती है किन्तु राजा की क्रोध रूपी अग्नि की प्रचण्डता तो संचित पशु तथा धन सहित (सारे) कुल को जला डालती है ॥९॥

पूर्व श्लोक में राजा को महान देवता कहा है। यहाँ एक उदाहरण देकर राजा की देवता से भी महानता दिखाई गई है।

कार्यं सोऽवेक्ष्य शक्तिं च देशकालौ च तत्त्वतः।
कुरुते धर्मसिद्ध्यर्थं विश्वरूपं पुनः पुनः ॥१०॥

कार्यमित्यादि ॥ स राजा प्रयोजनापेक्षया स्वशक्तिं देशकालौ चावेक्ष्य कार्य-सिद्ध्यर्थं तत्त्वतो विश्वरूपं बहूनि रूपाणि करोति। जातिविवक्षया बहुष्वेकवचनम्। अशक्तिदशायां क्षमते, शक्तिं प्राप्योन्मूलयति, एवमेकस्मिन्नपि देशे काले च प्रयोजनानुरोधेन शत्रुर्वा मित्रं वा उदासीनो वा भवति, अतो 'राजवल्लभोऽहम्' इति बुद्ध्या नावज्ञेयः ॥१०॥

अ०—सः तत्त्वतः कार्यं शक्तिं च देश कालौ च अवेक्ष्य धर्मसिद्ध्यर्थं पुनः पुनः विश्वरूपं कुरुते ॥१०॥

वह यथार्थ में अपने प्रयोजन क्षमता तथा परिस्थिति एवं समय को ध्यान में रखकर धर्म तथा प्रयोजन के लिए बार-बार अनेक रूप धारण करता है ॥१०॥

यस्य प्रसादे पद्मा श्रीर्विजयश्च पराक्रमे ।
मृत्युश्च वसति क्रोधे सर्वतेजोमयो हि सः ॥११॥

यस्येत्यादि ॥ 'पद्मा' शब्दः श्रीपर्यायोऽपि महत्त्वविवक्षयात्र प्रयुक्तः। यस्य प्रसादान्महती श्रीर्भवत्यतः श्रीकामेन सेव्यः। यस्य शत्रवः सन्ति तानपि संतोषितो हन्ति। तेन च शत्रुवधकामेनाप्याराधनीयः। यस्मै क्रुध्यति तस्य मृत्युं करोति, तस्माज्जीवनार्थिना न क्रोधनीयः। यस्मात्सर्वेषां सूर्याग्निसोमादीनां तेजो बिभर्ति ॥११॥

अ०—यस्य प्रसादे पद्मा श्रीः, पराक्रमे विजयः, क्रोधे च मृत्युः वसति सः हि सर्वतेजमयः (भवति) ॥११॥

जिसकी कृपा में महान धन, पराक्रम में सफलता तथा क्रोध में मृत्यु रहती है वह राजा सर्वशक्तिमान है अर्थात् क्योंकि वह राजा सर्वशक्तिमान है अतः उसकी कृपा पराक्रम तथा क्रोध सफल होते हैं ॥११॥

तं यस्तु द्वेष्टि संमोहात्स विनश्यत्यसंशयम् ।
तस्य ह्याशु विनाशाय राजा प्रकुरुते मनः ॥१२॥

तमित्यादि ॥ तं राजानमज्ञतया यो द्वेष्टि तस्याप्रीतिमुत्पादयति स नि राजक्रोधान्नश्यति। यस्मात्तस्य विनाशाय शीघ्रं राजा मनो नियुक्ते ॥१२॥

अ०—यः तु संमोहात् तं द्वेष्टि स असंशयं विनश्यति, तस्य हि आ[शु] राजा मनः प्रकुरुते ॥१२॥

जो मूर्खता के कारण उस (राजा) से द्वेष करता है, वह [...] जाता है क्योंकि राजा उसके शीघ्र नाश का निश्चय कर लेता है [...]

राजा अलौकिक तथा लौकिक शक्ति (सेना आदि) से [...] उसके निश्चय तथा तदनुसार आचरण में अधिक समय न[...]

[...]धूक्तं
[...]णेष्वपि
[...]हेतुत्वाद्धर्मं
[...]नात् ॥१८॥
[...] सुप्तेषु जागर्ति

[...] रक्षा करता है, दण्ड

तस्माद्धर्मं यमिष्टेषु स व्यवस्येन्नराधिपः ।
अनिष्टं चाप्यनिष्टेषु तं धर्मं न विचालयेत् ॥१३॥

तस्मादित्यादि ॥ यतः सर्वतेजोमयो नृपतिस्तस्मादपेक्षितेषु यमिष्टं शास्त्रानुष्ठेयं शास्त्राविरुद्धं निश्चित्य व्यवस्थापयति, अनपेक्षितेपु चानिष्टं नियमं नातिक्रामेत् ॥१३॥

अ०—तस्मात् सः नराधिपः यम् धर्मम् इष्टेपु व्यवस्येत्, अनिष्टं च अनिष्टेषु अपि तं धर्मं न विचालयेत् ॥१३॥

अतः वह राजा (जिसके क्रोध में मृत्यु रहती है) जिस शास्त्रानुकूल नियम को कल्याण के लिए तथा (शास्त्रनिषिद्ध) अकल्याणकारी कार्यों में भी जो नियम ...ता है उसका भी उल्लंघन नहीं करना चाहिए ॥१३॥

बना द... इत्य... तथा नकारात्मक ...

सकारात्म... ... राजा के आदेशों का उल्लंघन नहीं किया जाना चाहिए।

जैसे—सकारात्मक—आज सभी उत्सव मनाएं।

नकारात्मक—आज कोई भी शिकार नहीं करे।

उपरोक्त दोनों आदेश शास्त्र प्रतिकूल भी नहीं हैं अतः इनका उल्लंघन स्वेच्छा से नहीं करना चाहिए।

तस्यार्थे सर्वभूतानां गोप्तारं धर्ममात्मजम् ।
ब्रह्मतेजोमयं दण्डमसृजत्पूर्वमीश्वरः ॥१४॥

तस्यार्थ इति ॥ तस्य राज्ञः प्रयोजनसिद्धये सर्वप्राणिनां रक्षितारं धर्मस्वरूपं पुत्रं ब्रह्मणो यत्केवलं तेजस्तेन निर्मितं न पाञ्चभौतिकं देहं ब्रह्मा पूर्वं सृष्टवान् ॥१४॥

अ०—तस्य अर्थे पूर्वम् ईश्वरः सर्वभूतानां गोप्तारं धर्मम् आत्मजं ब्रह्मतेजोमयं ...न् असृजत् ॥१४॥

कुलं द... स राजा के लिए (राजा से) पहले ईश्वर ने सभी प्राणियों के रक्षक (अपने) अ... ब्रह्मवर्चस्वी दण्ड को रचा ॥१४॥

राजा की ... ...र्वाणि भूतानि स्थावराणि चराणि च ।
कुल को जला... ...गाय कल्पन्ते स्वधर्मान्न चलन्ति च ॥१५॥

पूर्व श्लोक ...

राजा की देवता से ... तस्य दण्डस्य भयेन चराचराः सर्वे प्राणिनो भोगं कर्तुं समर्था ...ता दुर्बलस्य धनदारादिग्रहणे तस्यापि तदपेक्ष्य बलिनेति

कार्यं सोऽवेक्ष्य श... वृक्षादीनां स्थावरादीनां छेदने भोगासिद्धिः, तथा सता-

४ कुरुते धर्मसिद्ध्यर्थं ... ...ष्ठानमकरणे याम्ययातनाभयादेव ॥१५॥

...र्वाणि स्थावराणि चराणि च जीवानि भोगाय कल्पन्ते

स्वधर्मात् च न चलन्ति ॥१५॥

उस (दण्ड) के भय से सभी चर तथा अचर प्राणी भोग को भोगने के योग्य होते हैं तथा अपने धर्म से विचलित नहीं होते हैं ॥१५॥

तं देशकालौ शक्तिं च विद्यां चावेक्ष्य तत्त्वतः ।
यथार्हतः संप्रणयेन्नरेष्वन्यायवर्तिषु ॥१६॥

तमित्यादि ॥ तं दण्डं देशकालौ दण्डयस्य च शक्तिं विद्यादिकं यस्मिन्नपराधे यो दण्डोऽर्हतीत्यादिकं शास्त्रानुसारेण तत्त्वतो निरूप्यापराधिषु प्रवर्तयेत् ॥१६॥

अ०—देशकालौ शक्तिं विद्यां च तत्त्वतः अवेक्ष्य अन्यायवर्तिषु नरेषु यथार्हतः तं (दन्डं) संप्रणयेत् ॥१६॥

देश, समय, क्षमता, तथा शास्त्र को पूर्णतः समझकर न्याय के प्रतिकूल आचरण करने वाले व्यक्तियों के लिए अपराध के अनुरूप उस (अलौकिक) दण्ड का प्रयोग करे ॥१६॥

स राजा पुरुषो दण्डः स नेता शासिता च सः ।
चतुर्णामाश्रमाणां च धर्मस्य प्रतिभूः स्मृतः ॥१७॥

स इत्यादि ॥ स एव दण्डो वस्तुतो राजा तस्मिन् सति राजशक्तियोगात्, स एव पुरुषस्ततोऽन्ये स्त्रिय इव तद्विधेयत्वात् स एव नेता तेन कार्याणि नीयन्ते प्राप्यन्ते, स एव शासिता शासनमाज्ञा तद्दातृत्वात्, स एव चतुर्णामप्याश्रमाणां यो धर्मस्तस्य संपादने प्रतिभूरिव प्रतिभूर्मुनिभिः स्मृतः ॥१७॥

अ०—सः दण्डः राजा, पुरुषः, सः नेता, सः च शासिता, चतुर्णाम् आश्रमाणां धर्मस्य प्रतिभूः स्मृतः ॥१७॥

वह दण्ड (ही) राजा है, पुरुष है, वही नेता है, वह शासन करने वाला तथा चारों (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास) आश्रमों के धर्म का प्रतिभू (जिम्मेवार) कहा गया है ॥१७॥

दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वा दण्ड एवाभिरक्षति ।
दण्डः सुप्तेषु जागर्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः ॥१८॥

दण्डः शास्तीति ॥ यस्माद्दण्डः सर्वाः प्रजा आज्ञां करोति तस्मात्साधूक्तं शासितेति ज्ञेयम् । यस्मात्स एव प्रजा रक्षति ततो युक्तमुक्तं राजेति । निद्राणेष्वपि रक्षितृषु दण्ड एव जागर्ति, तद्भयेनैव चौरादीनामप्रवृत्तेः । दण्डमेव धर्महेतुत्वाद्धर्मं जानन्ति । कारणे कार्योपचारः । ऐहिकपारत्रिकदण्डभयादेव धर्मानुष्ठानात् ॥१८॥

अ०—दण्डः सर्वाः प्रजाः शास्ति, दण्ड एव अभिरक्षति, दण्डः सुप्तेषु जागर्ति बुधाः दण्डं धर्मं विदुः ॥१८॥

दण्डसभी (चराचर)प्रजाओं का शासन करता है, दण्ड ही रक्षा करता है, दण्ड

(प्रजा के) सोने पर जागता है, विद्वान दण्ड को धर्म समझते हैं ॥१८॥

दण्ड के भय से लोग यथेच्छाचारी नहीं होते इसलिए दण्ड को धर्म अर्थात् धर्माचरण का हेतु कहा गया है। 'हिंसा अधर्म का साधन है अतः दण्ड भी अधर्म है' ऐसी शंका न हो संभवतः इसलिए यहां दण्ड को धर्म कहा गया है।

समीक्ष्य स धृतः सम्यक्सर्वा रञ्जयति प्रजाः।
असमीक्ष्य प्रणीतस्तु विनाशयति सर्वतः ॥१९॥

समीक्ष्येत्यादि ॥ स दण्डः शास्त्रतः सम्यङ्निरूप्यापराधानुरूपेण देहधनादिषु धृतः सर्वाः प्रजाः सानुरागाः करोति। अविचार्य तु लोभादिना प्रयुक्तः सर्वाणि बाह्यार्थपुत्रादीनि नाशयति। सर्वत इति द्वितीयार्थे तसिः ॥१९॥

अ०—समीक्ष्य सम्यक् धृतः स सर्वाः प्रजाः रञ्जयति, असमीक्ष्य प्रणीतः तु सर्वत्र विनाशयति ॥१९॥

ठीक प्रकार से समझ कर धारण किया गया दण्ड सभी लोगों को प्रसन्न करता है किन्तु बिना समझ-बूझ के प्रयोग किया (दण्ड) सभी जगह विनाश करता है ॥१९॥

यदि न प्रणयेद्राजा दण्डं दण्ड्येष्वतन्द्रितः।
शूले मत्स्यानिवापक्ष्यन्दुर्बलान्बलवत्तराः ॥२०॥

यदीत्यादि ॥ यदि राजाऽनलसो भूत्वा दन्डप्रणयनं न कुर्यात्तदा शूले कृत्वा मत्स्यानिव बलवन्तो दुर्बलानपक्ष्यन्। लृङन्तस्य पचिधातो रूपमिदम्। बलिनोऽल्पबलानां हिंसामकरिष्यन्नित्यर्थः। 'शूले मत्स्यानिवापक्ष्यन्' इत्येष मेधातिथि-गोविन्दराजलिखितः पाठः। 'जले मत्स्यानिवाहिंस्युः' इति च पाठान्तरम्। अत्र बलवन्तो दुर्बलान्हिंस्युरिति मत्स्यन्याय एव स्यादित्युक्तम् ॥२०॥

अ०—यदि राजा अतन्द्रितः दण्ड्येषु दडं न प्रणयेत् (तर्हि) बलवत्तराः दुर्बलान् मत्स्यान् इव शूले अपक्ष्यन् ॥२०॥

यदि राजा सावधान होकर अपराधियों को दण्डित न करे तो अपेक्षाकृत बलवान दुर्बलों को मछलियों के समान सूली पर चढ़ाकर पका लेंगे ॥२०॥

अद्यात्काकः पुरोडाशं श्वा च लिह्याद्धविस्तथा।
स्वाम्यं च न स्यात्कस्मिंश्चित्प्रवर्तेताधरोत्तरम् ॥२१॥

अद्यादिति ॥ यदि राजा दण्डं नाचरिष्यत्तदा यज्ञेषु सर्वथा हविरनर्हः काकः पुरोडाशमखादिष्यत्। तथा कुक्कुरः पायसादि हविरलेक्ष्यत्। न कस्यचित्कुत्रचित्स्वाम्यमभविष्यत्। ततो बलिना तद्ग्रहणाद्ब्राह्मणादिवर्णानां च मध्ये यदवरं शूद्रादि तदेवोत्तरं प्रधानं प्रावर्तिष्यत ॥२१॥

अ०—(दण्डप्रयोगाभावे तु) काकः पुरोडाशम् अद्यात् तथा च श्वा हविः लिह्यात्, कस्मिश्चित् च स्वाम्यं न स्यात्, अधरोत्तरं प्रवर्तेत ॥२१॥

(यदि दण्ड का प्रयोग न किया जाए तो) कौआ पुरोडाश (यज्ञीय पकवान) खा जाएगा, कुत्ता हवनीय पदार्थों को चाट जाएगा, किसी का किसी पर शासन न होगा तथा निम्न (अनधिकारी) वृद्धि को पा जाएंगे ॥२१॥

सर्वो दण्डजितो लोको दुर्लभो हि शुचिर्नरः।
दण्डस्य हि भयात्सर्वं जगद्भोगाय कल्पते ॥२२॥

सर्वं इति ॥ सर्वोऽयं लोको दण्डेनैव नियमितः सन्मार्गेऽवतिष्ठते। स्वभावविशुद्धो हि मानुषः कष्टेन लभ्यते। तथा सर्वमिदं जगद्दण्डस्यैव भयादावश्यकभोजनादिरूपेऽपि भोगे समर्थं भवति ॥२२॥

अ०—सर्वः लोकः दण्डजितः, शुचिः नरः हि दुर्लभः, दण्डस्य भयात् हि सर्वं जगत् भोगाय कल्पते ॥२२॥

सारा जगत् दण्ड के द्वारा संयमित है। शुद्ध आचरण वाले मनुष्य दुर्लभ ही होते हैं इसलिए दण्ड के भय से ही सारा संसार भोग भोगने के योग्य होता है ॥२२॥

प्रायः न्याय के मार्ग पर लोग दण्ड के भय से चलते हैं, स्वभाव से मनुष्य उच्छृंखल ही है।

उक्तमपि दण्डस्य भोगसंपादकत्वं दार्ढ्यार्थं पुनरुच्यते—

देवदानवगन्धर्वा रक्षांसि पतगोरगाः।
तेऽपि भोगाय कल्पन्ते दण्डेनैव निपीडिताः ॥२३॥

देवेति ॥ इन्द्राग्निसूर्यवाय्वादयो देवास्तथा दानवगन्धर्वराक्षसपक्षिसर्पा अपि 'जगदीश्वरपरमार्थभयपीडिता एव वर्षदानाद्युपकाराय प्रवर्तन्ते।' तथा च श्रुतिः (कठ० उ० २।६।३)—'भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः। भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः' इति ॥२३॥

अ०—देवदानवगन्धर्वाः, रक्षांसि, पतगोरगाः तेऽपि दण्डेन एव निपीडिताः भोगाय कल्पन्ते ॥२३॥

देवता, दानव, गन्धर्व, राक्षस, पक्षी तथा छाती से सरकने वाले जीव (सर्प, छिपकली आदि) भी दण्ड के द्वारा ही प्रताडित होकर ही भोग में समर्थ होते हैं ॥२३॥

पूर्व श्लोक में मनुष्य को ही उच्छृंखल कहा गया था यहां पर जीव मात्र का यही स्वभाव कहा गया है।

दुष्येयुः सर्ववर्णाश्च भिद्येरन्सर्वसेतवः ।
सर्वलोकप्रकोपश्च भवेद्दण्डस्य विभ्रमात् ॥२४॥

दुष्येयुरिति ॥ दण्डस्यानाचरणादनुचितेन वा प्रवर्तनात्सर्वे ब्राह्मणादिवर्णा इतरेतरस्त्रीगमनेन संकीर्येरन्, सर्वशास्त्रीयनियमाश्चतुर्वर्गफला उत्सीदेयुः, चौर्यसाहसादिना च परस्यापकारात्सर्वलोकसंक्षोभश्च जायेत ॥२४॥

अ०—दण्डस्य विभ्रमात् सर्ववर्णाः दुष्येयुः सर्वसेतवः च भिद्येरन्, सर्वलोकप्रकोपः च भवेत् ॥२४॥

दण्ड के अयथार्थ ज्ञान से सभी वर्ग (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र) भ्रष्ट हो जाएंगे । सारी सीमाएं टूट जाएगी तथा सारा जगत् क्षुब्ध हो जाएगा ॥२४॥

दण्ड के अनुचित प्रयोग से अर्थात् अपराधी को दण्ड न मिले तथा निर्दोष को दण्ड मिल जाए तो सारी व्यवस्था समाप्त हो जाएगी तथा प्रजा विद्रोही हो जाएगी अतः दण्ड शास्त्र का ज्ञान राजा के लिए अत्यन्त आवश्यक है ।

यत्र श्यामो लोहिताक्षो दण्डश्चरति पापहा ।
प्रजास्तत्र न मुह्यन्ति नेता चेत्साधु पश्यति ॥२५॥

यत्रेति ॥ यत्र देशे शास्त्रप्रमाणावगतः श्यामवर्णः लोहितनयनोऽधिष्ठातृदेवताको दण्डो विचरति तत्र प्रजा व्याकुला न भवन्ति । दण्डप्रणेता यदि विषयानुरूपं सम्यग्जानाति ॥२५॥

अ०—यत्र श्यामो लोहिताक्षः पापहा दण्डः चरति नेता चेत् साधु पश्यति तत्र प्रजा न मुह्यन्ति ॥२५॥

जहां पर काले, लाल आंखों वाले दण्ड का प्रचलन होता है तथा नेता (दण्ड का प्रयोग करने वाला) यथार्थ द्रष्टा होता है वहां प्रजा व्याकुल नहीं होती है ॥२५॥

१५वें श्लोक से उपरोक्त श्लोक तक दण्ड की सार्थकता बताई गई है ।

तस्याहुः संप्रणेतारं राजानं सत्यवादिनम् ।
समीक्ष्यकारिणं प्राज्ञं धर्मकामार्थकोविदम् ॥२६॥

तस्येत्यादि ॥ तस्य दण्डस्य प्रवर्तयितारमभिषेकादिगुणयुक्तं नृपतिमवितथवादिनं समीक्ष्यकारिणं तत्त्वातत्त्वविचारोचितं प्रज्ञाशालिनं धर्मार्थकामानां ज्ञातारं मन्वादयोऽप्याहुः ॥२६॥

अ०—(मन्वादयः धर्मज्ञाः) तस्य संप्रणेतारं राजानं सत्यवादिनं समीक्ष्यकारिणं प्राज्ञं धर्मकामार्थकोविदम आहुः ॥२६॥

(मन्वादि तत्त्वद्रष्टाओं ने) उस दण्ड के प्रयोग करने वाले राजा को सत्य-

वादी, उचित प्रकार से समझ कर कार्य करने वाला, विद्वान् तथा धर्म, काम तथा अर्थ का जानकार कहा है ॥२६॥

तं राजा प्रणयन्सम्यक् त्रिवर्गेणाभिवर्धते ।
कामात्मा विषमः क्षुद्रो दण्डेनैव निहन्यते ॥२७॥

तमिति ॥ तं दण्डं राजा सम्यक्प्रवर्तयन्धमार्थकामैर्वृद्धिं गच्छति । यः पुनर्विषयाभिलाषी विषमः कोपनः क्षुद्रश्छलान्वेषी नृपः स प्रकृतेनैव दण्डेनामात्यादिना कोपादधर्माद्वा विनाश्यते ॥२७॥

अ०—तं सम्यक् प्रणयन् राजा त्रिवर्गेण अभिवर्धते । कामात्मा विषमः क्षुद्रः दण्डेन एव निहन्यते ॥२७॥

उस दण्ड का ठीक प्रकार से प्रयोग करते हुए राजा त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ तथा काम) के द्वारा उन्नति को प्राप्त करता है, काम में आसक्त, भेद भाव रखने वाला, क्षुद्र (अनुदार राजा) दण्ड के द्वारा ही नष्ट हो जाता है ॥२७॥

विषमः—असमान व्यवहार वाला ।

कुल्लू०—क्रोधी ।

दण्डो हि सुमहत्तेजो दुर्धरश्चाकृतात्मभिः ।
धर्माद्विचलितं हन्ति नृपमेव सबान्धवम् ॥२८॥

दण्ड इति ॥ यतोः दण्डः प्रकृष्टतेजःस्वरूपः स्वशास्त्रैरसंस्कृतात्मभिर्दुःखेन ध्रियतेऽतो राजधर्मरहितं नृपमेव पुत्रबन्धुसहितं नाशयति ॥२८॥

अ०—सुमहत्तेजः अकृतात्मभिः दुर्धरः च दण्डः हि धर्माद् विचलितं नृपं सबान्धवं हन्ति ॥२८॥

प्रचण्ड पराक्रमी, (दण्ड) शास्त्र में गति न रखने वालों से कठिनता से धारण किए जाने वाला दण्ड, धर्म से विचलित राजा को कुल सहित समाप्त कर देता है ॥२८॥

ततो दुर्गं च राष्ट्रं च लोकं च सचराचरम् ।
अन्तरिक्षगतांश्चैव मुनीन्देवांश्च पीडयेत् ॥२९॥

तत इति ॥ दोषाद्यनपेक्षया यो दण्डः क्रियते स बन्धुनृपनाशानन्तरं धन्वादिदुर्गराष्ट्रं देशं पृथिवीलोकं जङ्गमस्थावरसहितं 'हविःप्रदानजीवना देवाः' इति श्रुत्या हविःप्रदानाभावेऽन्तरिक्षगतानृषीन्देवांश्च पीडयेदिति ॥२९॥

अ०—ततः दुर्गञ्च राष्ट्रञ्च सचराचरं लोकञ्च अन्तरिक्षगतान् मुनीन् च देवान् च पीडयेत् ॥२९॥

(दण्ड) तत्पश्चात् (राजा को कुल सहित नष्ट करने के बाद) दुर्ग, राष्ट्र,

चराचर जीवों, पृथ्वी लोक, स्वर्ग में गए हुए मुनियों तथा देवताओं को पीड़ा देता है ॥२६॥

अन्तरिक्ष में रहने वाले भी पृथ्वी पर दण्ड का प्रयोग अनुचित होने से पीड़ित होते हैं क्योंकि अव्यवस्था होने पर यज्ञ से प्राप्त होने वाला भोजनादि अनुष्ठान न होने से उन्हें प्राप्त नहीं होता। मेधातिथि ने उपरोक्त आशय प्रकट करते हुए इसके समर्थन में निम्न श्लोक पुराण से उद्धृत किया है—

वर्णाश्रमेभ्यः स्थित्वा तु लोकेऽस्मिन्यः प्रवर्तते।
स्वर्गादौ देवयोनीनां स्थितिहेतुः स दै स्मृतः ॥

सोऽसहायेन मूढेन लुब्धेनाकृतबुद्धिना।
न शक्यो न्यायतो नेतुं सक्तेन विषयेषु च ॥३०॥

स इत्यादि ॥ स दण्डो मन्त्रिसेनापतिपुरोहितादिसहायरहितेन मूर्खेण लोभवता शास्त्रासंस्कृतबुद्धिपरेण नृपतिना शास्त्रतो न प्रणेतुं शक्यते ॥३०॥

अ०—सः (दण्डः) असहायेन मूढेनः लुब्धेन, अकृतबुद्धिना, विषयेषु सक्तेन च (नृपतिना) न्यायतो नेतुं न शक्यः ॥३०॥

वह दण्ड सहायक (मन्त्री, सेनादि) रहित, मूर्ख, लोभी, शास्त्र में निपुणताहीन और विषय-भोगों में अनुराग रखने वाले (राजा के द्वारा) न्याय पूर्वक नहीं चलाया जा सकता ॥३०॥

शुचिना सत्यसंधेन यथाशास्त्रानुसारिणा।
प्रणेतुं शक्यते दण्डः सुसहायेन धीमता ॥३१॥

शुचिनेति ॥ अर्थादिशौचयुक्तेन सत्यप्रतिज्ञेन यथाशास्त्रव्यवहारिणा शोभनसहायेन तत्त्वज्ञेन कर्तुं शक्यत इति पूर्वोक्तदोषप्रतिपक्षे गुणा अनेन श्लोकेनोक्ताः ॥३१॥

अ०—शुचिना, सत्यसन्धेन यथाशास्त्रानुसारिणा, सुसहायेन धीमता दण्डः प्रणेतुं शक्यते ॥३५॥

पवित्र, कहे के अनुसार करने वाला, शास्त्र के अनुकूल आचरण करने वाला, अच्छे सहायकों सहित बुद्धिमान् (राजा) दण्ड को अच्छी प्रकार से प्रयोग करने में समर्थ होता है ॥३१॥

स्वराष्ट्रे न्यायवृत्तः स्याद्भृशदण्डश्च शत्रुषु।
सुहृत्स्वजिह्मः स्निग्धेषु ब्राह्मणेषु क्षमान्वितः ॥३२॥

स्वराष्ट्र इति ॥ आत्मदेशे यथाशास्त्रव्यवहारी स्यात्। शत्रुविषयेषु तीक्ष्णदण्डो भवेत्। निसर्गस्नेहविषयेषु मित्रेष्वकुटिलः स्यान्न कार्यमित्रेषु। ब्राह्मणेषु च

कृताल्पापराधेषु च क्षमावान्भवेत् ॥३२॥

अ०—(नृपतिः) स्वराष्ट्रे न्यायवृत्तः स्यात् शत्रुषु च भृशदण्डः, स्निग्धेषु सुहृत्सु अजिह्मः, ब्राह्मणेषु क्षमान्वितः ॥३२॥

अपने देश में (राजा) न्यायानुसार आचरण करे, शत्रुओं में तीव्र दण्ड का प्रयोग करे, स्वभाविक स्नेह रखने वाले मित्रों में कुटिल व्यवहार न करे तथा ब्राह्मणों में क्षमा युक्त व्यवहार करे ॥३२॥

एवंवृत्तस्य नृपतेः शिलोञ्छेनापि जीवतः।
विस्तीर्यते यशो लोके तैलबिन्दुरिवाम्भसि ॥३३॥

एवमित्यादि ॥ शिलोञ्छेनेति क्षीणकोशत्वं विवक्षितम्। क्षीणकोशस्यापि नृपतेरुक्ताचारवतो जले तैलबिन्दुरिव कीर्तिर्लोके विस्तारमेति ॥३३॥

अ०—एवं वृत्तस्य शिलोञ्छेन अपि जीवतः नृपतेः यशः अम्भसि तैलबिन्दुः इव लोके विस्तीर्यते ॥३३॥

इस प्रकार के आचरण वाला कणादी (कृषकों के घर ले जाते समय गिरे हुए अन्न कणों को इकट्ठा करके जीवन यापन करने वाला) भी राजा का यश जल में तेल के विन्दु के समान जगत् में फैलता है ॥३३॥

द्रण्ड का न्यायपूर्वक प्रयोग करने वाला राजा चाहे धनवान् न हो लेकिन उसकी कीर्ति सारे जगत् में सुनी जाती है।

अतस्तु विपरीतस्य नृपतेरजितात्मनः।
संक्षिप्यते यशो लोके घृतबिन्दुरिवाम्भसि ॥३४॥

अत इति ॥ उक्ताचाराद्विपरीताचारवतो नृपतेरजितेन्द्रियस्य जले घृतबिन्दुरिव कीर्तिः लोके संकोचयति ॥३४॥

अ०—अतः विपरीतस्य अजितात्मनः नृपतेः तु यशः लोके अम्भसि घृतबिन्दुः इव संक्षिप्यते ॥३४॥

इसके विपरीत कामचारी राजा का यश तो जगत् में जल में घी की बूंद के समान व्याप्त नहीं होता ॥३४॥

स्वे स्वे धर्मे निविष्टानां सर्वेषामनुपूर्वशः।
वर्णानामाश्रमाणां च राजा सृष्टोऽभिरक्षिता ॥३५॥

स्वे स्वे इत्यादि ॥ क्रमेण स्वधर्मानुष्ठातॄणां ब्राह्मणादिवर्णानां ब्रह्मचार्याद्याश्रमाणां च विश्वसृजा राजा रक्षिता सृष्टः। तस्मात्तेषां रक्षणमकुर्वतो राज्ञः प्रत्यवायः। स्वधर्मविरहिणां त्वरक्षणेऽपि न प्रत्यवाय इत्यस्य तात्पर्यार्थः ॥३५॥

अ०—(विश्वसृजा) अनुपूर्वशः स्वे स्वे धर्मे निविष्टानां वर्णानाम् आश्रमाणाञ्च अभिरक्षिता राजा सृष्टः ॥३५॥

(ब्रह्मा ने) क्रमशः अपने-अपने धर्म में लगे हुए वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र) तथा आश्रमों (ब्रह्मचर्यादि) की रक्षा के लिए राजा की सृष्टि की ॥३५॥

अपने अपने वर्ण तथा आश्रम के अनुसार धर्माचरण करने वाले लोगों की रक्षार्थ राजा का सृजन किया गया अर्थात् धार्मिक लोगों की रक्षा का उत्तरदायित्व राजा पर है अधार्मिकों का नहीं।

तेन यद्यत्सभृत्येन कर्तव्यं रक्षता प्रजाः।
तत्तद्वोऽहं प्रवक्ष्यामि यथावदनुपूर्वशः ॥३६॥

तेनेत्यादि ॥ वक्ष्यमाणावतारार्थोऽयं श्लोकः तेन राज्ञा प्रजारक्षणं कुर्वता सामात्येन यद्यत्कर्तव्यं तत्तत्समग्रं युष्माकमभिधास्यामि ॥३६॥

अ०—सभृत्येन प्रजाः रक्षता तेन यत् यत् कर्तव्यं तत् तत् अहं (भृगुः) यथावत् अनुपूर्वशः प्रवक्ष्यामि ॥३६॥

(आपको) राजकर्मचारियों से युक्त उस (राजा) के द्वारा प्रजा की रक्षा करते हुए जो जो किया जाना चाहिए उस उस को मैं (भृगु) वैसे का वैसा क्रमशः कहूंगा ॥३६॥

ब्राह्मणान्पर्युपासीत प्रातरुत्थाय पार्थिवः।
त्रैविद्यवृद्धान्विदुषस्तिष्ठेत्तेषां च शासने ॥३७॥

ब्राह्मणानिति ॥ प्रत्यहं प्रातरुत्थाय ब्राह्मणानृग्यजुःसामाख्यविद्यात्रयग्रन्थार्थाभिज्ञान्विदुष इति नीतिशास्त्राभिज्ञान्सेवेत तदाज्ञां कुर्यात् ॥३७॥

अ०—प्रातः उत्थाय पार्थिवः त्रैविद्यवृद्धान् विदुषः ब्राह्मणान् पर्युपासीत तेषां च शासने तिष्ठेत् ॥३७॥

प्रातः उठकर राजा तीनों वेदों में श्रेष्ठ विद्वान् ब्राह्मणों की परिचर्या करे अथवा उनके पास बैठे तथा उनकी आज्ञा का पालन करे ॥३७॥

वृद्धांश्च नित्यं सेवेत विप्रान्वेदविदः शुचीन्।
वृद्धसेवी हि सततं रक्षोभिरपि पूज्यते ॥३८॥

वृद्धानित्यादि ॥ तांश्च ब्राह्मणान्वयस्तपस्यादिवृद्धानर्थतो ग्रन्थतश्च वेदज्ञान्बहिरन्तश्चार्थदानादिना शुचीन्नित्यं सेवेत। यस्माद्वृद्धसेवी सततं हिंस्रैः राक्षसैरपि पूज्यते तैरपि तस्य हितं क्रियते। सुतरां मनुष्यैः ॥३८॥

अ०—वेदविदः शुचीन् वृद्धान् विप्रान् च नित्यं सेवेत, वृद्धसेवी हि रक्षोभिः अपि सततं पूज्यते ॥३८॥

वेदज्ञ पवित्र वृद्ध ब्राह्मणों की (राजा) नित्य सेवा करे क्योंकि वृद्धों की सेवा करने वाले राक्षसों के द्वारा भी पूजित होते हैं ॥३८॥

तेभ्योऽधिगच्छेद्विनयं विनीतात्मापि नित्यशः ।
विनीतात्मा हि नृपतिर्न विनश्यति कर्हिचित् ॥३९॥

तेभ्य इत्यादि ॥ सहजप्रज्ञया अर्थशास्त्रादिज्ञानेन च विनीतोऽप्यतिशयार्थं तेभ्यो विनयमभ्यसेत् । यस्माद्विनीतात्मा राजा न कदाचिन्नश्यति ॥३९॥

अ०—विनीतात्मा अपि नित्यशः तेभ्यः (वृद्धब्राह्मणेभ्यः) विनयम् अधिगच्छेत्, विनीतात्मा हि नृपतिः कर्हिचित् न विनश्यति ॥३९॥

(राज-व्यवहार में) सुधरा हुआ भी (राजा) नित्य प्रति (वृद्ध ब्राह्मणों) से सुधार को प्राप्त करे क्योंकि सधा हुआ राजा कभी भी नष्ट नहीं होता ॥३९॥

यद्यपि राजा अर्थशास्त्रादि का ज्ञाता होने के कारण राज-काज में परिशुद्ध बुद्धि वाला होता है किन्तु फिर भी व्यावहारिक ज्ञान उसकी अपेक्षा वृद्धों को अधिक होता है अतः व्यवहार की कुशलता को उनके सत्संग से और भी बढ़ाए।

बहवोऽविनयान्नष्टा राजानः सपरिच्छदाः ।
वनस्था अपि राज्यानि विनयात्प्रतिपेदिरे ॥४०॥

बहव इत्यादि ॥ करितुरगकोशादिपरिच्छदयुक्ता अपि राजानो विनयरहिता नष्टाः । बहवश्च वनस्था निष्परिच्छदा अपि विनयेन राज्यं प्राप्नुवन् ॥४०॥

अ०—अविनयात् बहवः राजानः सपरिच्छदाः नष्टाः, विनयात् वनस्थाः अपि राज्यानि प्रतिपेदिरे ॥४०॥

विनय केअभाव से बहुत से राजा साधन सहित नष्ट हो जाते हैं जबकि वन में स्थित (साधन हीन) विनय के कारण राज्यों को प्राप्त कर लेते हैं ॥४०॥

प्राप्त राज्य की रक्षा तथा अप्राप्त राज्य की प्राप्ति के लिए राजा को विनीत होना चाहिए।

उभयत्रैव श्लोकद्वयेन दृष्टान्तमाह—

वेनो विनष्टोऽविनयान्नहुषश्चैव पार्थिवः ।
सुदाः पैजवनश्चैव सुमुखो निमिरेव च ॥४१॥

वेन इत्यादि ॥ वेनो नहुषश्च राजा पिजवनस्य च पुत्रः सुदानामा सुमुखो निमिश्चाविनयादनश्यन् ॥४१॥

अ०—अविनयात् वेनः, पार्थिवः नहुषः च, एव सुदाः पैजवनः च, सुमुखो निमिः एव च विनष्टः ॥४१॥

विनयाभाव के कारण वेन, राजा नहुष, पिजवन के पुत्र सुदा, सुमुख और निमि राजा नष्ट हो गए ॥४१॥

पूर्व श्लोक के समर्थन में यह श्लोक उदाहरण के रूप में कहा गया है।

पृथुस्तु विनयाद्राज्यं प्राप्तवान्मनुरेव च ।
कुबेरश्च धनैश्वर्यं ब्राह्मण्यं चैव गाधिजः ।।४२।।

पृथुरिति ।। पृथुर्मनुश्च विनयाद्राज्यं प्रापतुः । कुबेरश्च विनयाद्धनाधिपत्यं लेभे । गाधिपुत्रो विश्वामित्रश्च क्षत्रियः संस्तेनैव देहेन ब्राह्मण्यं प्राप्तवान् । राज्यलाभावसरे ब्राह्मण्यप्राप्तिरप्रस्तुतापि विनयोत्कर्षार्थमुक्ता ईदृशोऽयं शास्त्रानुष्ठाननिषिद्धवर्जनरूपो विनयो यदनेन क्षत्रियोऽपि दुर्लभं ब्राह्मण्यं लेभे ।।४२।।

अ०—विनयाद् पृथुः तु राज्यं, मनुः एव च, कुबेरः च धनैश्वर्यं, गाधिजः च ब्राह्मण्यम् एव प्राप्तवान् ।।४२।।

विनय से पृथु ने राज्य, मनु ने भी (राज्य) कुबेर ने धन तथा ऐश्वर्य तथा विश्वामित्र ने तो ब्राह्मणत्व को प्राप्त किया था ।।४२।।

विनय केवल राज्यादि की प्राप्ति में ही सहायक नहीं है अपितु उसी जन्म में वर्णोत्कर्ष की भी प्राप्ति करा सकता है जो कि प्रायः असंभव सी बात मानी जाती है अतः विनय का महत्त्व बहुत अधिक है ।

त्रैविद्येभ्यस्त्रयीं विद्यां दण्डनीतिं च शाश्वतीम् ।
आन्वीक्षिकीं चात्मविद्यां वार्तारम्भांश्च लोकतः ।।४३।।

त्रैविद्येभ्य इति ।। त्रिवेदीरूपविद्याविद्भ्यस्त्रिवेदीमर्थतो ग्रन्थतश्चाभ्यसेत् । ब्रह्मचर्यदशायामेव वेदग्रहणात्समावृत्तस्य च राज्याधिकारात् । अभ्यासार्थोऽयमुपदेशः । दण्डनीतिं चार्थशास्त्ररूपामर्थयोगक्षेमोपदेशिनीं पारम्पर्यागतत्वेन नित्यां तद्विद्भ्योऽधिगच्छेत् । तथा आन्वीक्षिकीं तर्कविद्यां भूतप्रवृत्तिप्रयुक्त्युपयोगिनीं ब्रह्मविद्यां चाभ्युदयव्यसनयोर्हर्षविषादप्रशमनहेतुं शिक्षेत । कृषिवाणिज्यपशुपालनादिवार्ता तदारम्भान्धनोपायार्थांस्तदभिज्ञकर्षकादिभ्यः शिक्षेत ।।४३।।

अ०—त्रैविद्येभ्यः त्रयीं विद्यां, शाश्वतीं च दण्डनीतिं आन्वीक्षिकीं च आत्मविद्यां, लोकतः वार्तारम्भान् (अधिगच्छेत्) ।।४६।।

तीनों वेदों के ज्ञाता से वेद विद्या को, नित्य दण्डनीति को, तर्क शास्त्र को, मोक्षशास्त्र को तथा लोक (व्यवहार) से कृषि-व्यापारादि के स्वरूप को जाने ।।४३।।

वार्तारम्भान्—वार्ता के उपक्रम को ।

वार्ता का अर्थ है वैश्य वर्ण के विशिष्ट कृषि व्यापारादि कर्म । मनु ने स्पष्ट रूप से इसका संकेत किया है—

वेदाभ्यासो ब्राह्मणस्य क्षत्रियस्य च रक्षणम् ।
वार्ता कर्मैव वैश्यस्य विशिष्टानि स्वकर्मसु ।। मनु० X. ८०

कुल्लू० ने भी इसी अर्थ को स्वीकार किया है ।

इन्द्रियाणां जये योगं समातिष्ठेद्दिवानिशम् ।
जितेन्द्रियो हि शक्नोति वशे स्थापयितुं प्रजाः ॥४४॥

इन्द्रियाणामित्यादि ॥ चक्षुरादीनामिन्द्रियाणां विषयासक्तिवारणे सर्वकालं यत्नं कुर्यात् । यस्माज्जितेन्द्रियः प्रजा नियन्तुं शक्नोति नतु विषयोपभोगव्यग्रः । ब्रह्मचारिधर्मेषु सर्वपुरुषोपादेयतयाभिहितोऽपीन्द्रियजयो राजधर्मेषु मुख्यत्वज्ञानार्थमनन्तरवक्ष्यमाणव्यसननिवृत्तिहेतुत्वाच्च पुनरुक्तः ॥४४॥

अ०—इन्द्रियाणां जये दिवानिशं योगं समातिष्ठेत् जितेन्द्रियः हि प्रजाः वशे स्थापयितुं शक्नोति ॥४४॥

इन्द्रियों को जीतने में रात-दिन प्रयत्न करे क्योंकि जितेन्द्रिय (राजा) प्रजा को वश में करने में समर्थ होता है ॥४४॥

दश कामसमुत्थानि तथाऽष्टौ क्रोधजानि च ।
व्यसनानि दुरन्तानि प्रयत्नेन विवर्जयेत् ॥४५॥

दशेत्यादि ॥ दश कामसंभवानि अष्टौ क्रोधजानि वक्ष्यमाणव्यसनानि यत्नतस्त्यजेत् । दुरन्तानि दुःखावसानान्यादौ सुखयन्ति अन्ते दुःखानि कुर्वन्ति । यद्वा दुर्लभोऽन्तो येषां तानि दुरन्तानि । नहि व्यसनिनस्ततो निवर्तयितुं शक्यन्ते ॥४५॥

(राजा) काम से उत्पन्न दस तथा क्रोध से उत्पन्न आठ अन्त में कष्ट देने वाले व्यसनों को प्रयत्नपूर्वक छोड़ दे ॥४५॥

दुरन्तानि—

कुल्लू०—प्रारम्भ में सुख देने वाले तथा अन्त में कष्टप्रद अथवा दुर्लभ है अंत जिनका ऐसे व्यसन क्योंकि व्यसन में पड़े हुए व्यक्ति व्यसनों से आसानी से छुटकारा नहीं पा सकते ।

वर्जनप्रयोजनमाह—

कामजेषु प्रसक्तो हि व्यसनेषु महीपतिः ।
वियुज्यतेऽर्थधर्माभ्यां क्रोधजेष्वात्मनैव तु ॥४६॥

कामजेष्विति ॥ यस्मात्कामजनितेषु व्यसनेषु प्रसक्तो राजा धर्मार्थाभ्यां हीयते । क्रोधजेषु प्रसक्तः प्रकृतिकोपाद्देहनाशं प्राप्नोति ॥४६॥

अ०—कामजेषु हि व्यसनेषु प्रसक्तो महीपतिः अर्थधर्माभ्यां क्रोधजेषु तु आत्मना एव वियुज्यते ॥४६॥

काम से उत्पन्न व्यसनों में आसक्त राजा अर्थ तथा धर्म से तथा क्रोध से उत्पन्न व्यसनों में आसक्त राजा स्वयं से ही वियुक्त हो जाता है अर्थात् मृत्यु को प्राप्त करता है ॥४६॥

काम से उत्पन्न व्यसनों की अपेक्षा क्रोध से उत्पन्न व्यसनों का अधिक बुरा परिणाम है। वास्तव में क्रोध बिना मूठ की तलवार है जिसको पकड़ने वाला दूसरे को मार पाए कि नहीं किंतु स्वयं अपने हाथ को अवश्य काट लेता है।

तानि व्यसनानि नामतो दर्शयति—

मृगयाऽक्षो दिवास्वप्नः परिवादः स्त्रियो मदः।
तौर्यत्रिकं वृथाट्या च कामजो दशको गणः ॥४७॥

मृगयेत्यादि ॥ आखेटकाख्यो मृगवधो मृगया, अक्षो द्यूतक्रीडा, सकलकार्यविघातिनी दिवानिद्रा, परदोषकथनं, स्त्रीसंभोगः, मद्यपानजनितो मदः, तौर्यत्रिकं नृत्यगीतवादित्राणि, वृथाभ्रमणम्, एष दशपरिमाणो दशकः सुखेच्छाप्रभवो गणः ॥४७॥

अ०—मृगया, अक्षः, दिवास्वप्नः, परिवादः, स्त्रियः, मदः, तौर्यत्रिकं, वृथाट्या च दशकः कामजः गणः ॥४७॥

शिकार, जुआ, दिन में सोना, दूसरे के दोषों का कथन, स्त्री, नशा, तौर्यत्रिक (नृत्य-गीत-वाद्य) तथा निष्प्रयोजन भ्रमण ये दस (व्यसनों) का समूह काम से उत्पन्न है ॥४७॥

पैशुन्यं साहसं द्रोहं ईर्ष्यासूयार्थदूषणम्।
वाग्दण्डजं च पारुष्यं क्रोधजोऽपि गणोऽष्टकः ॥४८॥

पैशुन्यमिति ॥ पैशुन्यमविज्ञातदोषाविष्करणं, साहसं साधोर्बन्धनादिनिग्रहः, द्रोहश्छद्मवधः; ईर्ष्याऽन्यगुणासहिष्णुता, परगुणेषु दोषाविष्करणमसूया, अर्थदूषणमर्थानामपहरणं देयानामदानं च, वाक्पारुष्यमाक्रोशादि, दण्डपारुष्यं ताडनादि, एषोऽष्टपरिमाणो व्यसनगणः क्रोधाद्भवति ॥४८॥

अ०—पैशुन्यं, साहसं, द्रोहम्, ईर्ष्या, असूया, अर्थदूषणं वाग्दण्डजं च पारुष्यम् अपि अष्टकः क्रोधजः गणः ॥४८॥

इधर की बात उधर लगाना, बुरे कार्यों में उत्साह, षडयन्त्र रचना, दूसरों की प्रगति से डाह करना, गुणियों के गुणों को न सहन करना, धन के लेन-देन में कपट, कठोर वाणी तथा दण्ड की क्रूरता का व्यवहार (ये) आठ व्यसनों का समूह क्रोध से उत्पन्न है ॥४८॥

द्वयोरप्येतयोर्मूलं यं सर्वे कवयो विदुः।
तं यत्नेन जयेल्लोभं तज्जावेतावुभौ गणौ ॥४९॥

द्वयोरिति ॥ एतयोर्द्वयोरपि कामक्रोधजव्यसनसङ्घयोः कारणं स्मृतिकारा जानन्ति, तं यत्नतो लोभं त्यजेत्। यस्मादेतद्गणद्वयं लोभाज्जायते। क्वचिद्धन-

लोभतः, क्वचित्प्रकारान्तरलोभेन प्रवृत्तेः ॥४९॥

अ०—सर्वे कवयः यम् एतयोः द्वयोः (कामक्रोधजव्यसनसङ्घयोः) अपि मूलं विदुः तं लोभं यत्नेन जयेत्, एतौ उभौ गणौ तज्जौ ॥४९॥

सभी क्रांतदर्शियों ने जिस को इन दोनों (काम तथा क्रोध से उत्पन्न व्यसनों) का भी कारण जाना है, उस लोभ को यत्नपूर्वक वश में करे (क्योंकि) ये दोनों (व्यसन) समूह उसी से उत्पन्न होते हैं ॥४९॥

पानमक्षाः स्त्रियश्चैव मृगया च यथाक्रमम् ।
एतत्कष्टतमं विद्याच्चतुष्कं कामजे गणे ॥५०॥

पानमिति ॥ मद्यपान, अक्षैः क्रीडा, स्त्रीसंभोगः, मृगया चेति क्रमपठितमेतच्चतुष्कं कामजव्यसनमध्ये बहुदोषत्वादतिशयेन दुःखहेतुं जानीयात् ॥५०॥

अ०—कामजे गणे पानम्, अक्षाः, स्त्रियः च मृगया चैव एतत् चतुष्कं यथाक्रमं कष्टतमं विद्यात् ॥५०॥

काम के द्वारा उत्पन्न (व्यसन) समूह में मदिरा पान, जुआ, स्त्रियों से संभोग तथा शिकार इन चारों को क्रमशः अधिक दुःखदायी समझे ॥५०॥

काम से उत्पन्न दिवास्वप्नादि की अपेक्षा उपरोक्त चार व्यसन अधिक दुष्परिणाम वाले हैं तथा इन चारों में भी मदिरापान जुए से, जुआ स्त्रियों के व्यसन से, इसी प्रकार आगे भी पहला पहला दूसरे दूसरे से अधिक दुष्परिणाम वाला है।

दण्डस्य पातनं चैव वाक्पारुष्यार्थदूषणे ।
क्रोधजेऽपि गणे विद्यात्कष्टमेतत्त्रिकं सदा ॥५१॥

दण्डस्येत्यादि ॥ दण्डपातनं, वाक्पारुष्यं, अर्थदूषणं चेति क्रोधजेऽपि व्यसनगणे दोषबहुलत्वादतिशयितदुःखसाधनं मन्येत ॥५१॥

अ०—क्रोधजे अपि गणे दण्डस्य पातनं, वाक्पारुष्यार्थदूषणे चैव एतत् त्रिकं सदा कष्टं विद्यात् ॥५१॥

क्रोध से उत्पन्न (व्यसन) समूह में भी क्रूर दण्ड का प्रयोग, कठोर वचन तथा अर्थ सम्बन्धी कपट इन तीन को हमेशा (अधिक) दुष्परिणाम वाले समझे ॥५१॥

सप्तकस्यास्य वर्गस्य सर्वत्रैवानुषङ्गिणः ।
पूर्वं पूर्वं गुरुतरं विद्याद्व्यसनमात्मवान् ॥५२॥

सप्तकस्येति ॥ अस्य पानादेः कामक्रोधसंभवस्य सप्तपरिमाणस्य व्यसनवर्गस्य सर्वस्मिन्नेव राजमण्डले प्रायेणावस्थितस्य पूर्वपूर्वव्यसनमुत्तरोत्तरात्कष्टतरं प्रशस्तात्मा राजा जानीयात्। तथा हि—द्यूतात्मानं कष्टतरं, मद्यपानेन मत्तस्य संज्ञाप्रणाशाद्यथेष्टचेष्टया देहधनादिविरोध इत्यादयो दोषाः। द्यूते तु पाक्षिकी-

धनावाप्तिरप्यस्ति, स्त्रीव्यसनाद् द्यूतं दुष्टम्, द्यूते हि वैरोद्भवादयो नीतिशास्त्रोक्ता दोषाः। मूत्रपुरीषवेगधारणाच्च व्याध्युत्पत्तिः। स्त्रीव्यसने पुनरपत्योत्पत्त्यादिगुणयोगोऽप्यस्ति। मृगयास्त्रीव्यसनयोः स्त्रीव्यसनं दुष्टम्। तत्रादर्शनकार्याणां कालातिपातेन धर्मलोपादयो दोषाः, मृगयायां तु व्यायामेनारोग्यादिगुणयोगोऽप्यस्तीत्येवं कामजचतुष्कस्य पूर्वं पूर्वं गुरुदोषं, क्रोधजेष्वपि त्रिषु वाक्पारुष्याद्दण्डपारुष्यं दुष्टम्। अङ्गच्छेदादेरशक्यसमाधानत्वात्, वाक्पारुष्ये तु कोपानलो दानमानपानीयसेकैः शक्यः शमयितुम्। अर्थदूषणाद्वाक्पारुष्यं दोषवन्मर्मपीडाकरं, वाक्प्रहारस्य दुश्चिकित्स्यत्वात्। तदुक्तं—'न संरोहयति वाक्क्षतम्'। अर्थदूषणं तु प्रचुरतरार्थदानाच्छक्यसमाधानं, एवं कोधजत्रिकस्य पूर्वं पूर्वं दुष्टतरं यत्नतस्त्यजेत् ॥५२॥

अ०—आत्मवान् सर्वत्र एव अनुषङ्गिणः अस्य सप्तकस्य वर्गस्य पूर्वं पूर्वं व्यसनं गुरुतरं विद्यात् ॥५२॥

नियंत्रित राजा सभी स्थानों पर व्याप्त इस सात (पान, अक्ष, स्त्रियां, शिकार, कठोर दण्ड, कठोर वचन तथा अर्थ सम्बन्धी व्यसनों) के समूह के पहले पहले को अपेक्षाकृत अधिक (दुष्परिणाम वाला) समझे ॥५२॥

मद्यपान आगे कहे व्यसनों का जनक है तथा गोपनीय तथ्यों को प्रकाशित करने वाला है अतः कामज व्यसनों में सबसे अधिक दुष्परिणाम वाला है। द्यूत क्रीडा, मदिरा पान से कुछ कम कष्टकारक है क्योंकि इससे गोपनीय तथ्यों का प्रकाशन नही होता किंतु जीतने पर भी यह हारने वाले को शत्रु बना देता है इसलिए कष्टदायक है। स्त्री-व्यसन यद्यपि द्यूत से कम दुष्परिणाम वाला तथा पुत्रादि की प्राप्ति का भी साधन है किन्तु फिर भी सभी कर्तव्यों के प्रति विमुख करने के कारण उसकी अधिकता कष्टकारक है, संभव है इसीलिए बहुवचन का प्रयोग किया गया हो। शिकार करना एक प्रकार का व्यायाम है अतः व्यसन होते हुए भी उपरोक्त तीन कामज व्यसनों की अपेक्षा कम दुष्परिणाम वाला है।

इसी प्रकार क्रोधज तीन व्यसनों में भी पूर्व पूर्व पर की अपेक्षा अधिक कष्टदायक है।

व्यसनस्य च मृत्योश्च व्यसनं कष्टमुच्यते।
व्यसन्यधोऽधो व्रजति स्वर्यात्यव्यसनी मृतः ॥५३॥

व्यसनस्येति ॥ यद्यपि मृत्युव्यसने द्वे अपीह लोके संज्ञाप्रणाशादिदुःखहेतुतया शास्त्रानुष्ठानविरोधितया च तुल्ये, तथापि व्यसनं कष्टतरं परत्रापि नरकपातहेतुत्वात्। तदाह—व्यसन्यधोऽधो व्रजतीति। बहून्नरकान्गच्छतीत्यर्थः। अव्यसनी तु मृतः शास्त्रानुष्ठानप्रतिपक्षव्यसनाभावात्स्वर्गं गच्छति। एतेनातिप्रसक्तिर्व्यसनेषु निषिध्यते नतु तस्य सेवनमपि ॥५३॥

अ०—व्यसनस्य च मृत्योः च व्यसनं कष्टम् उच्यते, मृतः व्यसनी अधो अधो व्रजति अव्यसनी स्वः याति ॥५३॥

व्यसन तथा मृत्यु में व्यसन (अधिक) कष्टदायक कहा गया है। मृत व्यसनी नरकों में जाता है जबकि मृत अव्यसनी व्यक्ति स्वर्ग को प्राप्त करता है ॥५३॥

मेधातिथि के अनुसार व्यसनी से तात्पर्य व्यसनों का अत्यधिक अभ्यस्त व्यक्ति है तथा यहां उस अभ्यास (लत) का ही निषेध किया गया है। उचित मात्रा में इनके सेवन का निषेध नहीं है।

मौलाच्छास्त्रविदः शूरांल्लब्धलक्षान्कुलोद्भवान्।
सचिवान्सप्त चाष्टौ वा प्रकुर्वीत परीक्षितान् ॥५४॥

मौलानिति ॥ मौलान्पितृपितामहक्रमेण सेवकान्, तेषामपि द्रोहादिना व्यभिचारात् दृष्टादृष्टार्थशास्त्रज्ञान्विक्रान्तान्, लब्धलक्षांल्लक्षादप्रच्युतशरीरशल्यादीनायुधविद इत्यर्थः। विशुद्धकुलभवान्देवतास्पर्शादिनियतानमात्यान् सप्ताष्टौ वा मन्त्रादौ कुर्वीत ॥५४॥

अ०—मौलान्, शास्त्रविदः, शूरान्, लब्धलक्षान्, कुलोद्भवान्, परीक्षितान् च सप्त वा अष्टौ सचिवान् प्रकुर्वीत ॥५४॥

(राजा) वंश परम्परा से (अर्थात् जिनके पिता पितामह आदि भी राजसेवक रहे हैं) अथवा प्रतिष्ठित, शास्त्र को जानने वाले, पराक्रमी, लक्ष्य को प्राप्त करने वाले, कुलीन तथा जिनकी परीक्षा ली जा चुकी है ऐसे सात या आठ मंत्रियों को नियुक्त करे ॥५४॥

यस्मात्,—

अपि यत्सुकरं कर्म तदप्येकेन दुष्करम्।
विशेषतोऽसहायेन किं नु राज्यं महोदयम् ॥५५॥

अपीत्यादि ॥ सुखेनापि यत्क्रियते कर्म तदप्येकेन दुष्करं भवति। विशेषतो यन्महाफल तत्कथमसहायेन क्रियते ॥५५॥

अ०—अपि यत्सुकरं कर्म तद् अपि एकेन दुष्करं, विशेषतः असहायेन महोदयं राज्यं किमु ? ॥५५॥

जो सरल कार्य है वह भी अकेले व्यक्ति के लिए कठिन होता है विशेषकर महान फल देने वाले राज्य को बिना सहायक के चलाना कितना कठिन है ? ॥५५॥

अत एव सचिवों की नियुक्ति करनी चाहिए।

तैः सार्धं चिन्तयेन्नित्यं सामान्यं संधिविग्रहम्।
स्थानं समुदयं गुप्तिं लब्धप्रशमनानि च ॥५६॥

तैरित्यादि ॥ सचिवैः सह सामान्य मन्त्रेष्वगोपनीयं संधिविग्रहादि । तन्निरूपयेत् । तथा तिष्ठत्यनेनेति स्थानं दण्डकोशपुरराष्ट्रात्मकं चतुर्विधं चिन्तयेत् । दण्ड्यतेऽनेनेति दण्डो हस्त्यश्वरथपदातयस्तेषां पोषणं रक्षणादि तच्चिन्त्यम् । कोशोऽर्थनिचयस्तस्यायव्ययादि, पुरस्य रक्षणादि, राष्ट्रं देशस्तद्वासिमनुष्यपश्वादिधारणक्षमत्वादि चिन्तयेत् । तथा समुदयन्त्युत्पद्यन्तेऽस्मादर्था इति समुदयो धान्यहिरण्याद्युत्पत्तिस्थानं तन्निरूपयेत् । तथा गुप्ति रक्षामात्मगतां राष्ट्रगतां च स्वपरीक्षितमन्नाद्यमद्यात् । 'परीक्षिताः स्त्रियश्चैनं' (७।२१९) इत्यादिनात्मरक्षणं, 'राष्ट्रस्य संग्रहे नित्यम्' (७।११३) इत्यादिना राष्ट्ररक्षां च वक्ष्यति । लब्धस्य च धनस्य प्रशमनानि सत्पात्रे प्रतिपादनादीनि चिन्तयेत् । तथा च वक्ष्यति (७।२०१) 'जित्वा संपूजयेद्देवान्' इत्यादि ॥५६॥

अ०—तैः (सचिवैः) सार्धं सामान्यं सन्धिविग्रहं, स्थानं, समुदयं, गुप्ति, लब्धप्रशमनानि च नित्यं चिन्तयेत् ॥५६॥

(राजा) उन (सचिवों) के साथ सामान्य रूप से शान्ति-युद्ध, आक्रमण करने के लिए दृढ़ता, (कर) संग्रह, रक्षा और प्राप्त धन के सदुपयोग के लिए सदा विचार-विमर्श करे ॥५६॥

तेषां स्वं स्वमभिप्रायमुपलभ्य पृथक् पृथक् ।
समस्तानां च कार्येषु विदध्याद्धितमात्मनः ॥५७॥

तेषामिति ॥ तेषां सचिवानां रहसि निष्प्रतिपक्षतया हृदयगतभावज्ञानसंभवात्प्रत्येकमभिप्रायं समस्तानामपि युगपदभिप्रायं बुध्वा कार्ये यदात्मनो हितं तत्कुर्यात् ॥५७॥

अ०—तेषां स्व स्वम् अभिप्रायं पृथक्-पृथक् समस्तानां च उपलभ्य कार्येषु आत्मनः हितं विदध्यात् ॥५७॥

उनके (सचिवों के) अपने-अपने विचार अलग-अलग तथा सभी के विचार (एक साथ) प्राप्त करके कार्यों में अपना हित सम्पादन करे ॥५७॥

सर्वेषां तु विशिष्टेन ब्राह्मणेन विपश्चिता ।
मन्त्रयेत्परमं मन्त्रं राजा षाड्गुण्यसंयुतम् ॥५८॥

सर्वेषामिति ॥ एषामेव सर्वेषां सचिवानां मध्यादन्यतमेन धार्मिकत्वादिना विशिष्टेन विदुषा ब्राह्मणेन सह संधिविग्रहादिवक्ष्यमाणगुणषट्कोपेतं प्रकृष्टं मन्त्रं निमन्त्रयेत् ॥५८॥

अ०—सर्वेषां (सचिवानां) विशिष्टेन विपश्चिता ब्राह्मणेन राजा षाड्गुण्यसंयुतं परमं मन्त्रं मन्त्रयेत् ॥५८॥

सभी (मन्त्रियों) में विशिष्ट विद्वान् ब्राह्मण के साथ राजा षड्गुण से युक्त

अत्यन्त गुप्त मन्त्रणा करे ॥५८॥

सामान्य मन्त्रणा सभी सचिवों से करने का निर्देश ५६वें श्लोक में है।

नित्यं तस्मिन्समाश्वस्तः सर्वकार्याणि निक्षिपेत्।
तेन सार्धं विनिश्चित्य ततः कर्म समारभेत् ॥५९॥

नित्यमिति ॥ सर्वदा तस्मिन्ब्राह्मणे संजातविश्वासो भूत्वा यानि कुर्यात्तानि सर्वकार्याणि समर्पयेत्। तेन सह निश्चित्य सर्वं कर्मारभेत् ॥५९॥

अ०—नित्यं समाश्वस्तः तस्मिन् (विशिष्टे ब्राह्मणे) सर्वकार्याणि निक्षिपेत् ततः तेन सार्धं विनिश्चित्य कर्म समाभरेत् ॥५९॥

उस (पूर्वोक्त विशिष्ट ब्राह्मण मन्त्री) पर सर्वदा अच्छी प्रकार से विश्वास करके सभी कार्यों को छोड़ दे, इसके बाद उसके साथ निर्णीत कार्य को (राजा) उचित प्रकार मे आरम्भ करे ॥५९॥

अन्यानपि प्रकुर्वीत शुचीन्प्राज्ञानवस्थितान्।
सम्यगर्थसमाहर्तॄनमात्यान्सुपरीक्षितान् ॥६०॥

अन्यानित्यादि ॥ अन्यानप्यर्थदानादिना शुचीन्, प्रज्ञाशालिनः, सम्यग्धनार्जनशीलान्धर्मादिना परीक्षितान्कर्मसचिवान्कुर्यात् ॥६०॥

अ०—शुचीन् प्रज्ञान्, अवस्थितान् सम्यगर्थसमाहर्तॄन् सुपरीक्षितान् अन्यान् अमात्यान् अपि प्रकुर्वीत ॥६०॥

शुद्ध, बुद्धिमान, स्थिरचित्त, ठीक प्रकार से धन (कर) लाने वाले, परीक्षित दूसरे सचिवों को भी (राजा) नियुक्त करे ॥६०॥

निर्वर्तेतास्य यावद्भिरितिकर्तव्यता नृभिः।
तावतोऽतन्द्रितान्दक्षान्प्रकुर्वीत विचक्षणान् ॥६१॥

निर्वर्तेतेति ॥ अस्य राज्ञो यत्संख्याकैर्मनुष्यैः कर्मजातं संपद्यते तत्संख्याकान्मनुष्यानालस्यशून्यान्, क्रियासु सोत्साहान्, तत्कर्मज्ञांस्तत्र कुर्यात् ॥६१॥

अ०—अस्य (राज्ञः) इति कर्तव्यता यावद्भिः नृभिः निवर्तते तावतो अतन्द्रितान् दक्षान् विचक्षणान् कुर्वीत ॥६१॥

इस (राजा) का उत्तरदायित्व जितने मनुष्यों के द्वारा निपटाया जा सकता हो उतने आलस्यहीन, कुशल, विद्वान (मनुष्यों को) नियुक्त करे ॥६१॥

तेषामर्थे नियुञ्जीत शूरान्दक्षान्कुलोद्गतान।
शुचीनाकरकर्मान्ते भीरूनन्तर्निवेशने ॥६२॥

तेषामिति ॥ तेषां सचिवानां मध्ये विक्रान्तांश्चतुरान् कुलाङ्कुशनियमितान् शुचीनर्थनिःस्पृहान् धनोत्पत्तिस्थाने नियुञ्जीत। अस्यैवोदाहरणम् आकरकर्मान्त

इति। आकरेषु सुवर्णाद्युत्पत्तिस्थानेषु, कर्मान्तेषु च इक्षुधान्यादिसंग्रहस्थानेषु, अन्तर्निवेशने भोजनशयनगृहान्तःपुरादौ भीरूंन्नियुञ्जीत। शूरा हि तत्र राजानं प्रायेणैकाकिनं स्त्रीवृतं वा कदाचिच्छत्रूपजापदूषिता हन्युरपि ॥६२॥

अ०—तेषाम् शूरान् दक्षान् कुलोद्‌गतान् शुचीन् आकरकर्मान्ते अर्थे, भीरून् अन्तर्निविशने नियुञ्जीत ॥६२॥

(राजा) उन (उपरोक्त आवश्यक सेवकों) में से पराक्रमी, चतुर, कुलीन निश्छल मनुष्यों को धन तथा धान्य से सम्बन्धित कर्मों में तथा डरपोक मनुष्यों को अन्तःपुर (रसोई घर, रनिवास आदि) में नियुक्त करे ॥६२॥

दूतं चैव प्रकुर्वीत सर्वशास्त्रविशारदम्।
इङ्गिताकारचेष्टज्ञं शुचिं दक्षं कुलोद्‌गतम् ॥६३॥

दूतमिति ॥ दूतं च दृष्टादृष्टार्थशास्त्रज्ञं, इङ्गितज्ञमभिप्रायसूचकं वचनस्वरादि, आकारो देहधर्मादिमुखप्रसादवैवर्ण्यादिरूपः प्रीत्यप्रीतिसूचकः, चेष्टाकरास्फालनादिक्रिया कोपादिसूचिका तदीयतत्त्वज्ञं, अर्थदानस्त्रीव्यसनाद्यभावात्मकं शौचयुक्तं चतुरं कुलीन कुर्यात् ॥६३॥

अ०—सर्वशास्त्रविशारदम् इङ्गिताकारचेष्टज्ञं, शुचिं, दक्षं, कुलोद्‌गतं च दूतम् एव प्रकुर्वीत ॥६३॥

सभी शास्त्रों में निपुण आकृति तथा चेष्टाओं से (सामने वाले की) मन की बात जानने वाले, शुद्ध, चतुर और कुलीन व्यक्ति को दूत बनाएं ॥६३॥

यस्मात्,—

अनुरक्तः शुचिर्दक्षः स्मृतिमान्देशकालवित्।
वपुष्मान्वीतभीर्वाग्मी दूतो राज्ञः प्रशस्यते ॥६४॥

अनुरक्त इति॥ जनेषु अनुरागवान् तेन प्रतिराजादेरपि अद्वेषविषयः, अर्थस्त्रीशौचयुक्तस्तेन धनस्त्रीदानादिनाऽभेद्यः, दक्षश्चतुरस्तेन कार्यकालं नातिक्रामति। स्मृतिमान् तेन संदेशं न विस्मरति, देशकालज्ञः तेन देशकालौ ज्ञात्वा अन्यदपि संदिष्टं देशकालोचितमन्यथा कथयति, सुरूपः तेनादेयवचनः, विगतभयः तेनाप्रियसंदेशस्यापि वक्ता, वाग्मी तेन संस्कृताद्युक्तिक्षमः, एवंविधो दूतो राज्ञः प्रशस्यो भवति ॥६४॥

अ०—अनुरक्तः, शुचिः, दक्षः, स्मृतिमान्, देशकालवित्, वपुष्मान्, वीतभीः, वाग्मी राज्ञः दूतः प्रशस्यते ॥६४॥

स्वामिभक्त, शुद्ध आचार वाला, चतुर, अच्छी स्मरण शक्ति युक्त, परिस्थिति तथा समय को समझने वाला, सुन्दर शरीर वाला, निडर तथा वक्तृत्व शक्तिमान् (व्यक्ति) राजा का दूत प्रशस्त है अर्थात् उपरोक्त गुणों से युक्त व्यक्ति राजा के

दौत्य कार्य के लिए सर्वथा उपयुक्त है ॥६४॥

अमात्ये दण्ड आयत्तो दण्डे वैनयिकी क्रिया ।
नृपतौ कोशराष्ट्रे च दूते संधिविपर्ययौ ॥६५॥

अमात्य इति ॥ अमात्ये सेनापतौ हस्त्यश्वरथपादाताद्यात्मको दण्ड आयत्तः, तदिच्छया तस्य कार्येषु प्रवृत्तेः । विनययोगाद्वैनयिकी । यो विनयः स दण्ड आयत्तः । नृपतावर्थसंचयस्थानदेशावायत्तौ राज्ञा पराधीनौ न कर्तव्यौ । स्वयमेव चिन्तनीयं धनं ग्रामश्च । दूते संधिविग्रहावायत्तौ, तदिच्छया तत्प्रवृतेः ॥६५॥

अ०—अमात्ये दण्डः आयत्तः, दण्डे वैनयिकी क्रिया, नृपतौ कोशराष्ट्रे दूते च सन्धिविपर्ययौ ॥६५॥

मंत्री के अधीन दण्ड (सजा), दण्ड के अधीन अनुशासन, राजा के अधीन कोश तथा राष्ट्र एवं दूत के अधीन युद्ध तथा सन्धि है ॥६५॥

यहां मंत्री, राजा तथा दूत के कार्य का विभाजन बताया गया है। मंत्री के अधीन नियम विरुद्ध कार्य करने वाले लोगों को सजा देने का कार्य है। जिससे (सजा के भय से) लोग अनुशासित रहते हैं।

दण्डः—सजा।

कुल्लू०—हाथी, घोड़े तथा पैदल सेना।

दूत एव हि संधत्ते भिनत्त्येव च संहतान् ।
दूतस्तत्कुरुते कर्म भिद्यन्ते येन मानवाः ॥६६॥

दूत एवेति ॥ यस्माद्दूत एव हि भिन्नानां संधिसंपादने क्षमः । संहतानां च भेदने । तथा परदेशे दूतस्तत्कर्म करोति येन संहता भिद्यन्ते । तस्मात् 'दूते संधिविपर्ययौ' (७।६५) संधिविग्रहावायत्ताविति यदुक्तं तस्यैवायं प्रपञ्चः ॥६६॥

अ०—दूत एव हि संधत्ते, संहतान् च भिनत्ति एव, येन मानवाः भिद्यन्ते तत् कर्म दूतः कुरुते ॥६६॥

दूत ही मेल कराता है, मिले हुओं को अलग भी कराता है, जिससे (लोग) अलग होते हैं वह काम दूत करता है ॥६६॥

अतः महत्त्वपूर्ण कार्य का उत्तरदायित्व उस पर होने के कारण वह ६४वें श्लोक में बताए गुणों से युक्त होना चाहिए ॥६६॥

दूतस्य कार्यान्तरमाह—

स विद्यादस्य कृत्येषु निगूढेङ्गितचेष्टितैः ।
आकारमिङ्गितं चेष्टां भृत्येषु च चिकीर्षितम् ॥६७॥

स विद्यादिति ॥ स दूतोऽस्य प्रतिराजस्य कर्तव्ये आकारेङ्गितचेष्टां जानीयात् । निगूढा अनुचराः प्रतिपक्षनृपस्यैव परिजनास्तस्मिन्युक्तास्तत्सन्निधावपि

तेषामिङ्गितचेष्टितैः । भृत्येषु च क्षुब्धलुब्धापमानितेषु प्रतिराजस्य कर्तुमीप्सितं जानीयात् ॥६७॥

अ०—सः अस्य कृत्येषु निगूढेङ्गितचेष्टितैः भृत्येषु आकारम् इङ्गितं चेष्टां चिकीर्षितं च विद्यात् ॥६७॥

वह (दूत) राजा के कार्यों में (अपने) हाव भाव चेष्टाओं को छिपाने के द्वारा राजकर्मचारियों के आकार, हाव भाव, क्रियाकलापों तथा उनकी प्रतिक्रिया की इच्छाओं को जाने ॥६७॥

राजा गुप्तचरों के द्वारा अपने राजकर्मचारियों की भावनाओं को जाने ।

कुल्लू०—इनके अनुसार दूत विरोधी राजाओं की गतिविधियों को उनके यहां नियुक्त अपने गुप्तचर कर्मचारियों के गुप्त संकेतों के द्वारा जाने ।

बुद्ध्वा च सर्वं तत्त्वेन परराजचिकीर्षितम् ।
तथा प्रयत्नमातिष्टेद्यथात्मानं न पीडयेत् ॥६८॥

बुद्ध्वा चेति ॥ उक्तलक्षणदूतद्वारेण प्रतिपक्षराजस्य कर्तुमिष्टं सर्वं तत्त्वतो ज्ञात्वा तथा प्रयत्नं कुर्यात् यथात्मनः पीडा न भवति ॥६८॥

अ०—परराजचिकीर्षितं च सर्वं तत्त्वेन बुद्ध्वा तथा प्रयत्नम् आतिष्ठेत् यथा आत्मानं न पीडयेत् ॥६८॥

दूसरे राजा के अभिलषित कार्य को पूरी तरह यथार्थ रूप में जानकर इस प्रकार प्रयत्न से रहे कि जिससे उसको स्वयं को कोई कष्ट न हो ॥६८॥

दूसरे देश के राजा के क्रियाकलापों को जानकर दूत अपने हावभाव चेष्टाएं इस प्रकार न करे जिससे भेद खुल जाए और उसको दण्ड मिले ।

जाङ्गलं सस्यसंपन्नमार्यप्रायमनाविलम् ।
रम्यमानतसामन्तं स्वाजीव्यं देशमावसेत् ॥६९॥

जाङ्गलमिति ॥ 'अल्पोदकतृणो यस्तु प्रवातः प्रचुरातपः ।स ज्ञेयो जाङ्गलो देशो बहुधान्यादिसंयुतः' । प्रचुरधार्मिकजनं रोगोपसर्गादिभिरनाकुलं फलपुष्पतरुलतादिमनोहरं प्रणतसमीपवास्तव्याटविकादिजनं सुलभकृषिवाणिज्याद्याजीवनमाश्रित्यावासं कुर्यात् ॥६९॥

अ०—(राजा) जाङ्गलं सस्यसम्पन्नम् आर्यप्रायम् अनाविलम् रम्यम् आनतसामन्तं स्वाजीव्यं देशम् आवसेत् ॥६९॥

राजा जाङ्गल, उपजाऊ, जहां अधिकांश सभ्य हों, विकार रहित, सुंदर, विनीत सामन्तों से युक्त, जीविका सुलभ देश में रहे ॥६९॥

जाङ्गलम्—

कुल्लू०—जहां थोड़ा जल, घास, अच्छी हवा, खूब धूप तथा अच्छी फसल

आदि हो वह देश जाङ्गल है।

याज्ञ० के I. ३२१ की व्याख्या करते हुए विज्ञानेश्वर—यद्यपि अल्प जल, वृक्ष तथा पर्वत युक्त स्थान जाङ्गल कहलाता है तथापि यहां समजल, वृक्ष तथा पर्वतीय स्थान जाङ्गल है—

"यद्यप्यल्पोदकतरुपर्वतो देशो जाङ्गलस्तथाप्यत्र सजलतरुपर्वतो देशो 'जाङ्गल' शब्देनाभिधीयते।"

अनाविलम्—

कुल्लू०—जहां लोग रोग तथा उसके विकार से रहित हों ऐसा देश।

धन्वदुर्गं महीदुर्गमब्दुर्गं वार्क्षमेव वा।
नृदुर्गं गिरिदुर्गं वा समाश्रित्य वसेत्पुरम् ॥७०॥

धन्वदुर्गमिति ॥ धनुर्दुर्गं मरुवेष्टितं चतुर्दिशं पञ्चयोजनमनुदकं,महीदुर्गं पाषाणेन इष्टकेन वा विस्ताराद्द्वैगुण्योच्छ्रायेण द्वादशहस्तादुच्छ्रितेन युद्धार्थमुपरिभ्रमणयोग्येन सावरणगवाक्षादियुक्तेन प्राकारेण वेष्टितं, जलदुर्गमगाधोदकेन सर्वतः परिवृतं, वार्क्षदुर्गं बहिः सर्वतो योजनमात्रं व्याप्य तिष्ठन्महावृक्षकण्टकिगुल्मलताद्यावृतं, नृदुर्गं चतुर्दिगवस्थायि हस्त्यश्वरथयुक्तबहुपादातरक्षितं, गिरिदुर्गं पर्वतपृष्ठमतिदुरारोहं संकोचैकमार्गोपेतं अन्तर्नदीप्रस्रवणाद्युदकयुक्तं, बहुसस्योत्पन्नक्षेत्रवृक्षान्वितम्; एतेषु दुर्गेषु मध्यादन्यतमं दुर्गमाश्रित्य पुरं विरचयेत् ॥७०॥

अ०—धन्वदुर्गं महीदुर्गम् अब्दुर्गम् वार्क्षम् एव वा नृदुर्गं वा समाश्रित्य पुरं वसेत् ॥७०॥

(राजा) धनुर्दुर्ग, महीदुर्ग, जलदुर्ग, वृक्षदुर्ग, नृदुर्ग या गिरिदुर्ग को आश्रय बनाकर नगर में रहे ॥७०॥

कुल्लू०—धनुर्दुर्गम्—जिस दुर्ग के चारों ओर मरुभूमि हो तथा पांच योजन के क्षेत्रफल में जल का अभाव हो। (१ योजन=८ मील)।

महीदुर्गम्—पत्थर अथवा ईंटों का बारह हाथ ऊंचा, युद्ध के लिए जिसके ऊपर घूमा जा सकता हो तथा जिसमें आवरण वाले रोशनदान हों ऐसा दुर्ग।

जलदुर्गम्—गहरे जल से चारों ओर से घिरा हुआ।

वार्क्षदुर्गम्—बाहर सब तरफ एक योजन तक बड़े वृक्ष, कंटीली झाड़ी तथा लता आदि से घिरा दुर्ग।

नृदुर्गम्—चारों ओर हाथी, घोड़े तथा पैदल सेना से घिरा हुआ दुर्ग।

गिरिदुर्गम्—पर्वत के पिछले हिस्से पर अत्यन्त कठिनता से जहां पहुंचा जा सकता हो, अत्यन्त संकुचित मार्ग हो जिसका तथा अन्तर्नदी बहने से जल युक्त तथा जिसके चारों ओर अच्छी फसल होती हो ऐसा दुर्ग।

सर्वेण तु प्रयत्नेन गिरिदुर्गं समाश्रयेत् ।
एषां हि बाहुगुण्येन गिरिदुर्गं विशिष्यते ॥७१॥

अ०—सर्वेणेति ॥ यस्मादेषां दुर्गाणां मध्यात् दुर्गगुणबहुत्वेन गिरिदुर्गमतिरिच्यते तस्मात्सर्वप्रयत्नेन तदाश्रयेत् । गिरिदुर्गे शत्रुदुरारोहत्वं महत्प्रदेशादल्पप्रयत्नप्रेरितशिलादिना बहुविपक्षसैन्यव्यापादनमित्यादयो बहवो गुणाः ॥७१॥

अ०—सर्वेण प्रयत्नेन तु गिरिदुर्गं समाश्रयेत् हि एषां बाहुगुण्येन गिरिदुर्गं विशिष्यते ॥७१॥

सब प्रकार के प्रयत्नों से (राजा) गिरिदुर्ग का आश्रय ले क्योंकि यह गिरिदुर्ग बहुत विशेषताओं से विशिष्ट है ॥७१॥

ऊपर से नीचे की ओर शत्रु पर आक्रमण करना आसान होता है अतः गिरिदुर्ग ही दूसरे दुर्गों की अपेक्षा सुरक्षित है ।

त्रीण्याद्यान्याश्रितास्त्वेषां मृगगर्ताश्रयाऽप्सराः ।
त्रीण्युत्तराणि क्रमशः प्लवङ्गमनरामराः ॥७२॥

त्रीणीति ॥ एषां दुर्गाणां मध्यात्प्रथमोक्तानि त्रीणि दुर्गाणि मृगादय आश्रिताः । तत्र धनुर्दुर्गं मृगैराश्रितं, महीदुर्गं गर्ताश्रितैर्मूषिकादिभिः, अब्दुर्गं जलचरैर्नक्रादिभिः, इतराणि त्रीणि वृक्षदुर्गादीनि वानरादय आश्रितास्तत्र वृक्षदुर्गं वानरैराश्रितं, नृदुर्गं मानुषैः, गिरिदुर्गं देवैः ॥७२॥

अ०—मृगगर्ताश्रयप्सराः तु एषां त्रीणि आद्यानि आश्रिताः प्लवङ्गमनरामराः क्रमशः उत्तराणि त्रीणि ॥७२॥

पशु, बिल में रहने वाले जीव तथा जल में सरकने वाले (मगरमच्छादि) क्रमशः प्रथम तीन (धनुदुर्ग, महीदुर्ग तथा जलदुर्ग) का आश्रय लें तथा वानर, मनुष्य एवं देव क्रमशः बचे हुए तीन (वृक्षदुर्ग, नृदुर्ग एवं गिरिदुर्ग) का (आश्रय लें) ॥७२॥

यथा दुर्गाश्रितानेतान्नोपहिंसन्ति शत्रवः ।
तथाऽरयो न हिंसन्ति नृपं दुर्गसमाश्रितम् ॥७३॥

यथेत्यादि ॥ यथैतान्दुर्गवासिनो मृगादीन्व्याधादयः शत्रवो न हिंसन्ति एवं दुर्गाश्रितं राजानं न शत्रवः ॥७३॥

अ०—यथा दुर्गाश्रितान् एतान् शत्रवः न अपहिंसन्ति तथा दुर्गसमाश्रितं नृपम् अरयः न हिंसन्ति ॥७३॥

जिस प्रकार निर्दिष्ट दुर्गों के आश्रित इन (जीवों) को शत्रु नहीं मार सकते उसी प्रकार दुर्ग में आश्रित राजा को शत्रु नहीं मार सकते ॥७३॥

एकः शतं योधयति प्राकारस्थो धनुर्धरः ।
शतं दशसहस्राणि तस्माद्दुर्गं विधीयते ॥७४॥

एक इति ।। यस्मादेको धानुष्कः प्राकारस्थः शत्रूणां शतं योधयति । प्राकारस्थं धानुष्कशतं च शत्रूणां दशसहस्राणि । तस्माद्दुर्गं कर्तुमुपदिश्यते ।।७४।।

अ०—प्राकारस्थः एकः धनुर्धरः शतं योधयति, शतं दशसहस्राणि तस्मात् दुर्गं विधीयते ।।७४।।

दुर्ग में स्थित एक धनुर्धारी सौ से युद्ध करता है तथा सौ दस हजार से अतः दुर्ग का विधान है ।।७४।।

दुर्ग में इस प्रकार की व्यवस्था होती है कि शत्रु पर आक्रमण बिना सामने आए किया जा सकता है इसलिए दुर्ग में स्थित कम सेना भी अधिक शत्रुओं का मुकाबला कर सकती है, यही दुर्ग की सार्थकता है।

तत्स्यादायुधसंपन्नं धनधान्येन वाहनैः ।
ब्राह्मणैः शिल्पिभिर्यन्त्रैर्यवसेनोदकेन च ।।७५।।

तदित्यादि ।। तद्दुर्गं खड्गाद्यायुधसुवर्णादिधनधान्यकरितुरगादिवाहनब्राह्मणभक्ष्यादिशिल्पियन्त्रघासोदकसमृद्धं कुर्यात् ।।७५।।

अ०—तत् आयुधसम्पन्नं धनधान्येन वाहनैः ब्राह्मणैः शिल्पिभिः यन्त्रैः यवसेन उदकेन (समृद्धम्) स्यात् ।।७५।।

वह दुर्ग हथियार, धन तथा अनाज, सवारी (रथ, घोड़े, हाथी आदि), ब्राह्मण, शिल्पी, यन्त्र, पशुओं के चारे तथा जल ये समृद्ध होना चाहिए ।।७५।।

सभी आवश्यक वस्तुओं का दुर्ग में भंडार होना चाहिए जिससे कि यदि दुर्ग पर शत्रु आक्रमण करे तो किसी भी आवश्यक वस्तु के अभाव में आत्मसमर्पण न करना पड़े।

तस्य मध्ये सुपर्याप्तं कारयेद्गृहमात्मनः ।
गुप्तं सर्वर्तुकं शुभ्रं जलवृक्षसमन्वितम् ।।७६।।

तस्येत्यादि ।। तस्य दुर्गस्य मध्ये पर्याप्तं पृथक्पृथक् स्त्रीगृहदेवागारायुधागाराग्निशालादियुक्तं परिखाप्राकाराद्यैर्गुप्तं सर्वर्तुकफलपुष्पादियोगेन सर्वर्तुकं सुधाधवलितं वाप्यादिजलयुक्तं वृक्षान्वितमात्मनो गृहं कारयेत् ।।७६।।

अ०—तस्य मध्ये सुपर्याप्तम् गुप्तम् सर्वर्तुकम् शुभ्रम् जलवृक्षसमन्वितम् आत्मनः गृहम् कारयेत् ।।७६।।

उस दुर्ग के बीच में राजा (अपनी आवश्यकतानुसार) अन्तःपुर, मन्दिर, सभा आदि के लिए पर्याप्त, सुरक्षित, सभी ऋतुओं में सुखद, उज्जवल, सरोवर वृक्षादि से युक्त अपना घर बनाए ।।७६।।

तदध्यास्योद्वहेद्भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम् ।
कुले महति संभूतां हृद्यां रूपगुणान्विताम् ।।७७।।

तदित्यादि ।। तद्गृहमाश्रित्य समानवर्णां शुभसूचकलक्षणोपेतां महाकुलप्रसूतां मनोहारिणीं सुरूपां गुणवतीं भार्यामुद्वहेत् ।।७७।।

अ०—तद् अध्यास्य सवर्णाम् लक्षणान्विताम् महति कुले संभूतां हृद्यां रूपगुणान्वितां भार्याम् उद्वहेत् ।।७७।।

वहां (उपरोक्त निजि घर में) आश्रित होकर अपने ही वर्ण की, शुभलक्षणों से युक्त, महान कुल में उत्पन्न, मनोहारी, रूपवती एवं गुणवती से विवाह करे ।।७७।।

पुरोहितं च कुर्वीत वृणुयादेव चर्त्विजः ।
तेऽस्य गृह्याणि कर्माणि कुर्युर्वैतानिकानि च ।।७८।।

पुरोहितमिति ।। पुरोहितं चाप्याथर्वणविधिना कुर्वीत, ऋत्विजश्च कर्माणि कर्तुं वृणुयात् । ते चास्य राज्ञो गृह्योक्तानि श्रेतासंपाद्यानि कर्माणि कुर्युः ।।७८।।

अ०—पुरोहितं च कुर्वीत ऋत्विजः च वृणुयात् एव, ते अस्य गृह्याणि वैतानिकानी च कर्माणि कुर्युः ।।७८।।

राजा पुरोहित को (नियुक्त) करे तथा ऋत्विज का वरण करे, वे इसके गृह्य (शान्ति-स्वस्त्ययनादि) तथा वैतानिक (यज्ञ) कर्म करें ।।७८।।

पुरोहित—राजा के सभी कर्मकाण्डों का संचालन करता है तथा इसकी नियुक्ति स्थाई होती है ।

ऋत्विज—यज्ञ में राजा के लिए आह्वनीयादि अग्नित्रय को उत्पन्न करने का कार्य करने वाला ब्राह्मण । यह अस्थाई होता है तथा अलग-अलग यज्ञों में अलग-अलग व्यक्ति हो सकता है ।

यजेत राजा क्रतुभिर्विविधैराप्तदक्षिणैः ।
धर्मार्थं चैव विप्रेभ्यो दद्याद्भोगान्धनानि च ।।७९।।

यजेतेति ।। राजा नानाप्रकारान्बहुदक्षिणानश्वमेधादियज्ञान् कुर्यात् । ब्राह्मणेभ्यश्च स्त्रीगृहशय्यादीन्भोगान्सुवर्णवस्त्रादीनि धनानि दद्यात् ।।७९।।

अ०—राजा विविधैः आप्तदक्षिणैः क्रतुभिः यजेत विप्रेभ्यः च धर्मार्थम् एव भोगान् धनानि च दद्यात् ।।७९।।

राजा विभिन्न, प्रचुर दान वाले यज्ञों को करे तथा ब्राह्मणों को धर्म की सिद्धि के लिए भोग्य वस्तुएं एवं धन दे ।।७९।।

सांवत्सरिकमाप्तैश्च राष्ट्रादाहारयेद्बलिम् ।
स्याच्चाम्नायपरो लोके वर्तेत पितृवन्नृषु ।।८०।।

सांवत्सरिकमिति ।। राजासक्तैरमात्यैर्वर्षग्राह्यं धान्यादिभागमानाययेत्, लोके

च करादिग्रहणे शास्त्रनिष्ठः स्यात्, स्वदेशवासिषु नरेषु पितृवत्स्नेहादिना वर्तेत ॥८०॥

अ०—आप्तैः राष्ट्रात् सांवत्सरिकं बलिम् आहारयेत्, लोके आम्नायपरः स्यात् नृषु च पितृवत् वर्तेत ॥८०॥

राजा शुद्ध हृदय वाले सेवकों के द्वारा राष्ट्र से वार्षिक कर वसूल कराए, लोक में शास्त्रानुसार आचरण करे तथा प्रजा में पिता के समान व्यवहार करे ॥८०॥

कर वसूलने के लिए कैसे व्यक्ति नियुक्त करने चाहिएं ? इसका कथन VII.६२ में किया गया है ।

अध्यक्षान्विविधान्कुर्यात्तत्र तत्र विपश्चितः ।
तेऽस्य सर्वाण्यवेक्षेरन्नृणां कार्याणि कुर्वताम् ॥८१॥

अध्यक्षानिति ॥ तत्र तत्र हस्त्यश्वरथपदाताद्यर्थादिस्थानेष्वध्यक्षानवेक्षितृन्विविधान्पृथक्पृथक् विपश्चितः कर्मकुशलान्कुर्यात् । तेऽस्य राज्ञस्तेषु हस्त्यश्वादिस्थानेषु मनुष्याणां कुर्वतां सर्वाणि कार्याणि सम्यक्कार्यार्थमवेक्षेरन् ॥८१॥

अ०—तत्र तत्र विविधान् विपश्चितः अध्यक्षान् कुर्यात् । ते अस्य कार्याणि कुर्वतां नृणां सर्वाणि कार्याणि अवेक्षेरन् ॥८१॥

राजा अलग-अलग कार्यों में अनेक विद्वान् अध्यक्षों को नियुक्त करे । वे इसके कामों को करते हुए सेवकों के सभी कार्यों का निरीक्षण करें ॥८१॥

आवृत्तानां गुरुकुलाद्विप्राणां पूजको भवेत् ।
नृपाणामक्षयो ह्येष निधिर्ब्राह्मोऽभिधीयते ॥८२॥

आवृत्तानामिति ॥ गुरुकुलान्निवृत्तानामधीतवेदानां ब्राह्मणानां गार्हस्थ्यार्थिनां नियमतो धनधान्येन पूजां कुर्यात् । यस्माद्योऽयं ब्राह्मो ब्राह्मणेषु स्थापितधनधान्यादिनिधिरिव निधिः अक्षयो ब्रह्मफलत्वादविनाशी राज्ञां शास्त्रेणोपदिश्यते ॥८२॥

अ०—गुरुकुलाद् आवृत्तानां विप्राणां पूजकः भवेत्, एष हि ब्राह्मो नृपाणाम् अक्षयो निधिः अभिधीयते ॥८२॥

गुरुकुल से निवृत्त अर्थात् समावर्तन संस्कार जिनका हो चुका है ऐसे ब्राह्मणों का राजा पूजक हो, क्योंकि यह वेदज्ञ ब्राह्मण राजा कि कभी न समाप्त होने वाली निधि होते हैं ॥८२॥

अत एव,—

न तं स्तेना न चामित्रा हरन्ति न च नश्यति ।
तस्माद्राज्ञा निधातव्यो ब्राह्मणेष्वक्षयो निधिः ॥८३॥

न तमिति ॥ तं ब्राह्मणस्थापितनिधिं न चौरा नापि शत्रवो हरन्ति, अन्यनि-

धिवद्भूम्यादिस्थापितः कालवशान्न नश्यति। स्थानभ्रान्त्या वाऽदर्शनमुपैति। तस्माद्योऽयमक्षयोऽनन्तफलो निधिरिव निधिर्धनौघः स राज्ञा ब्राह्मणेषु निधातव्यः। तेभ्यो देय इत्यर्थः ॥८३॥

अ०—तं न स्तेनाः, अमित्राः न हरन्ति, न च नश्यति तस्मात् राज्ञा ब्राह्मणेषु अक्षयः निधिः निधातव्यः ॥८३॥

वह (ब्राह्मणों की पूजा से प्राप्त पुण्य रूपी) धन न तो चोरी होता है न ही शत्रु उसे ले जा सकते हैं तथा न ही वह नष्ट होता है इसलिए राजा के द्वारा ब्राह्मणों में कभी भी न समाप्त होने वाले कोष को स्थापित करना चाहिए ॥८३॥

न स्कन्दते न व्यथते न विनश्यति कर्हिचित्।
वरिष्ठमग्निहोत्रेभ्यो ब्राह्मणस्य मुखे हुतम् ॥८४॥

नेत्यादि ॥ अग्नौ यद्धविर्हूयते तत्कदाचित्स्कन्दते स्रवत्यधः पतति, कदाचिद्व्यथते शुष्यति, कदाचिद्दाहादिना नश्यति, ब्राह्मणस्य मुखे यद्धुतं 'पाण्यास्यो हि द्विजः स्मृतः' इति ब्राह्मणहस्तदत्तमित्यर्थः। तस्य नोक्ता दोषाः। तस्मादग्निहोत्रादिभ्यः श्रेष्ठं ब्राह्मणाय दानमित्यर्थः ॥८४॥

अ०—ब्राह्मणस्य मुखे हुतम् न स्कन्दति, न च्यवते, न कर्हिचित् विनश्यति (तस्मात्) अग्निहोत्रेभ्यः वरिष्ठम् ॥८४॥

ब्राह्मण के मुख में किया गया हवन अर्थात् उसको दिया गया दान न तो व्यर्थ जाता है, न क्षीण होता है तथा न ही कभी नष्ट होता है अतः (वह दान) यज्ञ की अपेक्षा श्रेष्ठ है ॥८४॥

सममब्राह्मणे दानं द्विगुणं ब्राह्मणब्रुवे।
प्राधीते शतसाहस्रमनन्तं वेदपारगे ॥८५॥

सममित्यादि ॥ ब्राह्मणेतरक्षत्रादिविषये यद्दानं तत्समफलं। यस्य देयद्रव्यस्य यत्फलं श्रुतं ततो नाधिकं न च न्यूनं भवति। यो ब्राह्मणः क्रियारहित आत्मानं ब्राह्मणं ब्रवीति स ब्राह्मणब्रुवः। तद्विषयदानं पूर्वापेक्षया द्विगुणफलम्। एवं प्राधीते प्रक्रान्ताध्ययने ब्राह्मणे लक्षगुणं फलम्। समस्तशाखाध्यायिन्यनन्तफलम्। 'सहस्रगुणमाचार्ये' इति वा तृतीयपादस्य पाठः ॥८५॥

अ०—अब्राह्मणे दानं समं ब्राह्मणब्रुवे द्विगुणम् प्राधीते शतसाहस्रम् वेदपारगे अनन्तम् ॥८५॥

ब्राह्मणेतर वर्ण में यथोचित, ब्राह्मण कहने वाले (क्रिया हीन) ब्राह्मण में दुगुना, अच्छी प्रकार अध्ययन किए हुए (ब्राह्मण) में लाख गुना तथा वेद में पारंगत ब्राह्मण में दान का अनन्त (फल) होता है ॥८५॥

पात्रस्य हि विशेषेण श्रद्दधानतयैव च ।
अल्पं वा बहु वा प्रेत्य दानस्य फलमश्नुते ॥८६॥

पात्रस्येति ॥ विद्यातपोवृत्तियुक्ततया पात्रस्य तारतम्यमपेक्ष्य शास्त्रे तथेति प्रत्ययरूपायाः श्रद्धायास्तारतम्यपात्रमासाद्य दानस्याल्पं महद्वा फलं परलोके लभ्यते ॥८६॥

अ०—पात्रस्य हि विशेषेण श्रद्दधानतया एव च दानस्य अल्पं वा बहु फलं प्रेत्य अश्नुते ॥८६॥

दान प्राप्त करने वाले की विशेषता तथा श्रद्धा के द्वारा ही दान का थोड़ा अथवा अधिक फल दूसरे लोक में (व्यक्ति) प्राप्त करता है ॥८६॥

दान से प्राप्त पुण्य की मात्रा श्रद्धा तथा जिसे दान दिया जाना है उसके गुणों की अपेक्षा रखती है ।

समोत्तमाधमैः राजा त्वाहूतः पालयन्प्रजाः ।
न निवर्तेत संग्रामात्क्षात्रं धर्ममनुस्मरन् ॥८७॥

समोत्तमाधमैरिति ॥ समबलेनाधिकबलेन हीनबलेन च राज्ञा युद्धार्थमाहूतो राजा प्रजारक्षणं कुर्वन्युद्धान्न निवर्तेत । क्षत्रियेण युद्धार्थमाहूतेनावश्यं योद्धव्यमिति क्षात्रं धर्मं स्मरन् ॥८७॥

अ०—प्रजाः पालयन् राजा समोत्तमाधमैः आहूतः तु क्षात्रं धर्मं अनुस्मरन् संग्रामात् न निवर्तेत ॥८७॥

प्रजा की रक्षा करता हुआ राजा समान, अधिक अथवा कम (बलशाली) के द्वारा ललकारने पर क्षत्रिय धर्म का स्मरण करते हुए संग्राम से विमुख न होवे ॥८७॥

यस्मात्—

संग्रामेष्वनिवर्तित्वं प्रजानां चैव पालनम् ।
शुश्रूषा ब्राह्मणानां च राज्ञां श्रेयस्करं परम् ॥८८॥

संग्रामेष्विति ॥ युद्धेष्वपराङ्मुखत्वं प्रजानां च रक्षणं ब्राह्मणपरिचर्या एतद्राज्ञामतिशयितं स्वर्गादिश्रेयःस्थानम् ॥८८॥

अ०—संग्रामेषु अनिवर्तित्वं प्रजानां च पालनम् एव ब्राह्मणानां च शुश्रूषा राज्ञां परं श्रेयस्करम् ॥८८॥

रण में पीठ न दिखाना, प्रजा की रक्षा करना और ब्राह्मणों की सेवा राजा का परम कल्याणकारी धर्म है ॥८८॥

अत एव,—

आहवेषु मिथोऽन्योन्यं जिघांसन्तो महीक्षितः ।
युध्यमानाः परं शक्त्या स्वर्गं यान्त्यपराङ्मुखाः ॥८९॥

आहवेष्विति ॥ राजानो मिथः स्पर्धमाना युद्धेष्वन्योन्यं हन्तुमिच्छन्तः प्रकृष्टया शक्त्या संमुखीभूय युध्यमानाः स्वर्गं गच्छन्ति । यद्यपि युद्धस्य शत्रुजयधनलाभादिरूपं दृष्टमेव फलं न स्वर्गस्तथापि युद्धाश्रितापराङ्मुखत्वनियमस्य स्वर्गः फलमिति न दोषः ॥८९॥

अ०—आहवेषु मिथः अन्योन्यं जिघांसन्तः महीक्षितः परं शक्त्या युध्यमानाः अपराङ्मुखाः स्वर्गं यान्ति ॥८९॥

आह्वान (ललकारने) पर परस्पर एक दूसरे को मारने की इच्छा वाले, युद्ध से विमुख न होते हुए तथा पूरी शक्ति से लड़ते हुए राजा स्वर्ग को प्राप्त करते हैं ॥८९॥

न कूटैरायुधैर्हन्याद्युध्यमानो रणे रिपून् ।
न कर्णिभिर्नापि दिग्धैर्नाग्निज्वलिततेजनैः ॥९०॥

नेत्यादि ॥ कूटान्यायुधानि वहिःकाष्ठादिमयान्यन्तर्गुप्तनिशितशस्त्राण्येतैः समरे युध्यमानः शत्रून्न हन्यात् नापि कर्ण्याकारफलकैर्बाणैः । नापि विषाक्तैः । नाप्यग्निदीप्तफलकैः ॥९०॥

अ०—युध्यमानः रणे रिपून् कूटैः आयुधैः न हन्यात्, न कर्णिभिः, न दिग्धैः अपि, न अग्निज्वलिततेजनैः ॥९०॥

योद्धा रण में न कपटपूर्ण शस्त्रों से, न मध्य में कान के आकार वाले शस्त्रों से, न विषाक्त तथा न ही आग्नेय शस्त्रों से शत्रुओं को मारे ॥९०॥

१. कूटैः—कपटपूर्ण शस्त्रों से ।

कुल्लू०—ऐसे शस्त्र जो देखने में तो लकड़ी आदि के दिखाई दें किंतु भीतर गुप्त रूप से तीक्ष्ण शस्त्र उनमें छिपे हुए हों ।

२. कर्णिभिः—ऐसे शस्त्र जिनका मध्य भाग कान के आकार वाला हो जिससे शरीर से निकाले जाते समय कठिनता हो ।

न च हन्यात्स्थलारूढं न क्लीबं न कृताञ्जलिम् ।
न मुक्तकेशं नासीनं न तवास्मीति वादिनम् ॥९१॥

न चेति ॥ स्वयं रथस्थो रथं त्यक्त्वा स्थलारूढं न हन्यात् । तथा नपुंसकं बद्धाञ्जलिं, मुक्तकेशं, उपविष्टं त्वदीयोऽहमित्येवंवादिनं न हन्यात् ॥९१॥

अ०—स्थलारूढं न, क्लीबं न, कृताञ्जलिं न, मुक्तकेशं न, आसीनं न तवास्मि इति वादिनम् च न हन्यात् ॥९१॥

स्वयं रथ पर बैठा हुआ योद्धा रथ को छोड़कर भूमि पर उतरे हुए शत्रु को नहीं मारे, न ही नपुंसक को, न हाथ जोड़े हुए को, न बाल खोले हुए को, न बैठे हुए को तथा जो शत्रु ऐसा कह दे कि "मैं आपका हूं" उसे भी नहीं (मारे) ॥९१॥

न सुप्तं न विसन्नाहं न नग्नं न निरायुधम् ।
नायुध्यमानं पश्यन्तं न परेण समागतम् ॥९२॥

न सुप्तमिति ॥ सुप्तं, मुक्तसन्नाहं विवस्त्रं अनायुधं, अयुध्यमानं, प्रेक्षकं अन्येन सह युध्यमानं च न हन्यात् ॥९२॥

अ०—सुप्तं न, विसन्नाहं न, नग्नं न, निरायुधं न, अयुध्यमानं पश्यन्तं न, परेण समागतं न ॥९२॥

(योद्धा) सोए हुए, कवच रहित, वस्त्र हीन, हथियार रहित, युद्ध न करते हुए, केवल युद्ध देखते हुए तथा दूसरे के साथ युद्ध करते हुए शत्रु को न मारे ॥९२॥

नायुधव्यसनप्राप्तं नार्तं नातिपरिक्षतम् ।
न भीतं न परावृत्तं सतां धर्ममनुस्मरन् ॥९३॥

नेत्यादि ॥ भग्नखड्गाद्यायुधं, पुत्रशोकादिनार्तं, बहुप्रहाराकुलं, भीतं, युद्धपराङ्मुखं, शिष्टक्षत्रियाणां धर्मं स्मरन्न हन्यात् ॥९३॥

अ०—सतां धर्ममनुस्मरन् (योद्धा) आयुधव्यसनप्राप्तं न, आर्तं न, अतिपरिक्षतं न, भीतं न, परावृत्तं न ॥९३॥

महापुरुषों के धर्म का स्मरण करता हुआ (योद्धा) टूटे हुए हथियार युक्त, दुःखी, प्रहारों से अत्यन्त घायल, डरे हुए तथा युद्ध से पराङ्मुख (शत्रु को न मारे) ॥९३॥

यस्तु भीतः परावृत्तः संग्रामे हन्यते परैः ।
भर्तुर्यद्दुष्कृतं किंचित्तत्सर्वं प्रतिपद्यते ॥९४॥

यस्त्विति ॥ यस्तु योधो भीतः पराङ्मुखः सन् युद्धे शत्रुभिर्हन्यते स पोषणकर्तुः प्रभोर्यद्दुष्कृतं तत्सर्वं प्राप्नोति । शास्त्रप्रमाणके च सुकृतदुष्कृते यथाशास्त्रं संक्रमयोग्ये एव सिध्यतः । अत एवोपजीव्यशास्त्रेण बाधनान्न प्रतिपक्षानुमानोदयोऽपि । एतच्च षष्ठे 'प्रियेषु स्वेषु सुकृतम्' (६।७९) इत्यत्राविष्कृतमस्माभिः । 'पराङ्मुखहतस्य स्यात्पापमेतद्विवक्षितम् । न त्वत्र प्रभुपापं स्यादिति गोविन्दराजकः ॥ मेधातिथिस्त्वर्थवादमात्रमेतन्निरूपयन् । मन्ये नैतद्द्वयं युक्तं व्यक्तमन्वर्थवर्जनात् । 'अन्यदीयपुण्यपापेऽन्यत्र संक्रमेते' इति शास्त्रप्रामाण्याद्वेदान्तसूत्रकृता बादरायणेन निर्णीतोऽयमर्थ इति यथोक्तमेव रमणीयम् ॥९४॥

अ०—भीतः परावृत्तः यः तु संग्रामे परैः हन्यते, यद् किञ्चित् भर्तुः दुष्कृतं तत् सर्वं प्रतिपद्यते ॥९४॥

जो डरा हुआ पीठ दिखाने वाला युद्ध में शत्रुओं द्वारा मारा जाता है, वह अपने स्वामी के सभी दुष्कर्मों को प्राप्त करता है ॥९४॥

यच्चास्य सुकृतं किंचिदमुत्रार्थमुपार्जितम् ।
भर्ता तत्सर्वमादत्ते परावृत्तहतस्य तु ॥९५॥

यच्चेत्यादि ॥ पराङ्मुखहतस्य यत्किंचित्सुकृतं परलोकार्थमर्जितमनेनास्ति तत्सर्वं प्रभुर्लभते ॥९५॥

अ०—परावृत्तहतस्य अस्य तु यत् किञ्चिद् अमुत्रार्थम् उपार्जितम् सुकृतम् तत् सर्वं भर्ता आदत्ते ॥९५॥

युद्ध से मुख मोड़ने वाले के मारे जाने पर उसका परलोक के लिए अर्जित जो कुछ पुण्य होता है वह सारा उसके स्वामी को प्राप्त होता है ॥९५॥

राज्ञः स्वामिनः सर्वधनग्रहणे प्राप्ते तदपवादार्थमाह—

रथाश्वं हस्तिनं छत्रं धनं धान्यं पशून्स्त्रियः ।
सर्वद्रव्याणि कुप्यं च यो यज्जयति तस्य तत् ॥९६॥

रथाश्वमित्यादि ॥ रथाश्वहस्तिछत्रवस्त्रादि, धनधान्यगवादि, दास्यादि स्त्रियः, सर्वाणि द्रव्याणि गुडलवणादीनि, कुप्यं च सुवर्णरजतव्यतिरिक्तं ताम्रादि धनं, यः पृथग्जित्वा सततं गृहमानयति तस्यैव तद्भवति। सुवर्णरजतभूमिरत्नाद्यनपकृष्टधनं तु राज्ञ एव समर्पणीयम्, एतदर्थमेवात्र परिगणनीयम् ॥९६॥

अ०—रथाश्वम् हस्तिनम् छत्रं धनं धान्यम् पशून् स्त्रियः सर्वद्रव्याणि कुप्यम् च यतः यः जयति तत् तस्य ॥९६॥

(युद्ध में) रथ, घोड़े, हाथी, छत्र, धन, अन्न, पशु, स्त्रियां, गुड़ लवणादि द्रव्य तथा तांबा आदि द्रव्य जो जीतता है उपरोक्त सब उसी का होता है ॥९६॥

अत एवाह—

राज्ञश्च दद्यु रुद्धारमित्येषा वैदिकी श्रुतिः ।
राज्ञा च सर्वयोधेभ्यो दातव्यमपृथग्जितम् ॥९७॥

राज्ञ इत्यादि ॥ उद्धारं योद्धारो राज्ञे दद्युः। उद्ध्रियत इत्युद्धारः। जितधनादुत्कृष्टधनं सुवर्णरजतकुप्यादि राज्ञे समर्पणीयं। करितुरगादिवाहनमपि राज्ञे देयम्। 'वाहनं च राज्ञ उद्धारं च' इति गौतमवचनात्। उद्धारदाने च श्रुतिः— 'इन्द्रो वै वृत्रं हत्वा' इत्युपक्रम्य 'स महान्भूत्वा देवता अब्रवीदुद्धारं समुद्धरत' इति राज्ञा चापृथग्जितं सह जितं सर्वयोधेभ्यो यथापौरुषं संविभजनीयम् ॥९७॥

अ०—राज्ञः उद्धारम् दद्युः इति एषा वैदिकी श्रुतिः च अपृथक्-जितम् सर्व-

योधेभ्यः दातव्यम् ।।९७।।

'राजा को (युद्ध में) जीता हुआ धन दिया जाना चाहिए' यह वेद सम्बन्धी श्रुति है तथा मिलकर जीते हुए धन (राजा के द्वारा) सब योद्धाओं को दे दिए जाने चाहिएं ।।९७।।

एषोऽनुपस्कृतः प्रोक्तो योधधर्मः सनातनः ।
अस्माद्धर्मान्न च्यवेत क्षत्रियो घ्नन्रणे रिपून् ।।९८।।

एष इत्यादि ।। अविगर्हित एषोऽनादिसर्गप्रवाहसंभवतया नित्यो योधधर्म उक्तः । युद्धे शत्रून्हिंसन् क्षत्रिय एतं धर्मं न त्यजेत् । युद्धाधिकारित्वात् 'क्षत्रिय' ग्रहणम् । अन्योऽपि तत्स्थानपतितो न त्यजेत् ।।९८।।

अ०—एषः सनातनः अनुपस्कृतः योधधर्मः प्रोक्तः, रणे रिपून् घनन् क्षत्रियः अस्मात् धर्मात् न च्यवेत ।।९८।।

यह नित्य प्रशंसनीय योद्धा का धर्म कहा गया है, रण में क्षत्रिय शत्रुओं को मारता हुआ इस धर्म से विचलित न हो ।।९८।।

अलब्धं चैव लिप्सेत लब्धं रक्षेत्प्रयत्नतः ।
रक्षितं वर्धयेच्चैव वृद्धं पात्रेषु निक्षिपेत् ।।९९।।

अलब्धमिति ।। अजितं भूमिहिरण्यादि जेतुमिच्छेत् । जितं प्रयत्नतो रक्षेत् । रक्षितं च वाणिज्यादिना वर्धयेत् । वृद्धं च पात्रेभ्यो दद्यात् ।।९९।।

अ०—(राजा) अलब्धम् एव लिप्सेत्, लब्धं च प्रयत्नतः रक्षेत्, रक्षितं च वर्धयेत् एव, वृद्धं पात्रेषु निक्षिपेत् ।।९९।।

(राजा) अप्राप्त को प्राप्त करे, प्राप्त की प्रयत्नपूर्वक रक्षा करे, रक्षित को बढ़ाए ही तथा बढ़े हुए (धन) को योग्य व्यक्तियों को देवे ।।९९।।

एतच्चतुर्विधं विद्यात्पुरुषार्थप्रयोजनम् ।
अस्य नित्यमनुष्ठानं सम्यक्कुर्यादतन्द्रितः ।।१००।।

एतदिति ।। एतच्चतुःप्रकारं पुरुषार्थो यः स्वर्गादिस्तत्प्रयोजनं यस्मादेवंरूपं जानीयात्; अतोऽनलसः सन् सर्वदानुष्ठानं कुर्यात् ।।१००।।

अ०—एतत् चतुर्विधम् पुरुषार्थप्रयोजनम् विद्यात् अतन्द्रितः नित्यम् अस्य सम्यक् अनुष्ठानम् कुर्यात् ।।१००।।

राजा इन चार (अर्जन, रक्षण वर्धन तथा दान) को पुरुष के परम उद्देश्यों (धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष) का साधन समझे तथा आलस्य रहित होकर इसका ठीक प्रकार से क्रियान्वयन करे ।।१००।।

अलब्धमिच्छेद्दण्डेन लब्धं रक्षेदवेक्षया ।
रक्षितं वर्धयेद्बुद्ध्या वृद्धं पात्रेषु निक्षिपेत् ॥१०१॥

अलब्धमिति ॥ अलब्धं यद्धस्त्यश्वरथपादातमकेन दण्डेन जेतुमिच्छेत् । जितं च प्रत्यवेक्षणेन रक्षेत् । रक्षितं च वृद्ध्युपायेन स्थलजलपथवाणिज्यादिना वर्धयेत् । वृद्धं शास्त्रीयविभागेन पात्रेभ्यो दद्यात् ॥१०१॥

अ०—अलब्धम् दण्डेन इच्छेत् लब्धम् अवेक्षया रक्षेत रक्षितम् बुद्ध्या वर्धयेद् वृद्धम् पात्रेषु निक्षिपेत् ॥१०१॥

अप्राप्त (धन) की दण्ड द्वारा इच्छा करे, प्राप्त की निरीक्षण के द्वारा रक्षा करे, रक्षित को बुद्धिपूर्वक बढ़ाए तथा बढ़े हुए धन को योग्य व्यक्तियों में बांट दे ॥१०१॥

नित्यमुद्यतदण्डः स्यान्नित्यं विवृतपौरुषः ।
नित्यं संवृतसंवार्यो नित्यं छिद्रानुसार्यरेः ॥१०२॥

नित्यमिति ॥ नित्यं हस्त्यश्वादियुद्धादिशिक्षाभ्यासो दण्डो यस्य स तथा स्यात् । नित्यं च प्रकाशीकृतमस्त्रविद्यादिना पौरुषं यस्य स तथा स्यात् । नित्यं संवृतं संवरणीयं मन्त्राचारचेष्टादिकं यस्य स तथा स्यात् । नित्यं च शत्रोर्व्यसनादिरूपच्छिद्रानुसंधानं तत्परः स्यात् ॥१०२॥

अ०—नित्यम् उद्यतदण्डः स्यात्, नित्यं विवृतपौरुषः, नित्यं संवृतसंवार्यः, नित्यम् अरेःछिद्रानुसारी ॥१०२॥

(राजा) सदा दण्ड को तैयार रखे, सदा पराक्रम को प्रदर्शित करे, सदा गुप्त वृत्तान्तों को गुप्त रखे तथा सर्वदा शत्रुओं के दोषों की जानकारी रखे ॥१०२॥

नित्यमुद्यतदण्डस्य कृत्स्नमुद्विजते जगत् ।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि दण्डेनैव प्रसाधयेत् ॥ १०३॥

नित्यमिति ॥ यस्मान्नित्योद्यतदण्डस्य जगदुद्विजेदिति तस्मात्सर्वप्राणिनो दण्डेनैवात्मसात्कुर्यात् ॥१०३॥

अ०—नित्यम् उद्यतदण्डस्य कृत्स्नम् जगत् उद्विजते तस्मात् दण्डेन एव सर्वाणि भूतानि प्रसाधयेत् ॥१०३॥

सदा तत्पर दण्ड वाले राजा से सारा जगत् भयभीत रहता है अतः दण्ड के द्वारा सभी प्राणियों को अपने अनुकूल रखे ॥१०३॥

अमाययैव वर्तेत न कथंचन मायया ।
बुध्येतारिप्रयुक्तां च मायां नित्यं स्वसंवृतः ॥१०४॥

अमाययेति ॥ मायया छद्मतया अमात्यादिषु न वर्तेत । तथा सति सर्वेषा-

मविश्वसनीयः स्यात्। धर्मरक्षार्थं यथातत्त्वेनैव व्यवहरेत्। यत्रकृतात्मपक्षरक्षश्च शत्रुकृतां प्रकृतिभेदरूपां मायां चारद्वारेण जानीयात् ॥१०४॥

अ०—अमायया एव वर्तेत कथंचन मायया न, स्वसंवृतः च अरिप्रयुक्तां मायां नित्य बुध्येत ॥१०४॥

सदा निष्कपट व्यवहार रखे कभी भी कपट न करे तथा अपने को प्रकाश में न लाता हुआ शत्रु के कपट प्रयोग को हमेशा समझता रहे ॥१०४॥

नास्य छिद्रं परो विद्याद्विद्याच्छिद्रं परस्य तु।
गूहेत्कूर्म इवाङ्गानि रक्षेद्विवरमात्मनः ॥१०५॥

नेत्यादि ॥ तथा यत्नं कुर्याद्यथास्य प्रकृतिभेदादि छिद्रं शत्रुर्न जानाति। शत्रोस्तु प्रकृतिभेदादिकं चारैर्जानीयात्। कूर्मो यथा मुखचरणादीन्यङ्गान्यात्मदेहे गोपायत्येवं राजाऽङ्गान्यमात्यादीनि दानसंमानादिनात्मसात्कुर्यात्। दैवाच्च प्रकृतिभेदादिरूपे छिद्रे जाते यत्नतः प्रतीकारं कुर्यात् ॥१०५॥

अ०—परः अस्य छिद्रं न विद्यात् परस्य च छिद्रम् विद्यात्, कूर्मः इव अङ्गानि गूहेत् आत्मनः विवरं रक्षेत् ॥१०५॥

शत्रु इस (राजा) की कमजोरियों को न जानें तथा यह शत्रु की कमजोरियों का ज्ञान रखे, अपने (अमात्यादि) दोषों को राजा इस प्रकार गुप्त रखे जैसे कछुआ अपने अङ्गों को गुप्त रखता है ॥१०५॥

बकवच्चिन्तयेदर्थान्सिंहवच्च पराक्रमेत्।
वृकवच्चावलुम्पेत शशवच्च विनिष्पतेत् ॥१०६॥

बकवदिति ॥ यथा बको जले मीनमतिचञ्चलस्वभावमपि मत्स्यग्रहणार्थमेकतानान्तःकरणश्चिन्तयत्येवं रहसि सुविहितरक्षस्यापि विपक्षस्य देशग्रहणादीनर्थांश्चिन्तयेत्। यथा च सिंहः प्रबलमतिस्थूलमपि दन्तावलं हन्तुमाक्रमत्येवमल्पबलो बलवतोपक्रान्तः संश्रयाद्युपायान्तरासंभवे सर्वशक्त्या शत्रुं हन्तुमाक्रमेत्। यथा च वृकः पालकृतरक्षणमपि पशुं दैवात्पालानवधानमासाद्य व्यापादयत्येवं दुर्गाद्यवस्थितमपि रिपुं कथंचित्प्रमादमासाद्य व्यापादयेत्। यथा शशः बधोद्धुरविविधव्याधमध्यगतोऽपि कुटिलगतिरुत्प्लुत्य पलायते, एवं स्वयमबलो बलवदरिपरिवृतोऽपि कथंचिदरिव्यामोहमाधाय गुणवत्पार्थिवान्तरं संश्रयितुमुपसर्पेत् ॥१०६॥

अ०—बकवत् अर्थान् चिन्तयेत्, सिंहवत् च पराक्रमेत्, वृकवत् च अवलुम्पेत शशवत् च विनिष्पतेत् ॥१०६॥

राजा बगुले के समान प्रयोजन का ध्यान रखे, सिंह के समान आक्रमण करे, भेड़िये के समान नष्ट करे तथा खरगोश के समान निकल भागे ॥१०६॥

अपनी इष्टसिद्धि के विषय में राजा का चिन्तन बगुले के समान एकाग्र होना

चाहिए। शत्रु पर आक्रमण ऐसा होना चाहिए कि शत्रु बड़ा हो या छोटा बच न सके जैसा कि सिंह करता है। शत्रु चाहे कितने ही सुरक्षित हों उन्हें इसी प्रकार समाप्त करे जैसे भेड़िया चरवाहे के द्वारा सुरक्षित पशुओं को ले उड़ता है तथा फँस जाने पर खरगोश के समान शत्रुओं से बच निकले।

एवं विजयमानस्य येऽस्य स्युः परिपन्थिनः।
तानानयेद्वशं सर्वान्सामादिभिरुपक्रमैः ॥१०७॥

एवमित्यादि ॥ एवमुक्तप्रकारेण विजयप्रवृत्तस्य नृपतेर्ये विजयविरोधिनो भवेयुस्तान्सर्वान्सामदानभेददण्डैरुपायैर्वशमानयेत् ॥१०७॥

अ०—एवं विजयमानस्य अस्य ये परिपन्थिनः स्युः तान् सर्वान् सामादिभिः उपक्रमैः वशम् आनयेत् ॥१०७॥

इस प्रकार विजय करते हुए इस (राजा) के जो शत्रु पक्ष हों उन सबको सामादि उपायों के द्वारा वश में करे ॥१०७॥

सामादिभिः—साम, दाम, भेद तथा दण्ड।

यदि ते तु न तिष्ठेयुरुपायैः प्रथमैस्त्रिभिः।
दण्डेनैव प्रसह्यैतांश्छनकैर्वशमानयेत् ॥१०८॥

यदीत्यादि ॥ ते च विजयविरोधिनो यद्याद्यैस्त्रिभिरुपायैर्न निवर्तन्ते तदाबलाद्देशोपमर्दादिना युद्धेन शनकैर्लघुगुरुदण्डक्रमेण दण्डेन वशीकुर्यात् ॥१०८॥

अ०—यदि ते प्रथमैः त्रिभिः उपायैः न तिष्ठेयुः तान् प्रसह्य दण्डेन एव शनकैः वशम् आनयेत् ॥१०८॥

यदि वे (विरोधी) प्रथम तीन उपायों (साम, दाम तथा भेद) से वश में न आएं तो उनको कठिनता से सहने योग्य क्रम से बढ़ते हुए दण्ड के द्वारा वशीभूत करे ॥१०८॥

सामादीनामुपायानां चतुर्णामपि पण्डिताः।
सामदण्डौ प्रशंसन्ति नित्यं राष्ट्राभिवृद्धये ॥१०९॥

सामादीनामिति ॥ चतुर्णामपि सामादीनामुपायानां मध्यात्सामदण्डावेव राष्ट्रवृद्ध्यर्थं पण्डिताः प्रशंसन्ति। साम्नि प्रयासधनव्ययसैन्यक्षयादिदोषाभावाद्दण्डे तु तत्सद्भावेऽपि कार्यसिद्ध्यतिशयात् ॥१०९॥

अ०—पण्डिताः राष्ट्राभिवृद्धये सामादीनां चतुर्णाम् अपि उपायानाम् नित्यं सामदण्डौ प्रशंसन्ति ॥१०९॥

राजनीति के विद्वान् राष्ट्र की प्रगति के लिए सामादि चार उपायों में से भी सदा साम तथा दण्ड की प्रशंसा करते हैं ॥१०९॥

यथोद्धरति निर्दाता कक्षं धान्यं च रक्षति ।
तथा रक्षेन्नृपो राष्ट्रं हन्याच्च परिपन्थिनः ॥११०॥

यथेत्यादि ॥ यथा क्षेत्रे धान्यतृणादिकयोः सहोत्पन्नयोरपि धान्यानि लवनकर्ता रक्षति तृणादिकं चोद्धरति, एवं नृपती राष्ट्रे दुष्टान्हन्यान्नत्वदुष्टांस्तदीयसहजान्भ्रातॄनपि, निर्दातृदृष्टान्तादवसीयते । शिष्टसहितं च राष्ट्रं रक्षेत् ॥११०॥

अ०—यथा निर्दाता कक्षम् उद्धरति धान्यं च रक्षति तथानृपः राष्ट्रं रक्षेत् परिपन्थिनः च हन्यात् ॥११०॥

जिस प्रकार कृषक फसल को नुकसान पहुंचाने वाली खर-पतवार को उखाड़ कर अन्न की रक्षा करता है उसी प्रकार राजा को राष्ट्र की रक्षा करनी चाहिए तथा विरोधियों को समाप्त करना चाहिए ॥११०॥

मोहाद्राजा स्वराष्ट्रं यः कर्शयत्यनवेक्षया ।
सोऽचिराद्भ्रश्यते राज्याज्जीविताच्च सबान्धवः ॥१११॥

मोहादित्यादि ॥ यो राजाऽनवेक्षया दुष्टशिष्टाज्ञानेन सर्वानेव स्वराष्ट्रीयजनान् शास्त्रीयधनग्रहणमारणादिकष्टेन पीडयति स शीघ्रमेव जनपदवैराख्यप्रकृतिकोपाधर्मै राजा राज्याज्जीविताच्च पुत्रादिसहितो भ्रश्यते ॥१११॥

अ०—यः राजा मोहात् स्वराष्ट्रम् अनवेक्षया कर्शयति सः सबान्धवः अचिरात् राज्यात् जीवितात् च भ्रश्यते ॥१११॥

जो राजा अज्ञानता से अनुचित कर राष्ट्र से लेता है वह शीघ्र ही परिवार सहित राज्य तथा जीवन से रहित हो जाता है ॥१११॥

शरीरकर्षणात्प्राणाः क्षीयन्ते प्राणिनां यथा ।
तथा राज्ञामपि प्राणाः क्षीयन्ते राष्ट्रकर्षणात् ॥११२॥

शरीरकर्षणेति ॥ यथा प्राणभृतामाहारनिरोधादिना शरीरशोषणात्प्राणाः क्षीयन्ते, एवं राज्ञामपि राष्ट्रपीडनात्प्रकृतिकोपादिना प्राणा विनश्यन्ति । तस्मात्स्वशरीरवद्राज्ञा राष्ट्रं रक्षणीयमित्युक्तम् ॥११२॥

अ०—यथा शरीरकर्षणात् प्राणिनां प्राणाः क्षीयन्ते तथा राष्ट्रकर्षणात् राज्ञाम् अपि प्राणाः क्षीयन्ते ॥११२॥

जिस प्रकार शरीर की दुर्बलता से प्राणियों के प्राण क्षीण हो जाते हैं उसी प्रकार राष्ट्र को कष्ट पहुंचाने से राजा के भी प्राण नष्ट हो जाते हैं ॥११२॥

राष्ट्रस्य संग्रहे नित्यं विधानमिदमाचरेत् ।
सुसंगृहीतराष्ट्रो हि पार्थिवः सुखमेधते ॥११३॥

राष्ट्रस्येत्यादि ॥ राष्ट्रस्य रक्षणे च वक्ष्यमाणमिममुपायमनुतिष्ठेत् । यस्मा-

न्त्संरक्षितराष्ट्रो राजाऽनायासेन वर्धते ॥११३॥

अ०—राष्ट्रस्य संग्रहे नित्यम् इदं विधानम् आचरेत् सुसंग्रहीतराष्ट्रः हि पार्थिवः सुखम् एधते ॥११३॥

राजा राष्ट्र की रक्षा में सदा उपरोक्त विधि (प्रजा को कर आदि से कष्ट न देने की विधि) का आचरण करे क्योंकि अच्छी प्रकार से रक्षित राष्ट्र से ही राजा सुखपूर्वक वृद्धि को प्राप्त करता है ॥११३॥

द्वयोस्त्रयाणां पञ्चानां मध्ये गुल्ममधिष्ठितम् ।
तथा ग्रामशतानां च कुर्याद्राष्ट्रस्य संग्रहम् ॥११४॥

द्वयोरिति ॥ द्वयोर्ग्रामयोर्मध्ये त्रयाणां वा ग्रामाणां पञ्चानां वा ग्रामशतानां गुल्मं रक्षितृपुरुषसमूहं सत्यप्रधानपुरुषाधिष्ठितं राष्ट्रस्य संग्रहं रक्षास्थानं कुर्यात्। अस्य लाघवगौरवापेक्षश्चोक्तविकल्पः ॥११४॥

अ०—द्वयोः त्रयाणां पञ्चानां ग्रामशतानां च मध्ये राष्ट्रस्य संग्रहं गुल्मम् अधिष्ठितं कुर्यात् ॥११४॥

राजा दो, तीन, पांच तथा सौ ग्रामों के बीच में राष्ट्र की रक्षा के लिए सैनिकों के एक समूह की नियुक्ति करे ॥११४॥

ग्रामस्याधिपतिं कुर्याद्दशग्रामपतिं तथा ।
विंशतीशं शतेशं च सहस्रपतिमेव च ॥११५॥

ग्रामस्येति ॥ एकग्रामदशग्रामाद्यधिपतीन्कुर्यात् ॥११५॥

अ०—स्पष्टमेव ।

राजा ग्राम, दस ग्रामों, बीस ग्रामों, सौ ग्रामों तथा हजार ग्रामों के अधिकारियों को नियुक्त करे ॥११५॥

ग्रामदोषान्समुत्पन्नान्ग्रामिकः शनकैः स्वयम् ।
शंसेद्ग्रामदशेशाय दशेशो विंशतीशिने ॥११६॥
विंशतीशस्तु तत्सर्वं शतेशाय निवेदयेत् ।
शंसेद्ग्रामशतेशस्तु सहस्रपतये स्वयम् ॥११७॥

ग्राम इति ॥ विंशतीश इति ॥ ग्रामाधिपतिश्चौरादिरादिदोषान्ग्रामे संजातानात्मना प्रतिकर्तुमक्षमोऽनुत्कृष्टतया स्वयं दशग्रामाधिपतये कथयेत् । एवं दशग्रामाधिपतयो विंशतिग्रामस्वाम्यादिभ्यः कथयेयुः । तथा च सति सम्यक् चौरादिकण्टकोद्धारो भवति ॥११६-११७॥

अ०—समुत्पन्नान् ग्रामदोषान् ग्रामिकः स्वयं ग्रामदशेशाय शंसेत् शनकैः दशेशः विंशतीशिने ॥११६॥

अ०—विंशतीशः तु तत् सर्वं शतेशाय निवेदयेत् ग्रामशतेशः तु स्वयम् सहस्र-पतये निवेदयेत् ।।११७।।

ग्राम में उत्पन्न उपद्रवों का ग्राम को मुखिया स्वयं दस गांवों के अधिकारी को निवेदित करे । इसी क्रम से दस गांवों का अधिकारी बीस गाँव के अधिपति को (निवेदन करे) ।।११६।।

बीस गांवों का अधिपति उन सब (उपद्रवों) का शताधिपति को तथा सौ गांव का अधिपति सहस्र गांव के अधिकारी को निवेदन करे ।।११७।।

उपरोक्त दो श्लोकों में राजा तक उपद्रवों का समाचार कैसे पहुंचाना चाहिए ? इसकी प्रक्रिवा बताई गई है ।

एकग्रामाधिकृतस्य वृत्तिमाह—

यानि राजप्रदेयानि प्रत्यहं ग्रामवासिभिः ।
अन्नपानेन्धनादीनि ग्रामिकस्तान्यवाप्नुयात् ।।११८।।

यानीति ।। यान्यन्नपानेन्धनादीनि ग्रामवासिभिः प्रत्यहं राज्ञे देयानि न त्वब्द-करं 'धान्यानामष्टमो भागः' (७।१३०) इत्यादिकम्, तानि ग्रामाधिपतिर्वृत्त्यर्थं गृह्णीयात् ।।११८।।

अ०—ग्रामवासिभिः प्रत्यहं यानि अन्नपानेन्धनादीनि राजप्रदेयानि तानि ग्रामिकः अवाप्नुयात् ।।११८।।

ग्रामीणों के द्वारा प्रतिदिन अन्न, पान, ईंधन आदि जो राजा को दिया जाना हो उसे ग्रामिक (गांव का मुखिया) प्राप्त करे ।।११८।।

कुल्लू०—वार्षिक कर का नहीं अपितु प्रतिदिन वसूल किए जाने वाले कर का अधिकारी ग्रामिक होता है ।

दशी कुलं तु भुञ्जीत विंशी पञ्चकुलानि च ।
ग्रामं ग्रामशताध्यक्षः सहस्राधिपतिः पुरम् ।।११९।।

दशी कुलमिति ।। 'अष्टागवं धर्महलं षड्गवं जीवितार्थिनाम् । चतुर्गवं गृहस्थानां त्रिगवं ब्रह्मघातिनाम्' इति हारीतस्मरणात् । षड्गवं मध्यमं हलमिति तथाविधहलद्वयेन यावती भूमिर्वाह्यते तत्कुलमिति वदति तद्दशग्रामाधिपतिर्वृत्त्यर्थं भुञ्जीत । एवं विंशत्यधिपतिः पञ्च कुलानि, शताधिपतिर्मध्यमं ग्रामं, सहस्राधिपतिर्मध्यमं पुरम् ।।११९।।

अ०—दशी तु कुलं, विंशी पञ्चकुलानि, ग्रामशताध्यक्षः ग्रामं, सहस्राधिपतिः च पुरं भुञ्जीत ।।११९।।

दस ग्रामों का अधिकारी एक कुल, बीस गांवों का अधिकारी पांच कुल, सौ

गांवों का अधिकारी एक गांव तथा हजार गांवों का अधिकारी एक पुर का भोग करे ॥११९॥

कुलम्—भूमि को नापने की एक ईकाई।

कुल्लू०—बारह बैलों के द्वारा जितनी भूमि जोती जा सके वह एक कुल होगी।

Buhler—A : much land as suffices for one ramily.

तेषां ग्राम्याणि कार्याणि पृथक्कार्याणि चैव हि।
राज्ञोऽन्यः सचिवः स्निग्धस्तानि पश्येदतन्द्रितः ॥१२०॥

तेषामित्यादि ॥ तेषां ग्रामनिवासिप्रभृतीनां परस्परविप्रतिपत्तौ यानि ग्रामभवानि कार्याणि, कृताकृतानि च पृथक्कार्याणि, तान्यन्यो राज्ञो हितकृत्तन्नियुक्तोऽनलसः कुर्वीत ॥१२०॥

अ०—तेषां च ग्राम्याणि कार्याणि पृथक्कार्याणि एव च तानि राज्ञः अन्यः स्निग्धः अतन्द्रितः सचिवः पश्येत् ॥१२०॥

उन (प्रजा) के असभ्य (लड़ाई-झगड़े आदि) कार्यों को तथा इनसे अलग (विकासादि) कार्यों को भी राजा का कोई दूसरा (ग्रामिक, दशी आदि से दूसरा) स्नेह रखने वाला (स्वामिभक्त) तथा आलस्य रहित सचिव देखे ॥१२०॥

नगरे नगरे चैकं कुर्यात्सर्वार्थचिन्तकम्।
उच्चैःस्थानं घोररूपं नक्षत्राणामिव ग्रहम् ॥१२१॥

नगर इति ॥ प्रतिनगरमेकैकमुच्चैःस्थानं कुलादिना महान्तं प्रधानरूपं घोररूपं हस्त्यश्वादिसामग्र्या भयजनकनक्षत्रादिमध्ये भार्गवादिग्रहमिव तेजस्विनं कार्यद्रष्टारं नगराधिपतिं कुर्यात् ॥१२१॥

अ०—नगरे-नगरे च नक्षत्राणां ग्रहम् इव सर्वार्थचिन्तकम् एकं घोररूपम् उच्चैः स्थानं कुर्यात् ॥१२१॥

(राजा) नगर-नगर में नक्षत्रों में ग्रह के समान (तेजस्वी) सभी के प्रयोजनों को ध्यान में रखने वाले एक कठोर व्यक्तित्व वाले उच्चाधिकारी की नियुक्ति करे ॥१२१॥

घोररूपं—भयानक।

कूल्लू०—हाथी, घोड़े आदि वस्तुओं से भय उत्पन्न करने वाले।

स ताननुपरिक्रामेत्सर्वानेव सदा स्वयम्।
तेषां वृत्तं परिणयेत्सम्यग्राष्ट्रेषु तच्चरैः ॥१२२॥

स इत्यादि ॥ स नगराधिकृतस्तान्सर्वान्ग्रामाधिपत्यादीनसति प्रयोजने सर्व-

स्वयं सबलेनानुगच्छेत्। तेषां च नगराधिकृतपर्यन्तानां सर्वेषामेव यद्राष्ट्रे स्वचेष्टितं तत्तद्विषयनियुक्तैश्चरैः सम्यक्प्रजाः परिणयेदवगच्छेत् ॥१२२॥

अ०—स सदा स्वयमेव तान् सर्वान् अनुपरिक्रामेत्। राष्ट्रेषु चरैः तेषां तत् वृत्तं सम्यक् परिणयेत् ॥१२२॥

वह राजा सदा स्वयं ही उन सब अधिकारियों का निरीक्षण करे तथा राज्यों में गुप्तचरों के द्वारा (भी) उनके व्यवहार को ठीक प्रकार से जाने ॥१२२॥

राज्ञो हि रक्षाधिकृताः परस्वादायिनः शठाः।
भृत्या भवन्ति प्रायेण तेभ्यो रक्षेदिमाः प्रजाः ॥१२३॥

राज्ञो हीत्यादि ॥ यस्माद्ये राज्ञो रक्षाधिकृतास्ते बाहुल्येन परस्वग्रहणशीला वञ्चकाश्च भवन्ति, तस्मात्तेभ्य इमाः स्वात्मीयाः प्रजा राजा रक्षेत् ॥१२३॥

अ०—रक्षाधिकृताः राज्ञः भृत्याः प्रायेण हि परस्वादायिनः शठाः, तेभ्यः इमाः प्रजाः रक्षेत् ॥१२३॥

रक्षा के लिए नियुक्त राजा के कर्मचारी प्रायः रिश्वत लेने वाले धूर्त होते हैं अतः राजा उनसे प्रजा की रक्षा करे ॥१२३॥

ये कार्यिकेभ्योऽर्थमेव गृह्णीयुः पापचेतसः।
तेषां सर्वस्वमादाय राजा कुर्यात्प्रवासनम् ॥१२४॥

य इत्यादि ॥ ये रक्षाधिकृताः कार्यार्थिभ्य एव वाक्छलादिकमुद्भाव्य लोभादशास्त्रीयधनग्रहणं पापबुद्धयः कुर्वन्ति तेषां सर्वस्वं राजा गृहीत्वा देशान्निःसारणं कुर्यात् ॥१२४॥

अ०—ये पापचेतसः कार्यिकेभ्यः अर्थं गृह्णीयुः, तेषां सर्वस्वम् एव आदाय राजा प्रवासनं कुर्यात् ॥१२४॥

जो रिश्वत लेने वाले बेईमान अधिकारी कार्यार्थियों से धन लें, उनका सर्वस्व ही लेकर राजा देश से निकाल दे ॥१२४॥

राजा कर्मसु युक्तानां स्त्रीणां प्रेष्यजनस्य च।
प्रत्यहं कल्पयेद्वृत्तिं स्थानकर्मानुरूपतः ॥१२५॥

राजेत्यादि ॥ राजोपयुक्तकर्मनियुक्तानां स्त्रीणां दास्यादीनां कर्मकरजनस्य चोत्कृष्टमध्यमापकृष्टस्थानयोग्यानुरूपेण प्रत्यहं कर्मानुरूपेण वृत्तिं कुर्यात् ॥१२५॥

अ०—राजा कर्मसु युक्तानां स्त्रीणां प्रेष्यजनस्य च प्रत्यहं कर्मानुरूपतः स्थानं वृत्तिं कल्पयेत् ॥१२५॥

राजा (राज्य के) कार्यों में नियुक्त स्त्री तथा पुरुष सेवकों का कार्य तथा पद के अनुसार प्रतिदिन का वेतन निश्चित करे ॥१२५॥

तामेव दर्शयति—

पणो देयोऽवकृष्टस्य षडुत्कृष्टस्य वेतनम् ।
षाण्मासिकस्तथाच्छादो धान्यद्रोणस्तु मासिकः ॥१२६॥

पण इति ॥ अवकृष्टस्य गृहादिसंमार्जकोदकवाहादेः कर्मकरस्य वक्ष्यमाणलक्षणः पणो भृतिरूपः प्रत्यहं दातव्यः । षाण्मासिकश्चाच्छादो वस्त्रयुगं दातव्यम् । 'अष्टमुष्टिर्भवेत्कुञ्चिः कुञ्चयोऽष्टौ तु पुष्कलम् । पुष्कलानि तु चत्वारि आढकः परिकीर्तितः ॥ चतुराढको भवेद्द्रोणः' इति गणनया धान्यद्रोणश्च प्रतिमासं देयः । उत्कृष्टस्य तु भृतिरूपाश्च षट् पणा देयाः । अनयैव कल्पनया षाण्मासिकानि षट् वस्त्रयुगानि देयानि । प्रतिमासं षाण्मास्या द्रोणा देयाः । अनयैवातिदिशा मध्यमस्य पणत्रयं भृतिरूपं दातव्यम् । षाण्मासिकं च वस्त्रयुगत्रयं मासिकं च धान्यं द्रोणत्रयं देयम् ॥१२६॥

अ०—अवकृष्टस्य पणः देयः उत्कृष्टस्य षड् वेतनं तथा षाण्मासिकस्तथाच्छादो धान्यद्रोणस्तु मासिकः ॥१२६॥

अकुशल सेवक को एक पण तथा कुशल को छह पण वेतन देना चाहिए तथा छह मास में वस्त्र तथा एक मास में एक द्रोण अनाज देना चाहिए ॥१२६॥

कूल्लू० के अनुसार कुशल सेवक को वेतन की भांति वस्त्र तथा अनाज भी छह गुना मिलना चाहिए।

द्रोण—३२ सेर ।

पण—३२ रत्ती का तांबे का सिक्का । मनु०—VIII. १३६

क्रयविक्रयमध्वानं भक्तं च सपरिव्ययम् ।
योगक्षेमं च संप्रेक्ष्य वणिजो दापयेत्करान् ॥१२७॥

क्रयविक्रयमित्यादि ॥ कियता मूल्येन क्रीतमिदं वस्त्रं, लवणादिद्रव्यं विक्रीयमाणं चात्र कियल्लभ्यते, कियद्दूरादानीतं, किमस्य वणिजो भक्तव्ययेन शाकसूपादिना परिव्ययेण लग्नं, किमस्यारण्यादौ चौरादिभ्यो रक्षारूपेण क्षेमप्रतिविधानेन गतं, कोऽस्येदानीं लाभयोग इत्येतदवेक्ष्य वणिजः करान्दापयेत् ॥१२७॥

अ०—क्रयविक्रयम् अध्वानं भक्तं सपरिव्ययं च योगक्षेमं च संप्रेक्ष्य वणिजः करान् दापयेत् ॥१२७॥

खरीद-बिक्री, मार्ग, भोजन, रक्षादि व्यय तथा पूंजी में वृद्धि तथा ह्रास अर्थात् शुद्ध लाभ को ठीक प्रकार से देखकर व्यापारी पर कर लगाए ॥१२७॥

राजा व्यापारी पर केवल "कितने में वस्तु खरीदी कितने में बेची" इस आधार पर नहीं अपितु खरीदने, रक्षा करने लाने तथा बेचने में उसके लगने वाले व्यय तथा समय को दृष्टि में रखकर 'कर' लगाए ।

यथा फलेन युज्येत राजा कर्ता च कर्मणाम् ।
तथाऽवेक्ष्य नृपो राष्ट्रे कल्पयेत्सततं करान् ॥१२८॥

यथेति ॥ यथा राजाऽवेक्षणादिकर्मणः फलेन, यथा च वार्षिकवणिगादयः कृषि-वाणिज्यादिकर्मणां फलेन संवध्यन्ते तथा निरूप्य राजा सर्वदा राज्ञे करान्गृह्णीयात् ॥१२८॥

अ०—यथा राजा कर्मणां कर्ता च फलेन युज्यते नृपः सततम् तथा अवेक्ष्य राष्ट्रं करान् कल्पयेत् ॥१२८॥

जिससे राजा तथा कार्य करने वाले फल युक्त रहें, राजा को उस प्रकार सदा देखकर राज्य पर कर लगाने चाहिएं ॥१२८॥

कर इस प्रकार तथा इतना लगाना चाहिए जिससे राजा तथा कर देने वाले व्यक्ति, दोनों लाभ में रहें।

अत्र दृष्टान्तमाह—

यथाल्पाल्पमदन्त्याद्यं वार्योकोवत्सषट्पदाः ।
तथाल्पाल्पो ग्रहीतव्यो राष्ट्राद्राज्ञाब्दिकः करः ॥१२६॥

यथेत्यादि ।। यथा जलौकोवत्सभ्रमराः स्तोकस्तोकानि रक्तक्षीरमधून्यदन्त्येवं राज्ञा मूलधनमनुच्छिन्दताऽल्पोल्पो राष्ट्रादाब्दिकः करो ग्राह्यः ॥१२६॥

अ०—यथा वार्योकोवत्सषट्पदाः अल्पाल्पम् आद्यम् अदन्ति तथा राज्ञा राष्ट्राद् अल्पाल्पः आब्दिकः करः ग्रहीतव्यः ॥१२६॥

जिस प्रकार जल में रहने वाला जोक, बछड़ा तथा भंवरा थोड़े से थोड़ा भोजन (क्रमशः रक्त, दूध, मधु) खाते हैं उसी प्रकार राजा को राज्य से कम से कम वार्षिक कर लेना चाहिए ॥१२६॥

तमाह—

पञ्चाशद्भाग आदेयो राज्ञा पशुहिरण्ययोः ।
धान्यानामष्टमो भागः षष्ठो द्वादश एव वा ॥१३०॥

पञ्चाशद्भाग इत्यादि ॥ मूलादधिकयोः पशुहिरण्ययोः पञ्चाशद्भागो राज्ञा ग्रहीतव्यः । एवं धान्यानां षष्ठोऽष्टमो द्वादशो वा भागो राज्ञा ग्राह्यः । भूम्युत्कर्षापकर्षापेक्षया कर्षणादिक्लेशलाघवगौरवापेक्षश्चायं वह्वल्पग्रहण-विकल्पः ॥१३०॥

अ०—राज्ञा पशुहिरण्ययोः पञ्चाशत् भागः धान्यानां च अष्टमः षष्ठः द्वादशः भाग एव वा आदेयः ॥१३०॥

राजा पशु तथा सोने का पचासवां हिस्सा तथा फसल का आठवां, छट्ठा अथवा बारहवां हिस्सा ही लेवे ॥१३०॥

धान्य में आठवें, छट्ठे तथा बारहवें हिस्से का विकल्प भूमि पर निर्भर करता है यदि कम परिश्रम से अधिक अनाज उपजता हो तो छट्ठा, मध्यम उपजाऊ भूमि हो तो आठवां तथा यदि निकृष्ट उपजाऊ भूमि हो तो बारहवां हिस्सा कर रूप में लेना चाहिए।

आददीताथ षड्भागं द्रुमांसमधुसर्पिषाम्।
गन्धौषधिरसानां च पुष्पमूलफलस्य च ॥१३१॥

पत्रशाकतृणानां च चर्मणां वैदलस्य च।
मृन्मयानां च भाण्डानां सर्वस्याश्ममयस्य च ॥१३२॥

आददीतेत्यादि ॥ पत्रशाकेत्यादि ॥ 'द्रु' शब्दोऽत्र वृक्षवाचकः। वृक्षादीनां सप्तदशानामश्ममयान्तानां षष्ठो भागो लाभाद्ग्रहीतव्यः ॥१३१-१३२॥

अ०—अथ द्रुमांसमधुसर्पिषां गन्धौषधिरसानां च पुष्पमूलफलस्य च पत्रशाकतृणानां च चर्मणां वैदलस्य च मृन्मयानां भाण्डानां च सर्वस्य अश्ममयस्य च षड्भागम् आददीत ॥१३१-१३२॥

वृक्ष, मांस, मधु, घी, गन्ध, औषधि तथा रस, पुष्प, जड़ (जमीन के भीतर पैदा होने वाले आलू, मूली, गाजर आदि) पत्ता, शाक तथा तिनके, चमड़े, बांस तथा मिट्टी के बने बर्तन और पत्थर से बने सभी पदार्थों पर कर के रूप में राजा छठा भाग ग्रहण करे ॥१३१-१३२॥

म्रियमाणोऽप्याददीत न राजा श्रोत्रियात्करम्।
न च क्षुधाऽस्य संसीदेच्छ्रोत्रियो विषये वसन् ॥१३३॥

म्रियमाण इति ॥ क्षीणधनोऽपि राजा श्रोत्रियब्राह्मणात्करं न गृह्णीयात्। नच तदीयदेशे वसन्श्रोत्रियो बुभुक्षयावसादं गच्छेत् ॥१३३॥

अ०—म्रियमाणः अपि राजा श्रोत्रियात् करं न आददीत, अस्य विषये वसन् श्रोत्रियः क्षुधा च न संसीदेत् ॥१३३॥

(आर्थिक तंगी से) मरता हुआ भी राजा वेदपाठी ब्राह्मण से कर न ले तथा इसके राज्य में श्रोत्रिय कभी भी भूख से व्याकुल न हो ॥१३३॥

यस्य राज्ञस्तु विषये श्रोत्रियः सीदति क्षुधा।
तस्यापि तत्क्षुधा राष्ट्रमचिरेणैव सीदति ॥१३४॥

यस्येत्यादि ॥ यस्य राज्ञो देशे श्रोत्रियः क्षुधावसन्नो भवति तस्य राष्ट्रमपि दुर्भिक्षादिभिः क्षुधा शीघ्रमवसादं गच्छति ॥१३४॥

अ०—यस्य राज्ञः विषये तु श्रोत्रियः क्षुधा सीदति अपि तस्य तत् क्षुधा राष्ट्रम् एव अचिरेणैव सीदति ॥१३४॥

जिस राजा के राज्य में वेदपाठी ब्राह्मण भूख से पीड़ित होता है, उसकी वह भूख शीघ्र ही राष्ट्र को पीड़ित कर देती है ॥१३४॥

यत एवमतः,—

श्रुतवृत्ते विदित्वास्य वृत्तिं धर्म्यां प्रकल्पयेत् ।
संरक्षेत्सर्वतश्चैनं पिता पुत्रमिवौरसम् ॥१३५॥

श्रुतेति ॥ शास्त्रज्ञानानुष्ठाने ज्ञात्वा अस्य तदनुरूपां धर्मादनपेतां जीविकामुपकल्पयेत् । चौरादिभ्यश्चैनमौरसं पुत्रमिव पिता रक्षेत् ॥१३५॥

अ०—अस्य श्रुतवृत्ते विदित्वा धर्म्यां वृत्तिं प्रकल्पयेत्, औरसं पुत्रं पिता इव एनं च सर्वतः संरक्षेत् ॥१३५॥

राजा इस श्रोत्रिय ब्राह्मण के शास्त्र ज्ञान को जानकर धर्म के अनुकूल जीविका की व्यवस्था करे तथा अपनी विवाहिता स्त्री से उत्पन्न पुत्र के समान इस (श्रोत्रिय ब्राह्मण) की सब प्रकार से रक्षा करे ॥१३५॥

यस्मात्,—

संरक्ष्यमाणो राज्ञा यं कुरुते धर्ममन्वहम् ।
तेनायुर्वर्धते राज्ञो द्रविणं राष्ट्रमेव च ॥१३६॥

संरक्ष्यमाण इत्यादि ॥ स च श्रोत्रियो राज्ञा सम्यग्रक्ष्यमाणो यं धर्मं प्रत्यहं करोति तेन राज्ञ आयुर्धनराष्ट्राणि वर्धन्ते ॥१३६॥

अ०—राज्ञा संरक्ष्यमाणः यं धर्मम् अन्वहं कुरुते तेन राज्ञः आयुः द्रविणं राष्ट्रम् एव च वर्धते ॥१३६॥

राजा के द्वारा संरक्षित वैदिक ब्राह्मण जो नित्य प्रति धर्म करता है उससे राजा की आयु, धन तथा राज्य भी बढ़ता है ॥१३६॥

यत्किंचिदपि वर्षस्य दापयेत्करसंज्ञितम् ।
व्यवहारेण जीवन्तं राजा राष्ट्रे पृथग्जनम् ॥१३७॥

यदिति ॥ राजा स्वदेशे शाकपर्णादिस्वल्पमूल्यवस्तुक्रयविक्रयादिना जीवन्तं निकृष्टजनं स्वल्पमपि कराख्यं वर्षेण दापयेत् ॥१३७॥

अ०—राजा राष्ट्रे व्यवहारेण जीवन्तं पृथग्जनं वर्षस्य यत् किञ्चिद् अपि करसंज्ञितं दापयेत् ॥१३७॥

राजा राज्य में क्षुद्र व्यापारादि से जीवन यापन करने वाले दूसरे व्यक्तियों से बहुत थोड़ा ही सही किन्तु वार्षिक कर (अवश्य) ले ॥१३७॥

कारुकाञ्छिल्पिनश्चैव शूद्रांश्चात्मोपजीविनः ।
एकैकं कारयेत्कर्म मासि मासि महीपतिः ॥१३८॥

कारुकानिति ॥ कारुकान्सूपकारादीन् शिल्पिभ्य ईषदुत्कृष्टान्, शिल्पिनश्च लोहकारादीन्, शूद्रांश्च देहक्लेशोपजीविनो भारिकादीन् मासि मास्येकं दिनं कर्म कारयेत् ॥१३८॥

अ०—महीपतिः कारूकान्, शिल्पिनः एव च, शूद्रांश्च, आत्मोपजीविनः मासि मासि एकैकं (दिनम्) कर्म कारयेत् ॥१३८॥

भूपति कलाकारों, शिल्पियों, शूद्रों तथा अपनी वृत्ति स्वयं चलाने वाले व्यक्तियों से प्रत्येक मास में (कर के रूप में) एक दिन बेगार कराए ॥१३८॥

नोच्छिन्द्यादात्मनो मूलं परेषां चातितृष्णया ।
उच्छिन्दन्ह्यात्मनो मूलमात्मानं तांश्च पीडयेत् ॥१३९॥

नोच्छिन्द्यादिति ॥ प्रजास्नेहात्करशुल्कादेरग्रहणमात्मनो मूलच्छेदः, अतिलोभेन प्रचुरकरादिग्रहणं परेषां मूलोच्छेदः, एतदुभयं न कुर्यात् । यस्मात् आत्मनो मूलमुच्छिद्य कोशक्षयादात्मानं पीडयेत् । पूर्वार्धात्परेषां चेत्यपि संवध्यते । परेषां मूलमुच्छिद्य तांश्च पीडयेत् ॥१३९॥

अ०—अतितृष्णया आत्मनः परेषां च मूलं न उच्छिन्द्यात्, आत्मनः हि मूलम् उच्छिन्दन् आत्मनं तान् च पीडयेत् ॥१३९॥

अत्यन्त लोभ से अपने तथा दूसरे की जड़ को न काटे क्योंकि अपनी जड़ काटता हुआ वह स्वयं को तथा प्रजा को कष्ट पहुंचाता है ॥१३९॥

प्रजा से स्नेह के कारण अथवा प्रमाद वश कर ग्रहण न करना अपने मूल (कोष) को नष्ट करना है तथा अत्यन्त लोभी होकर अधिक से अधिक कर ग्रहण करना प्रजा को पीडित करना है । अतः कर इतना लेना चाहिए कि राज्य की व्यवस्था के सभी कार्य सुचारु रूप से चलें तथा प्रजा को भी कष्ट न हो ।

तीक्ष्णश्चैव मृदुश्च स्यात्कार्यं वीक्ष्य महीपतिः ।
तीक्ष्णश्चैव मृदुश्चैव राजा भवति संमतः ॥१४०॥

तीक्ष्ण इति ॥ कार्यविशेषमवगम्य क्वचित्कार्ये तीक्ष्णः क्वचिन्मृदुश्च भवेन्न त्वेकरूपमालम्बेत । यस्मादुक्तरूपो राजा सर्वेषामभिमतो भवति ॥१४०॥

अ०—महीपतिः कार्यं वीक्ष्य तीक्ष्णः मृदुः एव च स्यात्, तीक्ष्णः एव च मृदुः एव च राजा संमतः भवति ॥१४०॥

राजा कार्य को ध्यान में रखकर कठोर तथा सरल भी हो क्योंकि कठोर और सरल राजा प्रिय होता है ॥१४०॥

राजा वही लोकप्रिय होता है जो कठोरता तथा सरलता का उपयुक्त में स्थल प्रयोग करता है।

अमात्यमुख्यं धर्मज्ञं प्राज्ञं दान्तं कुलोद्‌गतम्।
स्थापयेदासने तस्मिन्खिन्नः कार्येक्षणे नृणाम्॥१४१॥

अमात्येति॥ स्वयं कार्यदर्शने खिन्नः श्रेष्ठामात्यं धर्मविदं प्राज्ञं जितेन्द्रियं कुलीनं तस्मिन्कार्यदर्शनस्थाने नियुञ्जीत॥१४१॥

अ०—खिन्नः धर्मज्ञं प्राज्ञं दान्तं कुलोद्‌गतम् अमात्यमुख्यं नृणां कार्येक्षणे तस्मिन् आसने स्थापयेत्॥१४१॥

श्रान्त राजा धर्म को जानने वाले, बुद्धिमान्, जितेन्द्रिय, कुलपरम्परा से आए हुए, महामंत्री को प्रजा के कार्य निरीक्षण के लिए उस आसन (निरीक्षक के पद) पर नियुक्त करे॥१४१॥

एवं सर्वं विधायेदमितिकर्तव्यमात्मनः।
युक्तश्चैवाप्रमत्तश्च परिरक्षेदिमाः प्रजाः॥१४२॥

एवमित्यादि॥ एवमुक्तप्रकारेण सर्वमात्मनः कार्यजातं संपाद्य युक्तः प्रमाद-रहित आत्मीयाः प्रजा रक्षेत्॥१४२॥

अ०—एवम् आत्मनः इदं सर्वम् इतिकर्तव्यं विधाय युक्तः च अप्रमत्तः एव च इमाः प्रजाः परिरक्षेत्॥१४२।,

इस प्रकार से अपने इन सब कर्तव्यों को करके तत्परता तथा सावधानी से ही इन प्रजाओं की सब तरह से रक्षा करे॥१४२॥

विक्रोशन्त्यो यस्य राष्ट्राद्‌ध्रियन्ते दस्युभिः प्रजाः।
संपश्यतः सभृत्यस्य मृतः स न तु जीवति॥१४३॥

विक्रोशन्त्य इति॥ यस्य राज्ञोऽमात्यादिसहितस्य पश्यत एव राष्ट्रादाक्रो-शन्त्यः प्रजास्तस्करादिभिरपि ह्रियन्ते स मृत एव न तु जीवति। जीवनकार्याभा-वाज्जीवनमपि तस्य मरणमेवेत्यर्थः॥१४३॥

अ०—सभृत्यस्य संपश्यतः यस्य राष्ट्रात् दस्युभिः विक्रोशन्त्यः प्रजाः ह्रियन्ते, सः मृतः न तु जीवति॥१४३॥

कर्मचारियों सहित राजा के देखते हुए जिस राज्य से डाकुओं द्वारा क्रुद्ध प्रजाओं का (धनादि) ले जाया जाता है, वह (राजा) मरा हुआ है, जीवित नहीं है॥१४३॥

तस्मात् 'अप्रमत्तः प्रजा रक्षेत्' (७।१४२) इति पूर्वोक्तशेषं तदेव द्रढयति—

क्षत्रियस्य परो धर्मः प्रजानामेव पालनम् ।
निर्दिष्टफलभोक्ता हि राजा धर्मेण युज्यते ॥१४४॥

क्षत्रियस्येति ॥ धर्मान्तरेभ्यः श्रेष्ठं क्षत्रियस्य प्रजारक्षणमेव प्रकृष्टो धर्मः । यस्माद्यथोक्तलक्षणफलकरादिभोक्ता राजा धर्मेण संबध्यते ॥१४४॥

अ०—प्रजानां पालनम् एव क्षत्रियस्य परः धर्मः, निदृष्ट-फलभोक्ता राजा धर्मेण युज्यते ॥१४४॥

प्रजा की रक्षा ही क्षत्रिय (राजा) का सर्वश्रेष्ठ धर्म है, शास्त्रोक्त फल का उपभोग करने वाला राजा धर्म से युक्त होता है ॥१४४॥

उत्थाय पश्चिमे यामे कृतशौचः समाहितः ।
हुताग्निर्ब्राह्मणांश्चार्च्य प्रविशेत्स शुभां सभाम् ॥१४५॥

उत्थायेति ॥ स भूपो रात्रेः पश्चिमयाम उत्थाय कृतमूत्रपुरीषोत्सर्गादिशौचोऽनन्यमनाः कृताग्निहोत्रावसथ्यहोमो ब्राह्मणान्पूजयित्वा वास्तुलक्षणाद्युपेतां सभाममात्यादिदर्शनगृहं प्रविशेत् ॥१४५॥

अ०—स पश्चिमे यामे उत्थाय कृतशौचः समाहितः हुताग्निः ब्राह्मणान् आर्च्य शुभां सभां प्रविशेत् ॥१४५॥

अन्तिम प्रहर (सूर्योदय से पूर्व के चार घंटे के बीच के समय) में उठकर नित्य कृत्य करके, एकाग्र चित्त होकर होम करके तथा ब्राह्मणों की पूजा करके शुभ सभा में प्रवेश करे ॥१४५॥

तत्र स्थितः प्रजाः सर्वाः प्रतिनन्द्य विसर्जयेत् ।
विसृज्य च प्रजाः सर्वा मन्त्रयेत्सह मन्त्रिभिः ॥१४६॥

तत्रेति ॥ तस्यां सभायां स्थितो दर्शनार्थमागताः प्रजाः सर्वाः संभाषणदर्शनादिभिः प्रतिनन्द्य प्रस्थापयेत् । ताश्च प्रस्थाप्य मन्त्रिभिः सह संधिविग्रहादि चिन्तयेत् ॥१४६॥

अ०—तत्र स्थितः सर्वाः प्रजाः प्रतिनन्द्य विसर्जयेत् । सर्वाः प्रजाः विसृज्य मन्त्रिभिः सह मन्त्रयेत् ॥१४६॥

उस सभा में उपस्थित सारी प्रजा को (दर्शनादि से) प्रसन्न करके विसर्जित करे तथा सारी प्रजा को विसर्जित करने के बाद मन्त्रियों के साथ विचार विमर्श करे ॥१४६॥

गिरिपृष्ठं समारुह्य प्रासादं वा रहोगतः ।
अरण्ये निःशलाके वा मन्त्रयेदविभावितः ॥१४७॥

गिरिपृष्ठमिति ॥ पर्वतपृष्ठमारुह्य निर्जनवनगृहस्थितोऽरण्यदेशे वा विविक्ते

मन्त्रभेदकारिभिरनुपलक्षितः। कर्मणामारम्भोपायः, पुरुषद्रव्यसंपत्, देशकालविभागः, विनिपातप्रतीकारः, कार्यसिद्धिरित्येवं पञ्चाङ्गं मन्त्रं चिन्तयेत् ॥१४७॥

अ०—गिरिपृष्ठं समारुह्य प्रासादं रहोगतः वा अरण्ये निःशलाके वा अविभावितः मन्त्रयेत् ॥१४७॥

पर्वत की चोटी पर चढ़कर या निर्मक्षिक होने पर महल में या निर्जन जंगल में दूसरों की दृष्टि से दूर रहते हुए मन्त्रणा करे ॥१४७॥

यस्य मन्त्रं न जानन्ति समागम्य पृथग्जनाः।
स कृत्स्नां पृथिवीं भुङ्क्ते कोशहीनोऽपि पार्थिवः ॥१४८॥

यस्येति ॥ यस्य राज्ञो मन्त्रिभ्यः पृथगन्ये जना मिलित्वाऽस्य मन्त्रं न जानन्ति स क्षीणकोशोऽपि सर्वां पृथिवीं भुनक्ति ॥१४८॥

अ०—पृथक्जनाः समागम्य यस्य मन्त्रं न जानन्ति, कोशहीनः अपि स पार्थिवः कृत्सनां पृथिवीं भुङ्क्ते ॥१४८॥

दूसरे लोग सांठ-गांठ करके भी जिसकी गोपनीय बातों को नहीं जानते हैं वह निर्धन भी राजा पूरी पृथिवी को भोगता है ॥१४८॥

जडमूकान्धबधिरांस्तैर्यग्योनान्वयोतिगान्।
स्त्रीम्लेच्छव्याधितव्यङ्गान्मन्त्रकालेऽपसारयेत् ॥१४९॥

जडमूकान्धबधिरानिति ॥ बुद्धिवाक्चक्षुःश्रोत्रविकलान्, तिर्यग्योनिभवांश्च शुकसारिकादीन्, अतिवृद्धस्त्रीम्लेच्छरोग्यङ्गहीनांश्च मन्त्रसमयेऽपसारयेत् ॥१४९॥

अ०—मन्त्रकाले जडमूकान्धबधिरान् तैर्यग्योनान् वयोतिगान् स्त्रीमलेच्छव्याधितव्यङ्गान् अपसारयेत ॥१४९॥

राजा गुप्त वार्ता के समय मूर्ख, अन्धे, बहरे, पक्षी, वृद्ध, स्त्री, मलेच्छ (आर्यावर्त से अतिरिक्त देश के वासी) रोगी तथा किसी अङ्ग से रहित व्यक्ति को (भी) उस स्थान से हटा दे ॥१४९॥

यस्मात्—

भिन्दन्त्यवमता मन्त्रं तैर्यग्योनास्तथैव च।
स्त्रियश्चैव विशेषेण तस्मात्तत्रादृतो भवेत् ॥१५०॥

भिन्दन्तीत्यादि ॥ एते जडादयोऽपि प्राचीनदुष्कृतवशेन प्राप्तजडादिभावा अधार्मिकतयैवावमानिता मन्त्रभेदं कुर्वन्ति। तथा शुकादयोऽतिवृद्धाश्च स्त्रियश्च विशेषेणास्थिरबुद्धितया मन्त्रं भिन्दन्ति। तस्मात्तदपसारणे यत्नवान्स्यात् ॥१५०॥

अ०—अवमताः तैर्यग्योनाः तथैव च विशेषेण स्त्रियः मन्त्रं भिन्दन्ति तस्मात् तत्र आदृतः भवेत् ॥१५०॥

तिरस्कृत पक्षी तथा इसी प्रकार शेष (मूर्ख, अन्धे, बहरे तथा म्लेच्छ) एवं विशेषकर स्त्रियां गोपनीय वृतान्तों को प्रकट कर देती हैं अतः उनको वहां से हटाना चाहिए ॥१५०॥

मध्यंदिनेऽर्धरात्रे वा विश्रान्तो विगतक्लमः ।
चिन्तयेद्धर्मकामार्थान्सार्धं तैरेक एव वा ॥१५१॥

मध्यंदिन इति ॥ दिनमध्ये रात्रिमध्ये वा विगतचित्तखेदः शरीरक्लेशरहितश्च मन्त्रिभिः सह एकाकी वा धर्मार्थकामाननुष्ठातुं चिन्तयेत् ॥१५१॥

अ०—विश्रान्तः विगतक्लमः मध्यंदिने अर्धरात्रे वा तैः सार्धम् एकः एव वा धर्मकामार्थान् चिन्तयेत् ॥१५१॥

राजा शारीरिक तथा मानसिक रूप से स्वस्थ होकर भरी दोपहरी में अथवा आधी रात में उन मंत्रियों के साथ अथवा अकेला ही धर्म, काम तथा अर्थ (पुरुषार्थ त्रय) के विषय में सोचे ॥१५१॥

परस्परविरुद्धानां तेषां च समुपार्जनम् ।
कन्यानां संप्रदानं च कुमाराणां च रक्षणम् ॥१५२॥

परस्परेति ॥ तेषां च धर्मार्थकामानां प्रायिकविरोधवतां विरोधपरिहारेणार्जनोपायं चिन्तयेत् । दुहितॄणां च दानं स्वकार्यसिद्ध्यर्थं निरूपयेत् । कुमाराणां च पुत्राणं विनयाधाननीतिशिक्षार्थं रक्षणं चिन्तयेत् ॥१५२॥

अ०—परस्परविरुद्धानां तेषां समुपार्जनं कन्यानां संप्रदानं च, कुमाराणां रक्षणं च (चिन्तयेत्) ॥१५२॥

एक दूसरे के विरोधी उन (धर्म, अर्थ तथा काम) के अर्जन, कन्याओं के विवाह तथा राजकुमारों की रक्षा के विषय में सोचे ॥१५२॥

दूतसंप्रेषणं चैव कार्यशेषं तथैव च ।
अन्तःपुरप्रचारं च प्रणिधीनां च चेष्टितम् ॥१५३॥

दूतेति ॥ दूतानां संगुप्तार्थलेखहारित्वादिना परराष्ट्रप्रस्थापनं चिन्तयेत् । तथा प्रारब्धकार्यशेषं समापयितुं चिन्तयेत् । स्त्रीणां चातिविषमचेष्टितत्वात् । तथा हि—'शस्त्रेण वेणीविनिगूहितेन विदूरथं वै महिषी जघान । विषप्रदिग्धेन च नूपुरेण देवी विरक्ता किल काशिराजम् ॥' इत्याद्यवगम्यात्मरक्षार्थं चान्तःपुरस्त्रीणां चेष्टितं सखीदास्यादिना निरूपयेत् । चाराणां च प्रतिराजादिषु नियुक्तानां चारान्तरैश्चेष्टितमवधारयेत् ॥१५३॥

अ०—दूतसंप्रेषणम् एव च तथा कार्यशेषम् एव च, अन्तःपुरप्रचारं च प्रणिधीनां चेष्टितं च (चिन्तयेत्) ॥१५३॥

तथा दूतों को भेजने, बचे हुए कार्य, रनिवास की गतिविधियों और गुप्तचरों के कार्यकलापों को भी सोचे ॥१५३॥

यहाँ राजा को अपने अन्तःपुर में भी सावधानी बरतने का निर्देश है क्योंकि इतिहास में ऐसे उदाहरण है जहां रानियों ने गुप्त अस्त्रों से अथवा उनके सगे संबंधियों ने राजा को समाप्त कर दिया था।

कृत्स्नं चाष्टविधं कर्म पञ्चवर्गं च तत्त्वतः।
अनुरागापरागौ च प्रचारं मण्डलस्य च ॥१५४॥

कृत्स्नमिति ॥ अष्टविधं कर्म समग्रं चिन्तयेत्। तच्चोशनसोक्तम्—'आदाने च विसर्गे च तथा प्रैषनिषेधयोः। पञ्चमे चार्थवचने व्यवहारस्य चेक्षणे। दण्डशुद्ध्योः सदा युक्तस्तेनाष्टगतिको नृपः। अष्टकर्मा दिवं याति राजा शक्राभिपूजितः ॥' तत्रादानं करादीनां, विसर्गो भृत्यादिभ्यो धनदानं, प्रैषोऽमात्यादीनां दृष्टादृष्टानुष्ठानेषु, निषेधो दृष्टादृष्टविरुद्धक्रियासु, अर्थवचनं कार्यसंदेहे राजाज्ञयैव तत्र नियमात्, व्यवहारस्येक्षणं प्रजानामृणादिविप्रतिपत्तौ, दण्डः पराजितानां शास्त्रोक्तधनग्रहणम, शुद्धिः पापे कर्मणि जाते तत्र प्रायश्चित्तसंपादनम्। मेधातिथिस्तु—'अकृतारम्भकृतानुष्ठानमनुष्ठितविशेषणं कर्मफलसंग्रहस्तथा सामदामदण्डभेदा एतदष्टविधं कर्म। अथवा वणिक्पथः, उदकसेतुबन्धनं, दुर्गकरणम्, कृतस्य संस्कारनिर्णयः, हस्तिबन्धनं, खनिखननं, शून्यनिवेशनं, दारुवनच्छेदनं च' इत्याह। तथा कापटिकोदास्थितगृहपतिवैदेहिकतापसव्यञ्जनात्मकं पञ्चविधं चारवर्गं पञ्चवर्गशब्दवाच्यं तत्त्वतश्चिन्तयेत्। तत्र परमर्मज्ञः प्रगल्भच्छात्रः कपटव्यवहारित्वात्कापटिकस्तं वृत्त्यर्थिनमर्थमानाभ्यामुपगृह्य रहसि राजा ब्रूयात्—'यस्य दुर्वृत्तं पश्यसि तत्तदानीमेव मयि वक्तव्यम्' इति प्रव्रज्यारूढपतित उदास्थितः तं लोकेषु विदितदोषं प्रज्ञाशौचयुक्तं वृत्त्यर्थिनं कृत्वा रहसि राजा पूर्ववद्ब्रूयात्। बहूत्पत्तिकमठे स्थापयेत्प्रचुरसस्योत्पत्तिकं भूम्यन्तरं च तद्वृत्त्यर्थमुपकल्पयेत्। स चान्येषामपि प्रव्रजितानां राजा चारकर्मकारिणां ग्रासाच्छादनादिकं दद्यात्। कर्षकः क्षीणवृत्तिः प्रज्ञाशौचयुक्तो गृहपतिव्यञ्जनस्तमपि पूर्ववदुक्त्वा स्वभूमौ कृषिकर्म कारयेत्। वाणिजकः क्षीणवृत्तिः वैदेहिकव्यञ्जनस्तं पूर्ववदुक्त्वा धनमानाभ्यामात्मीकृत्य वाणिज्यं कारयेत्। मुण्डो जटिलो वा वृत्तिकामस्तापसव्यञ्जनः सोऽपि क्वचिदाश्रमे वसन्बहुमुण्डजटिलान्तरे कपटशिष्यगणवृतो गुप्तराजोपकल्पितवृत्तिस्तापस्यं कुर्यात्। मासद्विमासान्तरितं प्रकाशं बदरादिमुष्टिमश्नीयात्, रहसि च राजोपकल्पितमाहारं कल्पयेत्। शिष्याश्चास्यातीतानागतज्ञानादिकं ख्यापयेयुः। ते च बहुलोकवेष्टनमासाद्य सर्वेषां विश्वसनीयत्वात्सर्वकार्यमकार्यं च पृच्छन्ति, अन्यस्य कुक्रियादिकं कथयन्त्येवंरूपं पञ्चवर्गं यथावच्चिन्तयेत्। एवं पञ्चवर्गं प्रकल्प्य तेनैव पञ्चवर्गद्वारेण प्रतिराजस्यात्मीयानां चामात्यादीनां चानुरागवि-

समौ ज्ञात्वा तदनुरूपं चिन्तयेत्। वक्ष्यमाणस्य राजमण्डलस्य प्रचारं 'कः संध्यर्थी को वा विग्रहार्थी' इत्यादिकं चिन्तयेत्। तं च ज्ञात्वा तदनुगुणं चिन्तयेत् ॥१५४॥

अ०—कृत्स्नं अष्टविधं कर्म च पञ्चवर्गं च अनुरागापरागौ च मण्डलस्य प्रचारं च तत्त्वतः (चिन्तयेत्) ॥१५४॥

(राजा) सभी आठ प्रकार के कर्मों का, पाच प्रकार के गुप्तचरों के समूह का, प्रजा के आसक्त तथा विरक्त होने का और अन्य राज्यों के राजाओं के क्रिया-कलाप का यथार्थ चिन्तन करे ॥१५४॥

१. **अष्टविधं कर्मः**—आठ प्रकार के कर्म।

कुल्लू०—कर आदि का ग्रहण, राजकर्मचारी आदि व्यक्तियों में धन का उत्सर्ग, मन्त्री आदि को अनुकूल कार्य के लिए भेजना, इसी प्रकार इन्हें प्रतिकूल कार्यों के निवारणार्थ भेजना, कार्य के संदेह होने पर अर्थात् मतान्तर होने पर राजाज्ञा के नियम के अनुसार कार्य करना, प्रजाओं के ऋण संबंधित मामलों को देखना, शास्त्र के अनुसार युद्ध में पराजित व्यक्ति से धन ग्रहण करना तथा पापियों से पाप का प्रायश्चित करवाना।

मेधातिथि—(क) जो कार्य शुरू नहीं किए गए उन्हें शुरू करना, चल रहे कार्यों को पुरा करना, पूरे हुए कार्यों को विशिष्ट करना, कर्म के फलों का संग्रह, साम, भेद, दाम तथा दण्ड।

(ख) व्यापार के लिए मार्ग बनवाना, पुल बनवाना, दुर्ग बनवाना अथवा उसको संस्कृत करना, हाथी पकड़ना, खानें खोदना, निर्जन स्थान में प्रवेश करना तथा लकड़ी के लिए वन कटवाना।

"अकृतारम्भः, कृतानुष्ठानम्, अनुष्ठितविशेषणम्, कर्मफलसंग्रहः तथा साम-भेददामदण्डमेतदष्टविधं कर्म। अथवा वणिक्पथः उदकसेतुबन्धनं दुर्गकरणं कृतस्य वा तत्संकार नियमः हस्तिबन्धनं खनिखननं शून्यनिवेशनं दारुवनछेदनं चेति।"

पञ्चवर्गम्—पाँच प्रकार के गुप्तचरों का गण।

कुल्लू०—(i) **कापटिक**—मर्म को जानने वाले, कपट व्यवहार करने के कारण कापटिक उस बुद्धिमान् छात्र को जो नौकरी चाहता हो राजा सत्कार पूर्वक धन देकर एकान्त में कहे कि जिसका भी दुराचार तुम देखो वह मुझे तुरत कहो।

(ii) **उदास्थित**—इसी प्रकार पतित संन्यासी को भी धन देकर तथा उसके चेलों को भी उसके द्वारा धन दिलवाकर गुप्तचरी का कार्य करावे।

(iii) **गृहपति**—किसी जीविकाहीन शुद्ध व्यक्ति को किसान बनाकर इसी प्रकार गुप्तचरी कराए।

(iv) **व्यापारी**—इसी प्रकार के व्यक्ति को व्यापारी बनाए तथा धन एवं

मान सम्मान देकर अपने पक्ष में रखते हुए गुप्तचरी कराए।

(v) तापस—संन्यासी के समान ही कपटी तपस्वी के द्वारा जिसे लोग सिद्ध समझते हों तथा अपनी मन की बात उसके सामने रखकर समस्या का समाधान करने के लिए कहते हों, गुप्तचरी का कार्य कराए।

मध्यमस्य प्रचारं च विजिगीषोश्च चेष्टितम्।
उदासीनप्रचारं च शत्रोश्चैव प्रयत्नतः ॥१५५॥

मध्यमस्येति ॥ अरिविजिगीषोर्यो भूम्यनन्तरः संहतयोरनुग्रहसमर्थो निग्रहे चासंहतयोः समर्थः स मध्यमस्तस्य प्रचारं चिन्तयेत्। तथा प्रज्ञोत्साहगुणप्रकृतिसमर्थो विजिगीषुस्तस्य चेष्टितं चिन्तयेत्। तथा विजिगीषुमध्यमानां संहतानामनुग्रहे समर्थो निग्रहे चासंहतानां समर्थ उदासीनस्तस्य प्रचारं चिन्तयेत्। शत्रोश्च त्रिविधस्यापि सहजस्याकृत्रिमस्य भूम्यनन्तरस्य च पूर्वापेक्षया प्रयत्नतः प्रचारं चिन्तयेत् ॥१५५॥

अ०—मध्यमस्य प्रचारं च उदासीनप्रचारं च शत्रोः च एव विजगीषोः च चेष्टितं प्रयत्नतः (चिन्तयेत्) ॥१५५॥

मध्यम, उदासीन, शत्रु तथा विजय के इच्छुक राजाओं के क्रिया-कलापों तथा चेष्टाओं की यत्नपूर्वक चिन्ता करे ॥१५५॥

१. मध्यमस्य—मध्यम राजा वह है जिसकी सीमा जीत के इच्छुक राजा से लगती है।

२. उदासीनस्य—वह राजा जो मध्यम तथा विजगीषु के साथ संधि करने पर अनुग्रह तथा विरोध होने पर निग्रह करने में समर्थ हो।

३. विजिगीषोः—उत्साह और शक्ति के कारण सम्पूर्ण पृथ्वी को जीतने की इच्छा रखने वाला राजा।

एताः प्रकृतयो मूलं मण्डलस्य समासतः।
अष्टौ चान्याः समाख्याता द्वादशैव तु ताः स्मृताः ॥१५६॥

एता इत्यादि ॥ एता मध्यमाद्याश्चतस्रः प्रकृतयः संक्षेपेण मण्डलस्य मूलं अपरासामभिधास्यमानप्रकृतीनाममात्यादीनां मूलमित्युच्यते। अन्याश्चाष्टौ समाख्याताः। तद्यथा—अग्रतोऽरिभूमीनां मित्रं, अरिमित्रं, मित्रमित्रं अरिमित्रमित्रं चेत्येवं चतस्रः, प्रकृतयो भवन्ति। पश्चाच्च पार्ष्णिग्राहः, आक्रन्दः, पार्ष्णिग्राहासारः, आक्रन्दासार इति चतस्रः एवमष्टौ प्रकृतयो भवन्ति। पूर्वोक्ताभिश्च मध्यमारिविजिगीषूदासीनशत्रुरूपाभिः मूलप्रकृतिभिः सह द्वादशैताः प्रकृतयः स्मृताः ॥१५६॥

अ०—मण्डलस्य एताः समासतः तु मूलं प्रकृतयः अष्टौ च अन्याः समाख्याताः ताः द्वादश एव स्मृताः ॥१५६॥

राज्य मण्डल की संक्षेप में तो ये (मध्यम, विजगीषु, उदासीन तथा शत्रु) मूल प्रकृतियां हैं, आठ गौण प्रकृतियां भी बताई गई हैं, (इस प्रकार) ये बारह कही गई हैं ॥१५६॥

पूर्व श्लोक में चार मध्यम, विजगीषु, उदासीन तथा शत्रु मूल प्रकृतियां कही हैं। यहां आठ दूसरी प्रकृतियाँ भी कही गई हैं। वे इस प्रकार हैं—

१. मित्र २. शत्रु का मित्र ३. मित्र का मित्र ४. शत्रु के मित्र का मित्र ५. **पार्ष्णिग्राह**—विजय के इच्छुक राजा के शत्रु पर आक्रमण करने के लिए जाने पर विजगीषु राजा के देश पर आक्रमण करने वाला राजा पार्ष्णिग्राह कहलाता है। ६. **आक्रन्द**—पार्ष्णिग्राह राजा को रोकने वाला राजा आक्रन्द कहलाता है। ७. **पार्ष्णिग्राहासार**—पार्ष्णिग्राह राजा की सेना। ८. **आक्रान्दासार**—आक्रन्द राजा की सेना।

अमात्यराष्ट्रदुर्गार्थदण्डाख्याः पञ्च चापराः।
प्रत्येकं कथिता ह्येताः संक्षेपेण द्विसप्ततिः ॥१५७॥

अमात्येति ॥ आसां मूलप्रकृतीनां चतसृणामष्टानां शाखाप्रकृतीनामुक्तानामेकैकस्याः प्रकृतेरमात्यदेशदुर्गकोशदण्डाख्याः पञ्च द्रव्यप्रकृतयो भवन्ति। एताश्च पञ्च द्वादशानां प्रत्येकं भवन्त्यो द्वादशगुणजाताः षष्टिरेव द्रव्यप्रकृतयो भवन्ति। तथा मूलप्रकृतिभिश्चतसृभिः शाखाप्रकृतिभिश्चाष्टाभिः सह संक्षेपतो द्विसप्ततिप्रकृतयो मुनिभिः कथिताः ॥१५७॥

अ०—अमात्यराष्ट्रदुर्गार्थदण्डाख्याः अपरा, च पञ्च, एताः हि प्रत्येकं कथिता, संक्षेपेण द्विसप्तति ॥१५७॥

अमात्य, राष्ट्र, दुर्ग, अर्थ तथा दण्ड नामक पाँच दूसरी (प्रकृतियां) हैं, ये पांच (पूर्वोक्त बारह प्रकृतियों में) प्रत्येक की कही गई हैं, अतः कुल बहत्तर प्रकृतियां हुईं ॥१५७॥

पूर्व श्लोक में कही गई बारह प्रकृतियों में से प्रत्येक की उपरोक्त पांच प्रकृतियां हैं। उदाहरणार्थ—१. विजगीषु राजा का अमात्य २. विजगीषु राजा का राष्ट्र ३. विजगीषु राजा का दुर्ग ४. विजगीषु राजा का अर्थ ५. विजगीषु राजा का दण्ड। इसी प्रकार शेष ग्यारह की भी ये पांच-पांच प्रकृतियां होंगी। बारह की पांच-पांच प्रकृतियां साठ होंगी तथा स्वतंत्र स्वयं १५६ श्लोक में कही गई बारह प्रकृतियां भी जोड़कर कुल ७२ होंगी।

अनन्तरमरिं विद्यादरिसेविनमेव च।
अरेरनन्तरं मित्रमुदासीनं तयोः परम् ॥१५८॥

अनन्तरमिति ॥ विजिगीषोर्नृपस्यानन्तरितं चतुर्दिशमप्यरिप्रकृतिं विजानीयात्। तथा तत्सेविनमप्यरिमेव विद्यात्। अरेरनन्तरं विजिगीषोर्नृपस्यैकान्तरं मित्रप्रकृतिं विद्यात् । तयोश्चारिमित्रयोः परं विजिगीषोरुदासीनप्रकृतिं विद्यात्। आसामेव प्रकृतीनामग्रपश्चाद्भावभेदेन व्यपदेशभेदः। तत्राग्रवर्तिनोऽरिव्यपदेश एव। पश्चाद्वर्तिनस्त्वरित्वेऽपि पार्ष्णिग्राहव्यपदेशः ॥१५८॥

अ०—अनन्तरं अरिसेविनं च अरिं विद्यात्, अरेः अनन्तरं मित्रं तयोः परम् उदासीनम् ॥१५८॥

अपनी सीमा से लगे तथा शत्रु का अनुसरण करने वाले (राजा) को शत्रु समझे तथा शत्रु की सीमा से लगी सीमा वाले राजा को मित्र तथा उनसे अतिरिक्त को उदासीन समझे ॥१५८॥

तान्सर्वानभिसंदध्यात्सामादिभिरुपक्रमैः ।
व्यस्तैश्चैव समस्तैश्च पौरुषेण नयेन च ॥१५९॥

तानिति ॥ तान्सर्वान्नृपतीन् सामदामभेददण्डैरुपायैर्यथासंभवं व्यस्तैः समस्तैर्वशीकुर्यात् । अथवा पौरुषेण दण्डेनैव केवलेन नयेन साम्नैव वा केवलेनात्मवशान्कुर्यात्। तथा चोक्तम् (७।१०९) 'सामदण्डौ प्रशंसन्ति नित्यं राष्ट्राभिवृद्धये' ॥१५९॥

अ०—व्यस्तैः च समस्तैः च सामादिभिः उपक्रमैः पौरुषेण च नयेन तान् सर्वान् अभिसंदध्यात् ॥१५९॥

अलग-अलग तथा एक साथ सामादि उपायों से, बल से तथा नीति से उन सब (प्रकृतियों) को वश में करे ॥१५९॥

संधिं च विग्रहं चैव यानमासनमेव च ।
द्वैधीभावं संश्रयं च षड्गुणांश्चिन्तयेत्सदा ॥१६०॥

संधिमिति ॥ तत्रोभयानुग्रहार्थं हस्त्यश्वरथहिरण्यादिनिबन्धनेनावाभ्यामन्योन्यस्योपकर्तव्यमिति नियमबन्धः संधिः, वैरं विग्रहाचरणाद्याधिक्येन, यानं शत्रुं प्रतिगमनम्, उपेक्षणं आसनं, स्वार्थसिद्धये बलस्य द्विधाकरणं द्वैधीभावः, शत्रुपीडितस्य प्रबलतरराजान्तराश्रयणं संश्रयः, एतान्गुणानुपकारकान्सर्वदा चिन्तयेत्। यद्गुणाश्रयणे सत्यात्मन उपचयः परस्यापचयस्तं गुणमाश्रयेत् ॥१६०॥

अ०—संधिं च विग्रहं च यानम् आसनम् एव च द्वैधीभावं संश्रयं च षड्गुणान् सदा चिन्तयेत् ॥१६०॥

(राजा) संधि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव तथा संश्रय इन छह गुणों का सदा ध्यान रखे ॥१६०॥

संधिम्—समझौता, विग्रहम्—वैर, यानम्—शत्रु को ओर युद्ध के लिए जाना,

व्यसनम्—उपेक्षा, द्वैधीभावम्—अपने लाभ के लिए सेना को दो भागों में बांटना तथा संश्रयम्—अपने से अधिक बलशाली राजा का आश्रय लेना।

आसनं चैव यानं च संधिं विग्रहमेव च।
कार्यं वीक्ष्य प्रयुञ्जीत द्वैधं संश्रयमेव च ॥१६१॥

आसनमिति ॥ संध्यादिगुणानां नैरपेक्ष्येणानुष्ठानमनन्तरमुक्तं तदुचितानुष्ठानार्थोऽयमारम्भः। आत्मसमृद्धिपरहान्यादिकं कार्यं वीक्ष्य संधायासनं विगृह्य वा यानं द्वैधीभावसंश्रये च केनचित्संधिं केनचिद्विग्रहमित्यादिकमनुतिष्ठेत् ॥१६१॥

अ०—कार्यं वीक्ष्य (राजा) आसनं च एव यानं च संधिं च विग्रहं च द्वैधं च संश्रयं च प्रयुञ्जीत ॥१६१॥

कार्य के अनुरोध से राजा आसन, यान, संधि, विग्रह द्वैध तथा संश्रय का क्रियान्वयन करे ॥१६१॥

संधिं तु द्विविधं विद्याद्राजा विग्रहमेव च।
उभे यानासने चैव द्विविधः संश्रयः स्मृतः ॥१६२॥

संधिं त्विति ॥ संध्यादीन्षडेव गुणान्द्विप्रकाराञ्जानीयादित्यविवक्षार्थम् ॥१६२॥

अ०—राजा संधिं विग्रहं च उभे यानासने एव च द्विविधं विद्यात् संश्रयः चैव द्विविधः स्मृतः ॥१६२॥

राजा संधि, विग्रह तथा यान एवं आसन दोनों को दो प्रकार का समझे तथा संश्रय को भी दो प्रकार का कहा गया है ॥१६२॥

समानयानकर्मा च विपरीतस्तथैव च।
तदा त्वायतिसंयुक्तः सन्धिर्ज्ञेयो द्विलक्षणः ॥१६३॥

समानेति ॥ तात्कालिकफललाभार्थमुत्तरकालीनफललाभार्थं वा यत्र राजान्तरेण सहान्यं प्रति यानादि कर्म क्रियते स समानयानकर्मा संधिः। यः पुनः 'त्वमत्र याहि, अहमत्र यास्यामि' इति सांप्रतिकोत्तरकालीनफलार्थितयैव क्रियते सोऽसमानयानकर्मेत्येवं द्विप्रकारः संधिर्ज्ञातव्यः ॥१६३॥

अ०—तदा तु आयतिसंयुक्तः संधिः द्विलक्षणः ज्ञेयः समानयानकर्मा तथा च विपरीतः एव ॥१६३॥

वर्तमान तथा भविष्य में लाभकारी संधि समानयानकर्मा तथा असमानयान कर्मा के भेद से दो प्रकार की है ॥१६३॥

एक साथ एक ओर से शत्रु पर आक्रमण करने के लिए समझौता समानकर्मा तथा शत्रु पर पृथक्-पृथक् आक्रमण करने के लिए समझौता असमानकर्मा संधि कहलाती है।

स्वयंकृतश्च कार्यार्थमकाले काल एव वा।
मित्रस्य चैवापकृते द्विविधो विग्रहः स्मृतः ॥१६४॥

स्वयमित्यादि ॥ शत्रुजयरूपप्रयोजनार्थं शत्रोर्व्यसनादिकमाकलय्य वक्ष्यमाण-मार्गशीर्षादिकालादन्यदा यथोक्तकाल एव वा स्वयंकृत इत्येको विग्रहः। अपकृत-मपकारः, मित्रस्यापकारे राजान्तरेण कृते मित्ररक्षणार्थमपरो विग्रह इत्येवं द्विविधो विग्रहः। गोविन्दराजेन तु 'मित्रेण चैवापकृते' इति पठितं व्याख्यातं च। यः परस्य शत्रुः स विजिगीषोर्मित्रं तेनापकारे क्रियमाणे व्यसनिनि शत्राविति। 'तस्माल्लिखितपाठार्थौ वृद्धैर्गोविन्दराजतः । मेधातिथिप्रभृतिभिर्लिखितौ स्वीकृतौ मया' ॥१६४॥

अ०—विग्रहः द्विविधः स्मृतः कार्यार्थम् अकाले काले एव वा स्वयंकृतः मित्रस्य एव च अपकृते ॥१६४॥

अनुकूल अथवा प्रतिकूल परिस्थितियों में स्वयं के लिए किया विग्रह तथा मित्र के लिए किया गया विग्रह (इस प्रकार) दो प्रकार का माना गया है ॥१६४॥

एकाकिनश्चात्ययिके कार्ये प्राप्ते यदृच्छया।
संहतस्य च मित्रेण द्विविधं यानमुच्यते ॥१६५॥

एकाकिन इत्यादि ॥ आत्ययिकं कार्यं शत्रोर्व्यसनादिकं तस्मिन्नकस्माज्जाते शक्तस्यैकाकिनो यानम्, अशक्तस्य मित्रसहितस्येत्येवं यानं द्विविधमभिधीयते ॥१६५॥

अ०—एकाकिनः आत्ययिके कार्ये प्राप्ते च यदृच्छया मित्रेण संहतस्य च यानं द्विविधम् उच्यते ॥१३५॥

शत्रु की प्रतिकूल परिस्थितियों में स्वयं समर्थ होने पर अकेले तथा मित्र को साथ लेकर किया गया आक्रमण के लिए प्रस्थान दो प्रकार का यान हुआ ॥१६५॥

अकेल आक्रमण के लिए किया प्रस्थान एक प्रकार का तथा मित्र के साथ मिलकर किया गया प्रस्थान दूसरे प्रकार का यान है।

क्षीणस्य चैव क्रमशो दैवात्पूर्वकृतेन वा।
मित्रस्य चानुरोधेन द्विविधं स्मृतमासनम् ॥१६६॥

क्षीणस्येति ॥ प्राग्जन्मार्जितेन दुष्कृतेन ऐहिकेन वा पूर्वकृतेन क्रमशः क्षीण-हस्त्यश्वकोशादिकस्य समृद्धस्यापि वा मित्रानुरोधेन तत्कार्यरक्षार्थमित्येवं द्विविध-मासनं मुनिभिः स्मृतम् ॥१६६॥

अ०—क्षीणस्य च क्रमशः एव दैवात् पूर्वकृतेन वा मित्रस्य च अनुरोधेन आसनं द्विविधम् स्मृतम् ॥१६६॥

दुर्भाग्य से अथवा भूतकाल में किए कर्मों के कारण (सेना, कोष आदि से)

क्षीण होने पर शत्रु के प्रति उपेक्षा तथा मित्र राजा के अनुरोध से की गई उपेक्षा ही दो प्रकार के आसन कहे गए हैं ॥१६६॥

बलस्य स्वामिनश्चैव स्थितिः कार्यार्थसिद्धये ।
द्विविधं कीर्त्यते द्वैधं षाड्गुण्यगुणवेदिभिः ॥१६७॥

बलस्येति ॥ साध्यस्वप्रयोजनसिद्ध्यर्थं बलस्य हस्त्यश्वादेः सेनाधिपत्याधिष्ठितस्य एकत्र शत्रुनृपोपद्रववारणार्थमवस्थानमन्यत्र दुर्गदेशे राज्ञः कतिचिद्बलाधिष्ठितस्यावस्थानमेवं संध्यादिगुणषट्कोपकारज्ञैः द्विविधं द्वैधं कीर्त्यते ॥१६७॥

अ०—षाड्गुण्यगुणवेदिभिः द्वैधं द्विविधं कीर्त्यते कार्यार्थसिद्ध्ये बलस्य स्वामिनः च स्थितिः एव ॥१६७॥

षड्गुणों के जानकार व्यक्तियों के द्वारा द्वैधीभाव दो प्रकार का कहा गया है, प्रयोजन की सिद्धि के लिए सेना का एक भाग सेनापति के अधीन करना तथा दूसरा भाग अपने नियंत्रण में रखना ॥१६७॥

अर्थसंपादनार्थं च पीड्यमानस्य शत्रुभिः ।
साधुषु व्यपदेशार्थं द्विविधः संश्रयः स्मृतः ॥१६८॥

अर्थेति ॥ शत्रुभिः पीड्यमानस्य शत्रुपीडानिवृत्त्याख्यप्रयोजनसिद्ध्यर्थम् असत्यामपि वा तत्काले पीडायां भाविशत्रुपीडनशङ्कया अमुकमयं महाबलं नृपतिमाश्रित इति सर्वत्र व्यपदेशोत्पादनार्थं बलवन्तमुपाश्रयणम्, एवं द्विविधः संश्रयः स्मृतः ॥१६८॥

अ०—शत्रुभिः पीड्यमानस्य अर्थसंपादनार्थं व्यपदेशार्थं च साधुषु, द्विविधः संश्रयः स्मृतः ॥१६८॥

शत्रुओं के द्वारा पीड़ित होने पर कष्ट निवारणार्थ तथा भविष्य में ऐसी आशंका को निर्मूल करने के लिए सज्जन राजाओं का आश्रय भी दो प्रकार का कहा गया है ॥१६८॥

वर्तमान में शत्रु का उपद्रव होने पर संश्रय प्रथम प्रकार का तथा भविष्य की दृष्टि से संश्रय द्वितीय प्रकार का है।

यदावगच्छेदायत्यामाधिक्यं ध्रुवमात्मनः ।
तदात्वे चाल्पिकां पीडां तदा संधिं समाश्रयेत् ॥१६९॥

यदेत्यादि ॥ यदा युद्धोत्तरकाले निश्चितमात्मन आधिक्यं जानीयात्तदात्वे तत्कालेऽल्पधनाद्युपक्षयः तदा त्वल्पमङ्गीकृत्यापि संधिमाश्रयेत् ॥१६९॥

अ०—यदा आयत्याम् आत्मनः ध्रुवम् आधिक्यं तदात्वे च अल्पिकां पीडाम् अवगच्छेत् तदा संधिं समाश्रयेत् ॥१६९॥

जब राजा को भविष्य में अपने निश्चित लाभ तथा वर्तमान काल में मामूली हानि दिखाई पड़े तो उसे संधि का ठीक प्रकार से आश्रय लेना चाहिए। ॥१६९॥

वर्तमान काल में संधि करने से हानि होती हो किन्तु भविष्य में यदि निश्चित रूप से लाभ होता हो तो राजा को संधि कर लेनी चाहिए।

यदा प्रहृष्टा मन्येत सर्वास्तु प्रकृतीर्भृशम्।
अत्युच्छ्रितं तथात्मानं तदा कुर्वीत विग्रहम् ॥१७०॥

यदेति ॥ यदामात्यादिकाः सर्वाः प्रकृतीर्दानसंमानाद्यैरतीव तुष्टा मन्येत आत्मानं च हस्त्यश्वकोशादिशक्तित्रयेणोपचितं तदा विग्रहमाश्रयेत् ॥१७०॥

अ०—यदा तु सर्वाः प्रकृतीः भृशं प्रहृष्टा मन्येत तथा आत्मानम् अत्युच्छ्रितं तदा विग्रहं कुर्वीत ॥१७०॥

जिस समय राजा सारी प्रजा को प्रसन्न तथा स्वयं को अत्यन्त बलशाली समझे तब (शत्रु से) युद्ध करे ॥१७०॥

यदा मन्येत भावेन हृष्टं पुष्टं बलं स्वकम्।
परस्य विपरीतं च तदा यायाद्रिपुं प्रति ॥१७१॥

यदेत्यादि ॥ यदात्मीयममात्यादिसैन्यं हर्षयुक्तं धनादिना पुष्टं तत्त्वतो जानीयात्, शत्रोश्चामात्यादिबलं विपरीतं तदा तं लक्षीकृत्य यायात् ॥१७१॥

अ०—यदा स्वकं बलं भावेन हृष्टं पुष्टं मन्येत परस्य च विपरीतं तदा रिपुं प्रति यायात् ॥१७१॥

जब अपनी सेना को मन से प्रसन्न एवं पर्याप्त तथा शत्रु की सेना को इसके विपरीत जाने तभी शत्रु की ओर युद्ध के लिए प्रयाण करे ॥१७१॥

यदा तु स्यात्परिक्षीणो वाहनेन बलेन च।
तदासीत प्रयत्नेन शनकैः सांत्वयन्नरीन् ॥१७२॥

यदेत्यादि ॥ यदा पुनर्वाहनेन हस्त्यश्वादिना बलेन चामात्यादिविपत्त्यादिपरिक्षीणो भवेत्तदा सामोपदानप्रदानादिना शत्रून्प्रसान्त्वयन् प्रयत्नेनासनमाश्रयेत् ॥१७२॥

अ०—यदा तु वाहनेन बलेन च परिक्षीणः स्यात् प्रयत्नेन अरीन् सांत्वयन् शनकैः आसीत् ॥१७२॥

जब (राजा) रथादि वाहन तथा सेना से कमजोर हो जाए, तब प्रयत्न पूर्वक शत्रुओं को सांत्वना देते हुए क्रमशः शान्त हो जाए ॥१७२॥

मन्येतारिं यदा राजा सर्वथा बलवत्तरम्।
तदा द्विधा बलं कृत्वा साधयेत्कार्यमात्मनः ॥१७३॥

मन्येतेति ।। यदा राजा सर्वप्रकारेण बलीयांसमशक्यसंधानं च शत्रुं बुध्येत्तदा कतिचिद्बलसहितः स्वयं दुर्गमाश्रयेत् । बलैकदेशेन च शत्रुविरोधमाचरेत् । एवं द्विधा बलं कृत्वा मित्रसंग्रहादिकं स्वकार्यं साधयेत् ।।१७३।।

अ०—यदा राजा अरिं सर्वथा बलवत्तरं मन्येत तदा बलं द्विधा कृत्वा आत्मनः कार्यं साधयेत् ।।१७३।।

जब राजा शत्रु को हर दृष्टि से बलवान् पाए तब सेना को दो भागों में विभक्त करके अपने प्रयोजन की सिद्धि करे ।।१७३।।

सेना को दो भागों में बांटना ही द्वैधीभाव है । एक भाग युद्ध भूमि में लड़ता है तथा शेष किले के भीतर रहकर राजा आदि की रक्षा करता है । बलवान् राजा के आक्रमण करने पर मित्र राजाओं की सहायता प्राप्त करना ही प्रयोजन की सिद्धि है क्योंकि इसी से अपनी तथा प्रजा की रक्षा की जा सकती है ।

यदा परबलानां तु गमनीयतमो भवेत् ।
तदा तु संश्रयेत्क्षिप्रं धार्मिकं बलिनं नृपम् ।।१७४।।

यदेति ।। यदा तु सैन्यानाममात्यादिप्रकृतिदोषादिनातिशयेन ग्राह्यो भवति बलं द्वैधं विधाय दुर्गाश्रयणेनापि नात्मरक्षाक्षमस्तदा शीघ्रमेव धार्मिकं बलवन्तं च राजानमाश्रयेत् ।।१७४।।

अ०—यदा तु परबलानां गमनीयतमः भवेत् तदा तु क्षिप्रं धार्मिकं बलिनं नृपं संश्रयेत् ।।१७४।।

जब शत्रु से हारने योग्य (राजा की) परिस्थित हो जाए तब (उसे) शीघ्र ही किसी धार्मिक तथा बलवान् राजा की शरण ले लेनी चाहिए ।।१७४।।

जिस राजा का आश्रय लिया जाना हो वह धार्मिक अर्थात् शरण में आए हुए की रक्षा करने के स्वभाव वाला तथा बली अर्थात् ऐसा करने के सामर्थ्य से युक्त होना चाहिए ।

कीदृशं तं बलवन्तमित्याह—

निग्रहं प्रकृतीनां च कुर्याद्योऽरिबलस्य च ।
उपसेवेत तं नित्यं सर्वयत्नैर्गुरुं यथा ।।१७५।।

निग्रहमिति ।। यासां दोषेणासौ गमनीयतमो जातस्तासां प्रकृतीनां, यस्माच्च शत्रुबलादस्य भयमुत्पन्नं तयोर्द्वयोरपि यः संश्रितो निग्रहक्षमस्तं नृपं सर्वयत्नैर्गुरुमिव नित्यं सेवेत ।। १७५।।

अ०—प्रकृतिनाम् अरिबलस्य च निग्रहं कुर्यात् तं सर्वयत्नैः यथा गुरुं नित्यं उपसेवेत ।।१७५।।

जो आश्रयदाता राजा (विद्रोही) प्रकृतियों का तथा शत्रु की सेना का निराकरण

करे, उसकी सभी प्रकार के प्रयासों से गुरु के समान सदा परिचर्या करनी चाहिए ॥१७५॥

यदि तत्रापि संपश्येद्दोषं संश्रयकारितम् ।
सुयुद्धमेव तत्रापि निर्विशङ्कः समाचरेत् ॥१७६॥

यदीति ॥ अगतिका हि गतिः संश्रयो नाम । तत्रापि यदि संश्रयकृतं दोषं पश्येत्तदा निःसंशयो भूत्वा शोभनमेव युद्धं तस्मिन्काले समाचरेत् । दुर्बलेनापि बलवतो जयदर्शनान्निहतस्य च स्वर्गप्राप्तेः ॥१७६॥

अ०—यदि तत्र अपि संश्रयकारितं दोषं संपश्येत् निर्विशङ्कः तत्रापि सुयुद्धम् एव समाचरेत् ॥ १७६॥

यदि वहां (आश्रयदाता राजा के यहाँ) भी संश्रयकृत दोष देखे तो बिना किसी हिचकिचाहट के वहां भी धर्मयुद्ध का आचरण करे।१७६॥

संश्रयकारितं दोषम्—संश्रयकृत दोष ।

मेधातिथि—सहायता देकर पश्चाताप करना, पहले किए उपकार को आग में झोंक देना, तिरस्कार पूर्वक दोषों को गिनवाना, नजर अन्दाज करना तथा विपरीत कथन करना, ये आश्रय देने वाले राजा के दोष हैं :—

"दत्त्वाऽनुतापः कृतपूर्वहोमं विमानना दुश्चरितानुकीर्तनम् ।
वृष्टेरदानं प्रतिकूलभाषगमेताश्च बुष्टस्य भवन्ति वृत्तयः ॥"

सर्वोपायैस्तथा कुर्यान्नीतिज्ञः पृथिवीपतिः ।
यथाऽस्याभ्यधिका न स्युर्मित्रोदासीनशत्रवः ॥१७७॥

सर्वोपायैरिति ॥ सर्वैः सामादिभिरुपायैर्नीतिज्ञो राजा तथा यतेत, यथास्य मित्रोदासीनशत्रवोऽभ्यधिका न भवन्ति । आधिक्ये हि तेषामसौ ग्राह्यो भवति । धनलोभेन मित्रस्यापि शात्रवापत्तेः ॥१७७॥

अ०—नीतिज्ञः पृथिवीपतिः सर्वोपायैः तथा कुर्यात् यथा अस्य अभ्यधिकाः मित्रोदासीनशत्रवः न स्युः ॥१७७॥

राजनीति को जानने वाला राजा सभी उपायों (साम, दाम, दण्ड, भेद) के द्वारा ऐसा व्यवहार करे जिससे इसके अधिक मित्र, उदासीन तथा शत्रु न बनें ॥१७७॥

आयतिं सर्वकार्याणां तदात्वं च विचारयेत् ।
अतीतानां च सर्वेषां गुणदोषौ च तत्त्वतः ॥१७८॥

आयतिमिति ॥ सर्वेषां कार्याणामल्पानां बहूनामप्यायतिमुत्तरकालं गुणं दोषं विचारयेत् । वर्तमानकालं च शीघ्रसंपादनाद्यर्थं विचारयेत् । अतीतानां च सर्वे-

कार्याणां गुणदोषौ किमेषां कृतं विघटितं किं वावशिष्टमित्येवं यथावद्विचारयेत् ॥१७८॥

अ०—सर्वकार्याणाम् आयतिं तदात्वं च सर्वेषां च अतीतानां गुणदोषौ तत्त्वतः विचारयेत् ॥१७८॥

राजा सभी कार्यों के भविष्य, वर्तमान तथा भूत के गुण तथा दोषों का पूरी तरह से विचार करे ॥१७८॥

यस्मात्,—

आयत्यां गुणदोषज्ञस्तदात्वे क्षिप्रनिश्चयः ।
अतीते कार्यशेषज्ञः शत्रुभिर्नाभिभूयते ॥१७९॥

आयत्यामिति ॥ यः कार्याणामागामिकगुणदोषज्ञः स गुणवत्कार्यमारभते दोषवत्परित्यजति । यश्च वर्तमानकाले क्षिप्रमेवावधार्य कार्यं करोति अतीते कार्ये यः कार्यशेषज्ञः स तत्कार्यसमाप्तौ तत्फलं लभते । यस्मादेवंविधकालत्रयसावधानत्वान्न कदाचिच्छत्रुभिरभिभूयते ॥१७९॥

(ऐसा राजा) जो भविष्य के गुण दोषों को जानता है, वर्तमान में शीघ्र निर्णय करता है तथा भूतकाल के बचे हुए कार्यों को जानता है, वह शत्रुओं के द्वारा पराजित नहीं होता ॥१७९॥

किं बहुना,—

यथैनं नाभिसंदध्युर्मित्रोदासीनशत्रवः ।
तथा सर्वं संविदध्यादेष सामासिको नयः ॥१८०॥

यथेत्यानि ॥ यथैनं राजानं मित्रादय उक्ता न बाधेरंस्तथा सर्वसंविधानं कुर्यात् । इत्येष सांक्षेपिको नयो नीतिः ॥१८०॥

अ०—यथा मित्रोदासीनशत्रवः एनं न अभिसंदध्युः तथा सर्वं संविदध्यात् एषः सामासिकः नयः ॥१८०॥

जिससे मित्र, उदासीन तथा शत्रु इस (राजा) को बाधा न पहुंचा सकें इस प्रकार सब कार्य करे, यही कुलमिलाकर राजनीति है ॥१८०॥

यदा तु यानमातिष्ठेदरिराष्ट्रं प्रति प्रभुः ।
तदानेन विधानेन यायादरिपुरं शनैः ॥१८१॥

यदेति ॥ यदा पुनः शक्तः सन् शत्रुराष्ट्रं प्रति यात्रामारभेत्तदाऽनेन वक्ष्यमाणप्रकारेण शत्रुदेशमत्वरमाणो गच्छेत् ॥१८१॥

अ०—यदा तु प्रभुः अरिराष्ट्रं प्रति यानम् आतिष्ठेत् तदा अनेन विधानेन शनैः अरिपुरं यायात् ॥१८१॥

राजा जब शत्रुराज्य के प्रति युद्ध के लिए प्रयाण करे तब इस प्रकार से धीरे से शत्रुराज्य की ओर जाए ॥१८१॥

मार्गशीर्षे शुभे मासि यायाद्यात्रां महीपतिः ।
फाल्गुनं वाथ चैत्रं वा मासौ प्रति यथाबलम् ॥१८२॥

मार्गशीर्ष इति ॥ यश्चतुरङ्गबलोपेतो राजा करिरथागमनविलम्बेन विलम्बितप्रयाणस्तथा हैमन्तिकसस्यबहुलं च परराष्ट्रं जिगमिषुः समुपगमनाय शोभने मार्गशीर्षे मासि यात्रां कुर्यात् । यः पुनश्चबलप्रायो नृपतिः शीघ्रगतिर्वा सर्वसस्यबहुलं परराष्ट्रं यियासुः स फाल्गुने चैत्रे वा मासि स्वबलयोग्यकालानतिक्रमेण यायात् । अत एव मन्वर्थव्यापारपरं संक्षेपेण याज्ञवल्क्यवचनम् 'यदा सस्यगुणोपेतं परराष्ट्रं तदा व्रजेत्' ॥१८२॥

अ०—महीपतिः शुभे मार्गशीर्षे मासि फाल्गुनं वा अथ चैत्रं वा मासौ यथाबलं यात्रां प्रति यायात् ॥१८२॥

राजा शुभ मार्गशीर्ष मास में अथवा फाल्गुन या चैत्र मास में उचित सेना के साथ आक्रमण के लिए यात्रा करे ॥१८२॥

कुल्लू० ने याज्ञ० का उदाहरण देते हुए प्रयाण का उचित समय वह बताया है जिस समय शत्रु राज्य में पर्याप्त धन-धान्य हो ।

अन्येष्वपि तु कालेषु यदा पश्येद् ध्रुवं जयम् ।
तदा यायाद्विगृह्यैव व्यसने चोत्थिते रिपोः ॥१८३॥

अन्येष्विति ॥ उक्तकालव्यतिरिक्तेषु यदात्मनो निश्चितं जयमवगच्छेत्तदा स्वबलयोग्यकाले ग्रीष्मादावपि हस्त्यश्वादिबलं प्रायो विगृह्यैव यात्रां कुर्यात् । शत्रोश्चामात्यादिप्रकृतिगोचरदण्डपारुष्यादिव्यसने जातेऽरिपक्षभूतायां तत्प्रकृतावप्युक्तकालादन्यत्रापि यायात् ॥१८३॥

अ०—अन्येषु कालेषु अपि यदा तु जयं ध्रुवं पश्येत् रिपोः उत्थिते व्यसने तदा विगृह्य एव यायात् ॥१८३॥

दूसरे समय में भी जब अपनी जीत निश्चित दिखाई दे तथा शत्रु में कोई दोष (अमात्य आदि का असंतुष्ट होना या राजा द्वारा दण्ड का अनुचित प्रयोग करना) उत्पन्न हो जाए, तब विग्रह करके युद्ध के लिए प्रयाण करे ॥१८३॥

कृत्वा विधानं मूले तु यात्रिकं च यथाविधि ।
उपगृह्यास्पदं चैव चारान्सम्यग्विधाय च ॥१८४॥
संशोध्य त्रिविधं मार्गं षड्विधं च बलं स्वकम् ।
सांपरायिककल्पेन यायादरिपुरं शनैः ॥१८५॥

कृत्वेत्यादि ॥ संशोध्येति ॥ मूले स्वीयदुर्गराष्ट्ररूपे पार्ष्णिग्राहसंविधानं प्रधान-पुरुषाधिष्ठितरक्षार्थं सैन्यैकदेशस्थापनरूपं प्रतिविधानं कृत्वा यात्रोपयोगि च वाहनायुधवर्मयात्राविधानं यथाशास्त्रं कृत्वा परमण्डलगतस्य च येनास्यावस्थानं भवति तदुपगृह्य तदीयान्भृत्यपक्षानात्मसात्कृत्वा चारांश्च कापटिकादीन्शत्रुदेशवार्ताज्ञापनार्थं प्रस्थाप्य सम्यक्तया जाङ्गलानूपाटविकविषयभेदेन त्रिविधं पन्थानं मार्गं शोधिततरुगुल्मादिच्छेदनिम्नोन्नतादिसमीकरणादिना संशोध्य तथा हस्त्यश्वरथपदातिसेनाकर्मकरात्मकं षड्विधं बलं यथोपयोगमाहारौषधसत्कारादिना संशोध्य सांपरायिकं संपरायः संग्रामस्तदुपचितविधिना शत्रुदेशमत्वरया गच्छेत् ॥१८४-१८५॥

अ०—मूले विधानं कृत्वा, यात्रिकं तु यथाविधि (कृत्वा), आस्पदम् एव च उपगृह्य चारान् च सम्यग्विधाय, त्रिविधं मार्गं षडविधं च स्वकं बलं संशोध्य सांपरायिककल्पेन शनैः आरिपुरं यायात् ॥१८४,१८५॥

दुर्ग में (रक्षा,भोजनादि की) व्यवस्था करके, नीति-शास्त्र में कही गई विधि के अनुसार प्रयाण की व्यवस्था (पर्याप्त मात्रा में हाथी, घोड़े तथा अस्त्र-शस्त्र की व्यवस्था) करके शत्रु के राज्य के पास उचित स्थान (शिविर के लिए उपयुक्त स्थल) का ग्रहण करके, गुप्तचरों को उचित स्थलों पर नियुक्त करके तीन प्रकार के मार्गों (जाङ्गल, आनूप तथा आटविक) को बाधाओं से रहित करके तथा अपनी छह प्रकार की सेना को संशोधित करके संग्रामोचित विधि से शत्रुराज्य की ओर युद्ध के लिए धीरे-धीरे जाए ॥१८४,१८५॥

षड्विधं बलम्—छह प्रकार की सेना।

कुल्लू०—हाथी, घोड़ा, रथ, पैदल, सेना तथा कर्मकार।

मेधातिथि—उपरोक्त छह प्रकार के अतिरिक्त दूसरा मत भी दिखाया है—मूल, भृत्य, श्रेणी, मित्र, अमित्र तथा आटविक सेना—"मौलभृत्य श्रेणिमित्रामित्राट विकगलभेदात्"।

शत्रुसेविनि मित्रे च गूढे युक्ततरो भवेत्।
गतप्रत्यागते चैव स हि कष्टतरो रिपुः ॥१८६॥

शत्रुसेविनीति ॥ यन्मित्रं गूढं कृत्वा शत्रुं सेवते, यश्च भृत्यादिः पूर्वं विरागाद्गतः पश्चादागतस्तयोः सावधानो भवेत्। यस्मात्तावतिशयेन दुर्निग्रहो रिपुः ॥१८६॥

अ०—शत्रुसेविनि गूढे च मित्रे गतप्रत्यागते च एव युक्ततरः भवेत् स हि कष्टतरः रिपुः ॥१८६॥

(राजा) शत्रु की सेवा करने वाले गुप्त मित्र में तथा शत्रु पक्ष में जाकर वापस अपने पक्ष में आए व्यक्ति के प्रति भी अधिक सचेत रहे क्योंकि उपरोक्त व्यक्ति

शत्रु से भी अधिक दुःखदायी होता है ॥१८६॥

दण्डव्यूहेन तन्मार्गं यायात्तु शकटेन वा ।
वराहमकराभ्यां वा सूच्या वा गरुडेन वा ॥१८७॥

दण्डेति ॥ दण्डाकृतिव्यूहरचनादिः दण्डव्यूहः । एवं शकटादिव्यूहा अपि । तत्राग्रे बलाध्यक्षो मध्ये राजा पश्चात्सेनापतिः पार्श्वयोर्हस्तिनस्तत्समीपे घाटकास्ततः पदातय इत्येवं कृतरचनो दीर्घः सर्वतः समविन्यासो दण्डव्यूहस्तेन तद्यातव्यं मार्गं सर्वतो भये सति यायात् । सूच्याकाराग्रः पश्चात्पृथुलः शकटव्यूहस्तेन पृष्ठतो भये सति गच्छेत् । सूक्ष्ममुखपश्चाद्भागः पृथुमध्यो वराहव्यूहः । एष एव पृथुतरमध्यो गरुडव्यूहस्ताभ्यां पार्श्वयोर्भये सति व्रजेत् । वराहविपर्ययेण मकरव्यूहस्तेनाग्रे पश्चाच्चोभयत्र भये सति गच्छेत् । पिपीलिकापाङ्क्तेरिवाग्रपश्चाद्भावेन संहतरूपतया यत्र तत्र सैनिकावस्थानं स शीघ्रप्रवीरपुरुषमुखः सूचीव्यूहस्तेनाग्रतो भये सति यायात् ॥१८७॥

अ०—(राजा) तन्मार्गं दण्डव्यूहेन शकटेन वा वराहमकराभ्यां वा सूच्या वा गरुडेन वा यायात् ॥१८७॥

राजा युद्ध के लिए प्रस्थान करने वाले मार्ग पर दण्डव्यूह अथवा शकट व्यूह अथवा वराह और मकर व्यूह या सूची अथवा गरुड व्यूह से जाए ॥१८७॥

१. दण्ड व्यूह—आगे बलाध्यक्ष (दस सेनापतियों का अधिकारी), बीच में राजा तथा पीछे सेनापति, दोनों तरफ हाथी एवं उनके साथ घोड़े तथा उनके पास पैदल सेना इस प्रकार लम्बी सेना की व्यवस्था दण्ड व्यूह है । इस प्रकार की व्यवस्था होने पर की जाए ।

२. शकटव्यूह—आगे से सूक्ष्म तथा पीछे से स्थूल होती हुई सेना की रचना शकट व्यूह कहलाती है ।

३. वराहव्यूह—आगे तथा पीछे से पतली तथा बीच से स्थूल आकार वाली सेना की रचना वराह व्यूह है ।

४. मकरव्यूह—वराहव्यूह से उल्टी व्यूह रचना मकरव्यूह है । इसमें आगे तथा पीछे स्थूल तथा बीच में सूक्ष्म आकार बनता है ।

५. सूचीव्यूह—चीटियों के समान एक दूसरे के पीछे चलते हुए सैनिकों से बनी पंक्ति वाली व्यूह रचना ।

३. गरुडव्यूह—वराहव्यूह के समान किन्तु मध्य भाग में (वराह व्यूह से) अधिक स्थूल व्यूह रचना ।

यतश्च भयमाशङ्केत्ततो विस्तारयेद्बलम् ।
पद्मेन चैव व्यूहेन निविशेत सदा स्वयम् ॥१८८॥

यत इत्यादि ॥ यस्या दिशः शत्रुभयमाशङ्केत तस्यामेव बलं विस्तारयेत्, समविस्तृतपरिमण्डलो मध्योपविष्टजिगीषुः पद्मव्यूहस्तेन पुरान्निर्गत्य सर्वदा कपटनिवेशनं कुर्यात् ॥१८८॥

अ० —यतः च भयम् आशङ्केत् ततः बलं विस्तारयेत् । स्वयं च सदा पद्मेन व्यूहेन निविशेत् ॥१८८॥

राजा जिस ओर से भय की आशङ्का हो उसी ओर सेना को विस्तृत करे तथा स्वयं सदा पद्मव्यूह से अर्थात् अपने चारों ओर सैनिकों के कई घेरों से घिर कर (शत्रु राज्य में) प्रवेश करे ॥१८८॥

सेनापतिबलाध्यक्षौ सर्वदिक्षु निवेशयेत् ।
यतश्च भयमाशङ्केत्प्राचीं तां कल्पयेद्दिशम् ॥१८९॥

सेनापतीति ॥ हस्त्यश्वरथपदात्यात्मकस्याङ्गदशकस्यैकः पतिः कार्यः । स च पत्तिक उच्यते । पत्तिकदशकस्यैकः पतिः सेनापतिरुच्यते । तद्दशकस्यैकः सेनानायकः, स एव च बलाध्यक्षः । सेनापतिबलाध्यक्षौ समस्तासु दिक्षु संघर्षयुद्धार्थं नियोजयेत् । यस्याश्च दिशो यदा भयमाशङ्केत् तदा तामग्रे दिशं कुर्यात् ॥१८९॥

(राजा) सेनापतियों तथा बलाध्यक्ष को सब ओर (युद्ध में) घुमाए तथा जहां से भय की आशङ्का हो उसे पूर्व दिशा माने अर्थात् उस ओर को आक्रमण करने की दिशा माने ॥१८९॥

गुल्मांश्च स्थापयेदाप्तान्कृतसंज्ञान्समंततः ।
स्थाने युद्धे च कुशलानभीरूनविकारिणः ॥१९०॥

गुल्मानित्यादि ॥ गुल्मान्सैन्यैकदेशानाप्तपुरुषाधिष्ठितान् स्थानापसरणयुद्धार्थं कृतभेरीपटहशङ्खानिसंकेतान् अवस्थानयुद्धयोः प्रवीणान्निर्भयानव्यभिचारिणः सेनापतिबलाध्यक्षान्दूरतः सर्वदिक्षु पारक्यप्रवेशवारणाय शत्रुचेष्टापरिज्ञानाय च नियोजयेत् ॥१९०॥

अ०—स्थाने युद्धे च आप्तान् कृतसंज्ञान् कुशलान् अभीरून् अविकारिणः गुल्मान् च संमततः संस्थापयेत् ॥१९०॥

(राजा) युद्ध करने तथा न करने की सूचना (शङ्ख, भेरी आदि के द्वारा) देने वाले, चतुर, निडर, काम तथा क्रोध से उत्पन्न दोषों से रहित सैनिकों को चारों ओर नियुक्त करे ॥१९०॥

संहतान्योधयेदल्पान्कामं विस्तारयेद्बहून् ।
सूच्या वज्रेण चैवैतान्व्यूहेन व्यूह्य योधयेत् ॥१९१॥

संहतानिति ॥ अल्पान्योधान्संहतान्कृत्वा बहून्पुनर्यथेष्टं विस्तारयेत् । सूच्या

पूर्वोक्तया वज्राख्येन व्यूहेन त्रिधा व्यवस्थितवलेन रचयित्वा योधान्योधयेत्॥१९१॥

अ०—अल्पान संहतान् योधयेत् बहून् कामं विस्तारयेत् सूच्यां वज्रेण च व्यूहेन एव एतान् व्यूह्य योधयेत् ॥१९१॥

यदि थोड़े सैनिक हों तो संगठित होकर युद्ध कराए, बहुत हों तो इच्छानुसार उनको फैलाए तथा सूची और वज्र व्यूह के द्वारा इन्हें व्यवस्थित करा कर युद्ध कराए ॥१९०॥

स्यन्दनाश्वैः समे युध्येदनूपे नौद्विपैस्तथा ।
वृक्षगुल्मावृते चापैरसिचर्मायुधैः स्थले ॥१९२॥

स्यन्दनाश्वैरित्यादि ॥ समभूभागे रथाश्वेन युध्येत । तत्र तेन युद्धसामर्थ्यात्तदानुगतोदके नौकाहस्तिभिः । तरुगुल्मावृते धन्विभिर्गर्तकण्टकपाषाणादिरहितस्थले खड्गफलककुन्ताद्यैरायुधैर्युध्येत ॥१९२॥

अ०—समे स्यन्दनाश्वैः अनूपे नौद्विपैः तथा वृक्षगुल्मावृते चापैः तथा स्थले असिचर्मायुधैः युद्ध्येत् ॥१९२॥

समतल भूमि में रथ तथा घोड़ों के द्वारा, जल युक्त स्थल में हाथी तथा नौकाओं द्वारा, वृक्ष तथा झाड़ी से ढके हुए स्थल में धनुषों से तथा धूल, पत्थर कांटों, पेड़ आदि से रहित स्थल में तलवार तथा ढाल से युद्ध करे ॥१९२॥

भूमि की विभिन्नता होने पर सवारी तथा अस्त्र-शस्त्र के प्रयोग में भी भिन्नता होनी चाहिए ।

कुरुक्षेत्रांश्च मत्स्यांश्च पञ्चालाञ्शूरसेनजान् ।
दीर्घांल्लघूंश्चैव नरानग्रानीकेषु योजयेत् ॥१९३॥

कुरुक्षेत्रानिति ॥ कुरुक्षेत्रभवान्, मत्स्यान्विराटदेशनिवासिनः, पञ्चालान्कान्यकुब्जाहिच्छत्रोद्भवान्, शूरसेनजान्माथुरान् प्रायेण पृथुशरीरशौर्याहंकारयोगात्सेनाग्रे योजयेत् । तथान्यदेशोद्भवानपि दीर्घलघुदेहान्मनुष्यान्युद्धाभिमानिनः सेनाग्र एव योजयेत् ॥१९३॥

कुरुक्षेत्र, मत्स्य, पाञ्चाल तथा मथुरा देश में उत्पन्न लम्बे तथा छोटे कद के व्यक्तियों को सेना के अगले भाग में नियुक्त करे ॥१९३॥

प्रहर्षयेद्बलं व्यूह्य तांश्च सम्यक्परीक्षयेत् ।
चेष्टाश्चैव विजानीयादरीन्योधयतामपि ॥१९४॥

प्रहर्षयेदित्यादि ॥ बलं रचयित्वा जये धर्मलाभः अभिमुखहतस्य स्वर्गप्राप्तिः पलायने तु प्रभुदुरितग्रहणं नरकगमनं चेत्याद्यर्थवादैर्युद्धार्थं प्रोत्साहयेत् । तांश्च योधान्केनाभिप्रायेण हृष्यन्ति कुप्यन्ति वेति परीक्षयेत् । तथा योधानामरिभिः सह युध्यमानानामपि सोपध्यनुपधिचेष्टा बुध्येत ॥१९४॥

अ०—व्यूह्य बलं प्रहर्षयेत् तान् च सम्यक् परीक्षयेत् अपि च अरीन् योधयतां चेष्टाः एव विजानीयात् ॥१९४॥

राजा व्यूह की रचना के बाद सेना को प्रोत्साहित करे तथा उनकी ठीक प्रकार से परीक्षा ले और शत्रुओं से युद्ध करते हुए सैनिकों के हाव-भाव को भी जाने ॥१९४॥

उपरुध्यारिमासीत राष्ट्रं चास्योपपीडयेत् ।
दूषयेच्चास्य सततं यवसान्नोदकेन्धनम् ॥१९५॥

उपेत्यादि ॥ दुर्गाश्रयमदुर्गाश्रयं वा रिपुमयुध्यमानमप्यावेष्ट्यासीत अस्य च देशमुत्सादयेत् । तथा घासान्नोदकेन्धनानि सर्वदाऽस्यापद्रव्यसंमिश्रणादिना दूषयेत् ॥१९५॥

अ०—अरिम् उपरुध्य आसीत, अस्य राष्ट्रं च उपपीडयेत्, अस्य यवसान्नोदकेन्धनं च सततं दूषयेत् ॥१९५॥

(राजा) शत्रु को घेर के स्थित रहे तथा इसके राष्ट्र को पीड़ित करता रहे तथा इसके (पशुओं के) चारे, अन्न, जल एवं ईंधन को लगातार दूषित करता रहे ॥१९५॥

भिन्द्याच्चैव तडागानि प्राकारपरिखास्तथा ।
समवस्कन्दयेच्चैनं रात्रौ वित्रासयेत्तथा ॥१९६॥

भिन्द्यादित्यादि ॥ शत्रोरुपजीव्यानि तडागादीनि नाशयेत्, तथा दुर्गप्राकारादीन्भिन्द्यात्, तत्परिखाश्च भेदेन पूरणादिना निरुदकाः कुर्यात् । एवं च शत्रूनशङ्कितमेव सम्यगवस्कन्दयेत्तथा शक्ति गृह्णीयात् । रात्रौ च ढक्काकाहलिकादिशब्देन वित्रासयेत् ॥१९६॥

अ०—(शत्रोः) तडागानि तथा च प्राकारपरिखाः भिन्द्यात् एव, एनं समवस्कन्दयेत् तथा च रात्रौ वित्रासयेत् ॥१९६॥

राजा शत्रु के तालाव (जल प्राप्ति के स्रोत) और दुर्ग की दीवार को नष्ट कर दे, खाई को भरवा दे एवं रात्री के समय शत्रु को डरा दे ॥१९६॥

तदानीं च—

उपजप्यानुपजपेद्बुध्येतैव च तत्कृतम् ।
युक्ते च दैवे युध्येत जयप्रेप्सुरपेतभीः ॥१९७॥

उपेत्यादि ॥ उपजापार्हान् रिपुवंश्यान् राज्यार्थिनः क्षुब्धानमात्यादींश्च भेदयेत् । उपजपेनात्मीयकृतां च तेषां चेष्टां जानीयात् । शुभग्रहदशादिना शुभफलयुक्ते दैवेऽवगते निर्भयो जयेप्सुर्युध्येत ॥१९७॥

अ०—जयप्रेप्सुः अपेतभीः उपजप्य अनुजपेत्, तत्कृतम् एव च बुध्येत, युक्ते च दैवे युध्येत् ॥१९७॥

विजय को पाने का इच्छुक निडर (राजा) शत्रु पक्ष के फूट डालने योग्य (मंत्री, सेनापति आदि) में भेद उत्पन्न कर दे तथा उस शत्रु द्वारा किए ऐसे कार्यों को जाने तथा अनुकूल मुहूर्त में युद्ध करे ॥१९७॥

साम्ना दानेन भेदेन समस्तैरथवा पृथक् ।
विजेतुं प्रयतेतारीन्न युद्धेन कदाचन ॥१९८॥

साम्नेत्यादि ॥ प्रीत्यादरदर्शनहितकथनाद्यात्मकेन साम्ना हस्त्यश्वरथहिरण्यादीनां च दानेन तत्प्रकृतीनां तदनुयायिनां च राज्यार्थिनां भेदेन । एतैः समस्तैर्व्यस्तैर्वा यथासामर्थ्यमरीञ्जेतुं यत्नं कुर्यान्न पुनः कदाचिद्युद्धेन ॥१९८॥

अ०—साम्ना दानेन भेदेन समस्तैः अथवा पृथक् अरीन् विजेतुं प्रयतेत कदाचन युद्धेन न ॥१९८॥

साम, दान, भेद के एक साथ प्रयोग से अथवा इनके अलग-अलग प्रयोग से शत्रुओं को जीतने का प्रयत्न करे कभी भी युद्ध से नहीं ॥१९८॥

अनित्यो विजयो यस्माद्दृश्यते युध्यमानयोः ।
पराजयश्च संग्रामे तस्माद्युद्धं विवर्जयेत् ॥१९९॥

अनित्य इति ॥ यस्माद्युध्यमानयोर्बहुलबलत्वाद्यल्पबलत्वाद्यनपेक्षमेवानियमेन जयपराजयौ दृश्येते, तस्मात्सत्युपायान्तरे युद्धं परिहरेत् ॥१९९॥

अ०—यस्मात् संग्रामे युध्यमानयोः विजयः पराजयः च अनित्यः दृश्यते तस्मात् युद्धं विवर्जयेत् ॥१९९॥

क्योंकि युद्ध में दो युद्ध करने वालों की जीत तथा हार अनिश्चित रहती है अतः युद्ध न करे ॥१९९॥

त्रयाणामप्युपायानां पूर्वोक्तानामसंभवे ।
तथा युध्येत संपन्नो विजयेत रिपून्यथा ॥२००॥

त्रयाणामित्यादि ॥ पूर्वोक्तानां त्रयाणामपि सामादीनामुपायानामसाधकत्वे सति जयपराजयसंदेहेऽपि तथा प्रयत्नवान्सम्यग्युध्येत, यथा शत्रूञ्जयेत् । यतो जयेऽर्थलाभोऽभिमुखमरणे च स्वर्गप्राप्तिः । निःसंदिग्धे तु पराजये युद्धादपसरणं साधीयः । यथा वक्ष्यति 'आत्मनं सततं रक्षेत्' इति मेधातिथि-गोविन्दराजौ ॥२००॥

अ०—पूर्वोक्तानां त्रयाणाम् उपायानम् असम्भवे अपि सम्पन्नः यथा रिपून्

विजयेत तथा युध्येत् ॥२००॥

पूर्व कहे गए तीन (साम, दान, भेद) उपायों से (विजय) सम्भव न होने पर ही (राजा) साधनों से सम्पन्न होकर ऐसे युद्ध करे कि शत्रु को जीत ले ॥२००॥

जित्वा संपूजयेद्देवान्ब्राह्मणांश्चैव धार्मिकान् ।
प्रदद्यात्परिहारांश्च ख्यापयेदभयानि च ॥२०१॥

जित्वेति ॥ परराष्ट्रं जित्वा तत्र ये देवास्तान्धर्मप्रधानांश्च ब्राह्मणान्भूमिसुवर्णादिदानसंमानादिभिः पूजयेत् । जितद्रव्यैकदेशदानादिनैव चेदं पूजनम् । तदाह याज्ञवल्क्यः (या. स्मृ. आचार. १३।३२३)—'नातः परतरो धर्मो नृपाणां यद्रणार्जितम् । विप्रेभ्यो दीयते द्रव्यं प्रजाभ्यश्चाभयं सदा ॥' तथा देवब्राह्मणार्थं मयैतद्दत्तमिति तद्देशवासिनां परिहारान्दद्यात् । तथा स्वामिभक्त्या यैरस्माकमपकृतं तेषां मया क्षान्तमिदानीं निर्भयाः सन्तः सुखं स्वव्यापारमनुतिष्ठन्त्वित्यभयानि ख्यापयेत् ॥२०१॥

अ०—जित्वा देवान् धार्मिकान् ब्राह्मणान् एव च सम्पूजयेत् परिहारान् च प्रदद्यात् अभयानि च ख्यापयेत् ॥२०१॥

(शत्रु को) जीतकर देवताओं एवं धार्मिक ब्राह्मणों की पूजा करे तथा जीते हुए धन का दान करे तथा जीते हुए राज्य में अभय की घोषणा कर दे ॥२०१॥

अभयानि च ख्यापयेत्—अभय की घोषणा करे ।

कुल्लू०—"स्वामी भक्ति के कारण जिन लोगों ने हमारा अपकार किया उन्हें क्षमा किया जाता है तथा अब वे निडर होकर अपने-अपने कार्य करें।" इस प्रकार अभय की घोषणा करे।

सर्वेषां तु विदित्वैषां समासेन चिकीर्षितम् ।
स्थापयेत्तत्र तद्वंश्यं कुर्याच्च समयक्रियाम् ॥२०२॥

सर्वेषामिति ॥ एषां शत्रुनृपामात्यानां सर्वेषामेव संक्षेपतोऽभिप्रायं ज्ञात्वा तस्मिन्राष्ट्रे बलनिहतराजवंश्यमेव राज्येऽभिषेचयेत् । 'इदं कार्यं त्वया, इदं न' इति तस्य तदमात्यानां च नियमं कुर्यात् ॥२०२॥

अ०—एषां सर्वेषां तु समासेन चिकीर्षितं विदित्वा तत्र तद्वंश्यं स्थापयेत् समयक्रियां च कुर्यात् ॥२०२॥

इन सब (शत्रु, राजा की प्रजादि) की सार रूप में इच्छा को जानकार वह उनकी इच्छा के अनुकूल वंश के किसी राजा का अभिषेक कर दे तथा उससे अपनी शर्तें मनवा ले ॥२०२॥

प्रमाणानि च कुर्वीत तेषां धर्म्यान् यथोदितान् ।
रत्नैश्च पूजयेदेनं प्रधानपुरुषैः सह ॥२०३॥

प्रमाणानीति ॥ तेषां च परकीयानां धर्मादनपेतानाचारान्देशधर्मंतया शास्त्रेणाभ्युपेतान्प्रमाणीकुर्यात् । एनं चाभिषिक्तममात्यादिभिः सह रत्नादिदानेन पूजयेत् ॥२०३॥

अ०—अथ च तेषाम् उदितान् धर्म्यान् प्रमाणानि कुर्यात्, प्रधान पुरुषैः सह एनं च रत्नैः पूजयेत् ॥२०३॥

तदनन्तर (पूर्वोक्त श्लोक में कहे राजा को प्रतिष्ठित करने के वाद) प्रजाओं के देशाचार को (शास्त्र के द्वारा) प्रमाणित करे तथा मुख्य लोगों के साथ उस (स्थापित राजा) का रत्नों के द्वारा सम्मान करे ॥२०३॥

यस्मात्—

आदानमप्रियकरं दानं च प्रियकारकम् ।
अभीप्सितानामर्थानां काले युक्तं प्रशस्यते ॥२०४॥

आदानमिति ॥ यद्यप्यभिलषितानां द्रव्याणां ग्रहणमप्रियकरं दानं च प्रियकारकमित्युत्सर्गस्तथापि समयविशेषे दानमादानं च प्रशस्यते । तस्मात्तस्मिन्काल एवं पूजयेत् ॥२०४॥

अभिलपित वस्तु को ले लेना बुरा लगता है तथा उसका दान अच्छा लगता है किंतु उचित समय पर लेना तथा देना ये दोनों कार्य प्रशसनीय हैं ॥२०४॥

अतः उस समय नए राजा की रत्नादि से पूजा करना उचित है ।

सर्वं कर्मेदमायत्तं विधाने दैवमानुषे ।
तयोर्दैवमचिन्त्यं तु मानुषे विद्यते क्रिया ॥२०५॥

सर्वमित्यादि ॥ यत्किञ्चित्संपाद्यं तत्प्राग्जन्मार्जितसुकृतदुष्कृतरूपे कर्मणि दैवशब्दाभिधेये, तथेहलोकार्जितमानुषशब्दवाच्ये व्यापारे आयत्तं, तयोर्मध्ये दैवं चिन्तयितुमशक्यम् । मानुषे तु पर्यालोचनमस्ति । अतो मानुषद्वारेणैव कार्यसिद्धये यतितव्यम् ॥२०५॥

अ०—इदं सर्वं कर्म दैवमानुषे विधाने आयत्तम्, तयोः दैवं तु अचिन्त्यं मानुषे क्रिया विद्यते ॥२०५॥

ये सभी कार्य भाग्य तथा मनुष्य पर निर्भर करते हैं किन्तु इन दो में से भाग्य के बारे में नहीं सोचा जा सकता (अप्रत्यक्ष होने के कारण) और मनुष्य का प्रयत्न प्रत्यक्ष होता है ॥२०५॥

अतः मनुष्य को अपनी कार्य सिद्धि के लिए प्रयत्न करते रहना चाहिए ।

सह वापि व्रजेद्युक्तः संधिं कृत्वा प्रयत्नतः ।
मित्रं हिरण्यं भूमिं वा संपश्यंस्त्रिविधं फलम् ॥२०६॥

सहेत्यादि ।। एवमुपक्रमणीये न शत्रुणा युद्धं कार्यम् । यदि वा स एव मित्रं तेन च दत्तं हिरण्यं भूम्येकदेशो वार्पितं एतत्त्रयं यात्राफलम् । तेन सह संधिं कृत्वा यत्नवान्व्रजेत् ।।२०६।।

अ०—मित्रं हिरण्यं भूमिं वा त्रिविधं फल सपश्यन् प्रयत्नतः संधिं कृत्वा सह वा युक्तः व्रजेत् ।।२०६।।

(पूर्वोक्त प्रकार से युद्ध करे) अथवा मित्रता, सुवर्ण तथा भूमि की (प्राप्ति की) अपेक्षा से जो कि युद्ध के परिणाम हैं शत्रु के साथ यत्नपूर्वक संधि करे तथा अपने राज्य की ओर वापस चला जाए ।।२०६।।

युद्ध से प्राप्त होने वाला ऐश्वर्य यदि शत्रु राजा वैसे ही समर्पित कर रहा हो तो उसकी मित्रता तथा उसके द्वारा दिए जाने वाले उपहारों को दृष्टि में रखते हुए सन्धि कर लेनी चाहिए ।

पार्ष्णिग्राहं च संप्रेक्ष्य तथाक्रन्दं च मण्डले ।
मित्रादथाप्यमित्राद्वा यात्राफलमवाप्नुयात् ।।२०७।।

पार्ष्णिग्राहमित्यादि ।। विजिगीषोररिं प्रति निर्यातस्य यः पृष्ठवर्ती नृपतिर्देशाक्रमणाद्याचरति स पार्ष्णिग्राहस्तस्य तथा कुर्वतो यो नियामकस्तस्यानन्तरो नृपतिः स आक्रन्दस्तावपेक्ष्य यातव्यम् । मित्रीभूतादमित्राद्वा यात्राफलं गृह्णीयात् । तावनपेक्ष्य गृह्णन्कदाचित्तत्कृतेन दोषेण गृह्यते ।।२०७।।

अ०—मण्डले पार्ष्णिग्राहं तथा आक्रन्दं च संप्रेक्ष्य (यातव्यम्) मित्रात् अथ अमित्रात् अपि वा यात्राफलम् अवाप्नुयात् ।।२०७।।

(राजा) अपने राज्य मण्डल में पार्ष्णिग्राह (युद्ध पर जाने के बाद पीछे से आक्रमण करने वाले शत्रु राजा) तथा आक्रन्द (पार्ष्णिग्राह को रोकने वाले राजा) को ठीक प्रकार से देखते हुए युद्ध पर जाए तथा मित्र (संधि किए हुए शत्रु राजा) अथवा अमित्र (हारे हुए राजा) से यात्रा का फल (सुवर्ण एवं भूमि) अवश्य प्राप्त करे ।।२०७।।

हिरण्यभूमिसंप्राप्त्या पार्थिवो न तथैधते ।
यथा मित्रं ध्रुवं लब्ध्वा कृशमप्यायतिक्षमम् ।।२०८।।

हिरण्यभूमीति ।। सुवर्णभूमिलाभेन तथा राजा न वृद्धिमेति यथेदानीं कृशमप्यागामिकाले वृद्धियुतं स्थिरं मित्रं लब्ध्वा वर्धते ।।२०८।।

अ०—पार्थिवः हिरण्यभूमिसंप्राप्त्या तथा न एधते यथा कृशम् अपि आयतिक्षमं ध्रुवं मित्रं लब्ध्वा (वर्धते) ।।२०८।।

राजा सुवर्ण तथा भूमि को प्राप्त करके उस प्रकार वृद्धि को प्राप्त नहीं करता जिस प्रकार दुर्बल भी भविष्य में लाभदायक तथा निश्चित मित्र को प्राप्त

करके बढ़ता है ॥२०८॥

धर्मज्ञं च कृतज्ञं च तुष्टप्रकृतिमेव च ।
अनुरक्तं स्थिरारम्भं लघु मित्रं प्रशस्यते ॥२०९॥

धर्मज्ञमिति ॥ धर्मज्ञं, कृतोपकारस्य स्मर्तृं, सानुरागमनुरक्तं, स्थिरकार्यारम्भं, प्रीतिमत्प्रकृतिकं यत्, तन्मित्रमतिशयेन शस्यते ॥२०९॥

धर्म को जानने वाला, किए को मानने वाला, संतुष्ट प्रकृति वाला, अनुरागी, आरम्भ किए कार्य में स्थिरता वाला, क्षुद्र भी मित्र प्रशंसनीय है ॥२०९॥

प्राज्ञं कुलीनं शूरं च दक्षं दातारमेव च ।
कृतज्ञं धृतिमन्तं च कष्टमाहुररिं बुधाः ॥२१०॥

प्राज्ञमित्यादि ॥ विद्वांसं, महाकुलं, विक्रान्तं, चतुरं, दातारं, उपकारस्मर्तारं, सुखदुःखयोरेकरूपं शत्रुं दुरुच्छेदं पण्डिता वदन्ति । तेनैवंविधशत्रुणा सह संधातव्यम् ॥२१०॥

बुद्धिमान, आभिजात्य, शूर, चतुर, दानी, किए को मानने वाला, धैर्यवान, शत्रु को विद्वान् कष्टदायक मानते हैं ॥२१०॥

आर्यता पुरुषज्ञानं शौर्यं करुणवेदिता ।
स्थौललक्ष्यं च सततमुदासीनगुणोदयः ॥२११॥

आर्यतेत्यादि ॥ साधुत्वं, पुरुषविशेषज्ञता, विक्रान्तत्वं, कृपालुत्वं, सर्वदा च स्थौललक्ष्यं बहुप्रदत्वम् अत एव 'स्युर्वदान्यस्थूललक्ष्यदानशौण्डा बहुप्रदे' इत्याभिधानिकाः । स्थौललक्ष्यमर्थेऽसूक्ष्मदर्शित्वमिति तु मेधातिथि-गोविन्दराजयोः पदार्थकथनमनागमम् एतदुदासीनगुणसामग्र्यं, तस्मादेवंविधमुदासीनमाश्रित्योक्तलक्षणेनाप्यरिणा सह योद्धव्यम् ॥२११॥

सभ्यता, मनुष्य की पहचान, शौर्य, करुणा और सर्वदा उदारता ये सब उदासीन राजा के गुण हैं ॥२११॥

कुल्लू० के अनुसार इस श्लोक में कहे गए गुण वाले उदासीन राजा का आश्रय लेकर पूर्व श्लोक में कहे गए गुणवान् शत्रु से भी युद्ध करना चाहिए ।

क्षेम्यां सस्यप्रदां नित्यं पशुवृद्धिकरीमपि ।
परित्यजेन्नृपो भूमिमात्मार्थमविचारयन् ॥२१२॥

क्षेम्यामिति ॥ अनामयादिकल्याणक्षमामपि, नदीमातृकतया सर्वदा सर्वसस्यप्रदामपि, प्रचुरतृणादियोगात्पशुवृद्धिकरीमपि भूमिमात्मरक्षार्थमविलम्बमानो राजा निजरक्षाप्रकारान्तराभावात्परित्यजेत् ॥२१२॥

अ०—नृपः आत्मार्थम् अविचारयन् क्षेम्यां सस्यप्रदां पशुवृद्धिकरीं भूमिम् अपि नित्यं परित्यजेत् ॥२१२॥

राजा अपनी सुरक्षा के लिए बिना हिचकिचाहट के कल्याणकारी (जहां रोगादि विकार न होते हों) तथा पशुओं की वृद्धि करने वाली भूमि को भी छोड़ दे ॥२१२॥

यस्मात्सर्वविषयोऽयं धर्मः स्मर्यते—

आपदर्थं धनं रक्षेद्दारान्रक्षेद्धनैरपि ।
आत्मानं सततं रक्षेद्दारैरपि धनैरपि ॥२१३॥

आपदर्थमित्यादि ॥ आपन्निवारणार्थं धनं रक्षणीयम् । धनपरित्यागेनापि दारान्रक्षेत् ।आत्मानं पुनः सर्वदा दारधनपरित्यागेनापि रक्षेत् । 'सर्वत एवात्मानं गोपायीत' इति श्रुत्या शास्त्रीयमरणव्यतिरेकेणात्मरक्षेत्युपदेशात् ॥२१३॥

आपत्ति के समय के लिए धन बचाए, धन के व्यय से भी स्त्रियों की रक्षा करे तथा धन एवं स्त्रियों का त्याग करके भी स्वयं को बचाए ॥२१३॥

सह सर्वाः समुत्पन्नाः प्रसमीक्ष्यापदो भृशम् ।
संयुक्तांश्च वियुक्तांश्च सर्वोपायान्सृजेद्‌बुधः ॥२१४॥

सहेत्यादि ॥ कोशक्षयप्रकृतिकोपमित्रव्यसनादिकाः सर्वा आपदो युगपदतिशयेनोत्पन्ना ज्ञात्वा न मोहमुपेयात् । अपि तु व्यस्तान्समस्तान्वा सामादीनुपायान्शास्त्रज्ञः संप्रयुञ्जीत ॥२१४॥

अ०—सर्वाः आपदः भृशं सह समुत्पन्नाः प्रसमीक्ष्य बुधः संयुक्तान् च वियुक्तान् च सर्वोपायान् सृजेत् ॥२१४॥

सब आपत्तियों के एक साथ आ जाने पर ठीक प्रकार से समझ-बूझकर एक साथ तथा अलग-अलग सभी उपायों (साम, दाम, भेद, तथा दण्ड) को काम में लाए ॥२१४॥

उपेतारमुपेयं च सर्वोपायांश्च कृत्स्नशः ।
एतत्त्रयं समाश्रित्य प्रयतेतार्थसिद्धये ॥२१५॥

उपेतारमिति ॥ उपेतारमात्मानं, उपेयं प्राप्तव्यं, उपायाः सामादयः सर्वे, ते च परिपूर्णा एतत्त्रयमवलम्ब्य यथासामर्थ्यं प्रयोजनसिद्धये यत्नं कुर्यात् ॥२१५॥

अ०—उपेतारम् उपेयं च कृत्स्नशः च सर्वोपायान् एतत् त्रयं समाश्रित्य अर्थसिद्धये प्रयतेत ॥२१५॥

(राजा) स्वयं को, शत्रु को तथा पूर्णतः सभी उपायों को ठीक प्रकार से समझकर प्रयोजन की सिद्धि के लिए प्रयत्न करे ॥२१५॥

एवं सर्वमिदं राजा सह संमन्त्र्य मन्त्रिभिः ।
व्यायम्याप्लुत्य मध्याह्ने भोक्तुमन्तःपुरं विशेत् ॥२१६॥

एवमिति ॥ एवमुक्तप्रकारेण सर्वराजवृत्तं मन्त्रिभिः सह विचार्य अनन्तरमायुधाभ्यासादिना व्यायामं कृत्वा मध्याह्ने स्नानादिकं माध्याह्निकं कृत्यं निर्वाह्य भोक्तुमन्तःपुरं विशेत् ॥२१६॥

अ०—एवं राजा इदं सर्वं मन्त्रिभिः सह संमन्त्र्य व्यायम्य आप्लुत्य मध्याह्ने भोक्तुम् अन्तःपुरं विशेत् ॥२१६॥

इस प्रकार राजा इन सब (विचारणीय विषयों) को मन्त्रियों के साथ विचार कर, व्यायाम तथा स्नान करने के बाद रनिवास में भोजन के लिए जाए ॥२१६॥

तत्रात्मभूतैः कालज्ञैरहार्यैः परिचारकैः ।
सुपरीक्षितमन्नाद्यमद्यान्मन्त्रैर्विषापहैः ॥२१७॥

तत्रेति ॥ तत्रान्तःपुर आत्मतुल्यैर्भोजनकालवेदिभिरभेद्यैः सूपकारादिभिः कृतं सुष्ठु च परीक्षितं चकोरादिदर्शनेन । सविषमन्नं दृष्ट्वा चकोराक्षिणी रक्ते भवतः । विषापहैर्मन्त्रैर्जपितमन्नमद्यात् ॥२१७॥

अ०—तत्र आत्मभूतैः कालज्ञैः अहार्यैः परिचारकैः विषापहैः मन्त्रैः सुपरीक्षितम् अन्नाद्यम् अद्यात् ॥२१७॥

वहां (अन्तःपुर में) राजा आत्मीय, समय के अनुकूल भोजन के जानकार, शत्रुओं के द्वारा जिन्हें तोड़ा न जा सकता हो ऐसे सेवकों के द्वारा तथा विष के नाशक मन्त्रों से सुपरीक्षित अन्नादि का भक्षण करे ॥२१७॥

विषघ्नैरगदैश्चास्य सर्वद्रव्याणि योजयेत् ।
विषघ्नानि च रत्नानि नियतो धारयेत्सदा ॥२१८॥

विषघ्नैरिति ॥ विषनाशिभिरौषधैः सर्वाणि भोज्यद्रव्याणि योजयेत् । विषहरणानि च रत्नानि यत्नवान्सर्वदा धारयेत् ॥२१८॥

अ०—अस्य च सर्वद्रव्याणि विषघ्नैः अगदैः योजयेत् नियतः च विषघ्नानि रत्नानि सदा धारयेत् ॥२१८॥

राजा भोजन के सभी पदार्थों को विषनाशक औषधियों से युक्त करे तथा सदा ही यत्नपूर्वक विषनाशक रत्नों को धारण करे ॥२१८॥

परीक्षिताः स्त्रियश्चैनं व्यजनोदकधूपनैः ।
वेषाभरणसंशुद्धाः स्पृशेयुः सुसमाहिताः ॥२१९॥

परीक्षिता इति ॥ स्त्रियश्च गूढचारद्वारेण कृतपरीक्षा गुप्तायुधग्रहणविषलिप्ताभरणधारणशङ्कया निरूपितवेषाभरणा अनन्यमनसः चामरस्नानपानाद्युद-

कधूपनैरेनं राजानं परिचरेयुः ॥२१९॥

अ०—परीक्षिताः वेषाभरणसंशुद्धाः सुसमाहिताः च स्त्रियः व्यजनोदकधूपनैः एवं संस्पृशेयुः ॥२१९॥

जिनकी (स्वामिभक्ति-की) परीक्षा ली जा चुकी है, जो परिशुद्ध (विष तथा गुप्त हथियार आदि से रहित) वेषभूषा वाली हैं तथा जिनका ध्यान दूसरी ओर न हो ऐसी स्त्रियां चंवर डुलाने, जल देने तथा सुगंधित धूप के द्वारा इस राजा की सेवा करें ॥२१९॥

एवं प्रयत्नं कुर्वीत यानशय्यासनाशने ।
स्नाने प्रसाधने चैव सर्वालंकारकेषु च ॥२२०॥

एवमिति ॥ एवंविधपरीक्षादिप्रयत्नं वाहनशय्यासनाशनस्नानानुलेपनेषु सर्वेषु चालंकरणार्थेषु कुर्यात् ॥२२०॥

अ०—यानशय्यासनाशसने स्नाने प्रसाधने सर्वालङ्कारकेषु एव च एवं प्रयत्नं कुर्वीत् ॥२२०॥

राजा रथादि वाहन, बिस्तर, आसन, भोजन, स्नान, प्रसाधन तथा सभी आभूषणों में इसी प्रकार (अपनी सुरक्षा का) प्रयत्न करे ॥२२०॥

भुक्तवान्विहरेच्चैव स्त्रीभिरन्तःपुरे सह ।
विहृत्य तु यथाकालं पुनः कार्याणि चिन्तयेत् ॥२२१॥

भुक्तवानिति ॥ कृतभोजनश्च तत्रैवान्तःपुरे भार्याभिः सह क्रीडेत् । कालानतिक्रमेण च सप्तमे दिवसस्य भागे तत्र विहृत्याष्टमे भागे पुनः कार्याणि चिन्तयेत् ॥२२१॥

अ०—भुक्तवान् अन्तःपुरे एव स्त्रीभिः च सह विहरेत् विहृत्य पुनः तु यथाकालं कार्माणि चिन्तयेत् ॥२२१॥

रनिवास में भोजन करने के पश्चात् वहीं रानियों के साथ विहार करे तथा इसके बाद समयानुसार फिर सब (राज्य संबन्धी) कार्यों का चिंतन करे ॥२२१॥

अलंकृतश्च संपश्येदायुधीयं पुनर्जनम् ।
वाहनानि च सर्वाणि शस्त्राण्याभरणानि च ॥२२२॥

अलंकृत इति ॥ कृतालंकारः सन्नायुधजीविनं, वाहनानि हस्त्यश्वादीनि, सर्वाणि च शस्त्राणि खड्गादीनि, अलंकाररचनादीनि च पश्येत् ॥२२२॥

अ०—अलंकृतः च पुनः आयुधीयं जनं वाहनानि सर्वाणि शस्त्राणि च आभरणानि च संपश्येत् ॥२२२॥

अलंकारादि से सुशोभित होकर पुनः सशस्त्र सैनिकों, हस्ति-अश्वादि वाहनों और समस्त शस्त्रों एवं आभूषणों को भली-भांति देखे ॥२२२॥

संध्या चोपास्य शृणुयादन्तर्वेश्मनि शस्त्रभृत् ।
रहस्याख्यायिनां चैव प्रणिधीनां च चेष्टितम् ॥२२३॥
गत्वा कक्षान्तरं त्वन्यत्समनुज्ञाप्य तं जनम् ।
प्रविशेद्भोजनार्थं च स्त्रीवृतोऽन्तःपुरं पुनः ॥२२४॥

संध्यामिति ॥ गत्वेति ॥ ततः संध्योपासनं कृत्वा तस्मात्प्रदेशात्कक्षान्तरं विविक्तप्रकोष्ठावकाशमन्यद्गत्वा गृहाभ्यन्तरे धृतशस्त्रो रहस्याभिधायिनां चराणां स्वव्यापारं शृणुयात् । ततस्तं चरं संप्रेष्य परिचारिकास्त्रीवृतः पुनर्भोक्तुमन्तःपुरं विशेत् ॥२२३-२२४॥

अ०—संध्यां च उपास्य शास्त्रभृत् अन्तर्वेश्मनि एव रहस्याख्यायिनां च प्रणधीनां च चेष्टितं शृणुयात् । अन्यत् कक्षान्तरं गत्वा पुनः तु तं जनं समनुज्ञाप्य स्त्रीवृतः भोजनार्थम् अन्तःपुरं प्रविशेत् ॥२२३-२२४॥

सायंकालीन संध्या करके शस्त्र धारण किए हुए भीतरी कक्ष में ही गुप्तवार्ता बताने वाले गुप्तचरों के क्रियाकलापों को सुने, फिर दूसरे कक्ष में जाकर उस गुप्तचर को (आगे किए जाने वाले कार्यों का) निर्देश देकर स्त्रियों से घिरा हुआ भोजन के लिए अन्तःपुर में जाए ॥२२३-२२४॥

तत्र भुक्त्वा पुनः किंचित्तूर्यघोषैः प्रहर्षितः ।
संविशेत्तु यथाकालमुत्तिष्ठेच्च गतक्लमः ॥२२५॥

तत्रेत्यादि तत्रान्तःपुरे वादित्रशब्दैः श्रुतिसुखैः प्रहर्षितः पुनः किंचित् भुक्त्वा नातितृप्तः कालानतिक्रमेण गतार्धप्रहरायां रात्रौ स्वप्यात् । ततो रात्रेः पश्चिमयामे च विश्रान्तः सन्नुत्तिष्ठेत् ॥२२५॥

अ०—तत्र पुनः किञ्चित् भुक्त्वा तूर्यघोषैः प्रहर्षितः यथाकालं तु संविशेत् गतक्लमः च उत्तिष्ठेत् ॥२२५॥

अन्तःपुर में कुछ भोजन करके तूर्यघोष के द्वारा प्रसन्नचित्त होकर यथा समय सोए तथा थकावट मिटाकर (प्रातः) उठ जाए ॥२२५॥

एतद्विधानमातिष्ठेदरोगः पृथिवीपतिः ।
अस्वस्थः सर्वमेतत्तु भृत्येषु विनियोजयेत् ॥२२६॥

॥इति मानवे धर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायां सप्तमोऽध्यायः ॥

एतदिति ॥ एतद्यथोक्तप्रकारप्रजारक्षणादिकं नीरोगो राजा स्वयमनुतिष्ठेत् । अस्वस्थः पुनः सर्वमेतद्योग्यश्रेष्ठामात्येषु समर्पयेत् ॥२२६॥

॥इति श्रीकुल्लूकभट्टकृतायां मन्वर्थमुक्तावल्यां मनुवृत्तौ सप्तमोऽध्यायः ॥

अ०—अरोगः पृथिवीपतिः एतद् विधानम् आतिष्ठेत् अस्वस्थः तु एतत् सर्वं भृत्येषु विनियोजयेत् ॥२२६॥

स्वस्थ राजा इस प्रक्रिया को (प्रजारक्षणादि कथित कर्तव्यों को) स्वयं करे, किन्तु अस्वस्थ होने पर इन सब कार्यों को अमात्यादि कर्मचारियों पर छोड़ दे ॥२२६॥

॥ इति मनुस्मृतौ 'आरति' भाषाटीकायां सप्तमोऽध्यायः ॥

श्लोकानुक्रमणिका

अ

अकामस्य क्रिया काचित् २।४
अकारं चाप्युकारं च २।७६
अकृत्वा भैक्षचरणम् २।१८७
अग्नीन्धनं भैक्षचर्याम् २।१०८
अग्न्याधेयं पाकयज्ञान् २।१४३
अङ्गुष्ठमूलस्य तले २।५६
अज्ञो भवति वै बालः २।१५३
अत उर्ध्वं त्रयोऽप्येते २।३६
अतस्तु विपरीतस्य ७।३४
अद्यात्काकः ७।२१
अधर्मेण च यः प्राह २।१११
अध्यक्षान्विविधान् कुर्यात् ७।८१
अध्यापयामास पितॄन् २।१५१
अध्येषमाणस्त्वाचान्तः २।७०
अध्येषमाणं तु गुरुः २।७३
अध्येषमाणस्त्वा २।७०
अनन्तरमरिं विद्यात् ७।१५८
अनारोग्यमनायुष्यम् २।५७
अनित्यो विजयो यस्मात् ७।१९९
अनुरक्तः शुचिर्दक्षः ७।६४
अनुष्णाभिरफेनाभिः २।६१
अनेन क्रमयोगेन २।१६४
अन्यान्पि प्रकुर्वीत ७।६०
अन्येष्वपि तु कालेषु ७।१८३
अपां समीपे नियतः २।१०४
अपि यत्सुकरं कर्म ७।५५
अब्राह्मणादध्ययनं २।२४१
अभिवादनशीलस्य २।१२१
अभिवादात्परं विप्रः २।१२२
अभ्यङ्गमञ्जनं चाक्ष्णो २।१७८
अभ्यञ्जनं स्नापनं च २।२११
अमन्त्रिका तु कार्येयं २।६६
अमात्यमुख्यं धर्मज्ञम् ७।१४१
अमात्यराष्ट्रदुर्गार्थम् ७।१५७
अमाययैव वर्तेत ७।१०४
अराजके हि लोकेस्मिन् ७।३
अर्थकामेष्वसक्तानाम् २।१३
अर्थसम्पादनार्थं च ७।१६८
अलंकृतश्च संपश्येत् ७।२२२
अलब्धं चैव लिप्सेत ७।९९
अलब्धमिच्छेद्दण्डेन ७।१०७
अल्पं वा बहु वा यस्य २।१४९
अवाच्यो दीक्षतो नाम्ना २।१२८
अविद्वांसमलं लोके २।२१४
अहिंसयैव भूतानाम् २।१५९

आ

आचम्य प्रयतो नित्यमुभे २।२२२
आचार्यपुत्रः शुश्रूषुः २।१०९
आचार्यश्च पिता चैव २।२२५
आचार्यस्त्वस्य यां जातिम् २।१४८
आचार्ये तु खलुप्रेते २।२४७
आचार्यो ब्रह्मणो मूर्तिः २।२२६
आददीताथ षड्भागम् ७।१३१
आदानमप्रियकरम् ७।२०४
आपदर्थं धनं रक्षेत् ७।२१३
आयतिं सर्वकार्याणाम् ७।१७८
आयत्यां गुणदोषज्ञः ७।१७९
आयुष्मान् भव २।१२५
आयुष्यं प्राङ्मुखो भुङ्क्ते २।५२
आर्यता पुरुषज्ञानम् ७।२११
आवृत्तानां गुरुकुलात् ७।८२
आ षोडशात् २।३८
आसनं चैव यानं च ७।१६१
आ समाप्तेः शरीरस्य २।२४४
आ समुद्रात् २।२२
आसीनस्य स्थितः कुर्यात् २।१९६
आहवेषु मिथोऽन्योन्यम् ७।८९
आ हैव सनखाग्रेभ्यः २।१६७

इ

इन्द्रानिलयमार्काणाम् ७।४
इन्द्रियाणां तु सर्वेषाम् २।९९
इन्द्रियाणां जये योगम् ७।४४
इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषम् २।९३
इन्द्रियाणां विचरताम् २।८८
इमं लोकम् मातृभक्त्या २।२३३

उ

उत्थाय पश्चिमे यामे ७।१४५
उत्पादकब्रह्मदात्रोः २।१४६
उत्सादनं च गात्राणाम् २।२०९
उदकुम्भं सुमनसः २।१८२
उदितेऽनुदिते चैव २।१५
उद्धृते दक्षिणे पाणौ २।६३
उपजप्यानुपजपेत् ७।१९७
उपनीय गुरुः शिष्यम् २।६९
उपनीय तु यः शिष्यम् २।१४०
उपरुध्यारिमासीत् ७।१९५
उपस्पृश्य द्विजो २।५३
उपाध्यायान्दशाचार्यः २।१४५
उपेतारमुपेयं च ७।२१५

ऊ

ऊर्ध्वं प्राणा २।१२०

ऋ

ऋजवस्ते तु सर्वे स्युः २।४७

ए

एकः शतं योधयति ७।७४
एकः शयीत सर्वत्र २।१८०
एकदेशं तु वेदस्य २।१४१
एकमेव दहत्यग्निः ७।९
एकाकिनश्चात्ययिके ७।१६५
एकाक्षरं परं ब्रह्म २।८३
एकादशं मनो ज्ञेयम् २।९२
एकादशेन्द्रियाण्याहुः २।८९
एतच्चतुर्विधं विद्यात् ७।१००
एतदक्षरमेतां च २।७८
एतद्देशप्रसूतस्य २।२०
एतद्विधानमातिष्ठेदरोगः ७।२२६
एतयचर्या विसंयुक्तः २।८०
एताः प्रकृतयो मूलम् ७।१५६
एतान्द्विजातयो देशान् २।२४
एवं चरित यो विप्रः २।२४९
एवं प्रयत्नं कुर्वीत ७।२१०
एवं विजयमानस्य ७।१०७
एवं वृत्तस्य नृपतेः ७।३३

एवं सर्वं विधायेदम् ७।१४२
एवं सर्वमिदं राजा ७।२१६
एष प्रोक्तो द्विजातीनाम् २।६८
एषोऽनुपस्कृतः प्रोक्तः ७।९८

क

कामजेषु प्रसक्तो हि ७।४६
कामं तु गुरुपत्नीनाम् २।२१६
कामात्मता न प्रशस्ता २।२
कामान्माता पिता चैनम् २।१४७
कारुकाञ्छिल्पिनश्चैव ७।१३८
कार्पासमुपवीतं स्यात् २।४४
कार्ष्णरौरववास्तानि २।४१
कुरुक्षेत्रं च मत्स्याश्च २।१९
कुरुक्षेत्रांश्च मत्स्यांश्च ७।१९३
कृतोपनयनस्यास्य २।१७३
कृत्वा विधानं मूले तु ७।१८४
कृत्स्नं चाष्टविधं कर्म ७।१५४
कृष्णसारस्तु चरति २।२३
केशान्तः षोडशे वर्षे २।६५
केशान्तिको ब्राह्मणस्य २।४६
क्रयविक्रयमध्वानम् ७।१२७
क्षत्रियस्य परोधर्मः ७।१४४
क्षरन्ति सर्वा २।८४
क्षीणस्य चैव क्रमशः ७।१६६
क्षेत्रंहिरण्यं गामश्वम् २।२४६
क्षेम्यां सस्यप्रदां नित्यम् ७।२१२

ग

गत्वा कक्षान्तरं त्वन्यत् ७।२२४
गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत २।३६
गार्भैर्होमैर्जातकर्म २।२७
गिरिपृष्ठं समारुह्य ७।१४७
गुरुपत्नी तु युवतिः २।२१२
गुरुवत्प्रतिपूज्याः स्युः २।२१०
गुरोः कुले न भिक्षेत २।१८४
गुरोर्गुरौ संनिहिते २।२०५
गुरोर्यत्र परिवादः २।२००
गुल्मांश्च स्थापयेत् ७।१९०
गोऽश्वोष्ट्रयानप्रासाद २।२०४
ग्रामदोषान्समुत्पन्नान् ७।११६
ग्रामस्याधिपतिं कुर्यात् ७।११५

च

चक्रिणो दशमीस्थस्य २।१३८
चतुर्थे मासि कर्तव्यम् २।३४
चूडाकर्म द्विजातीनाम् २।३५
चोदितो गुरुणा नित्यम् २।१९१

ज

जडमूकान्धबधिरान् ७।१४९
जप्येनैव तु संसिध्येत् २।८७
जाङ्गलं सस्यसपन्नम् ७।६९
जित्वा संपूजयेद्देवान् ७।२०१

त

तं चेदभ्युदियात्सूर्यः २।२२०
तं देशकालौ शक्तिं च ७।१६
तं यस्तु द्वेष्टि संमोहात् ७।१२
त एव हि त्रयो लोकाः २।२८०
ततो दुर्गं च राष्ट्रं च ७।२९
तत्र यद्ब्रह्मजन्मास्य २।१७०
तत्र स्थिताः प्रजाः सर्वाः ७।१४६
तत्रात्मभूतैः कालज्ञैः ७।२१७
तत्स्यादायुधसंपन्नम् ७।७५
तदध्यास्योद्वहेद्भार्याम् ७।७७
तपत्यादित्यवच्चैषः ७।६
तपोविशेषैर्विविधैः २।१६५
तयोर्नित्यं प्रियं कुर्यात् २।२२८
तस्माद्धर्मं यमिष्टेषु ७।१३
तस्मिन्देशे य आचारः २।१८
तस्य मध्ये सुपर्याप्तम् ७।७६
तस्य सर्वाणि भूतानि ७।१५

तस्यार्थे सर्वभूतानाम् ७।१४
तस्याहुः संप्रणेतारम् ७।२६
तान्सर्वानभिसंदध्यात् ७।१५९
तीक्ष्णश्चैव मृदुश्च स्यात् ७।१४
ते तमर्थमपृच्छन्त २।१५२
तेन यद्यत्सभृत्येन ७।३७
तेभ्योऽधिगच्छेद्विनयम् ७।३९
तेषां ग्राम्याणि कार्याणि ७।१२०
तेषां तु समवेतानाम् २।१३९
तेषां त्रयाणां शुश्रूषाम् २।२२९
तेषां स्वं स्वमभिप्रायम् ७।५७
तेषामनुपरोधेन २।२३६
तेषु सम्यग्वर्तमानः २।५
तैः सार्धं चिन्तयेन्नित्यम् ७।५६
त्रयाणामप्युपायानाम् ७।२००
त्रिभ्य एव तु वेदेभ्यः २।७७
त्रिराचामेदपः पूर्वं द्विः २।६०
त्रिष्वप्रमाद्यन्नेतेषु २।२३२
त्रिष्वेतेष्वितिकृत्यं हि २।२३७
त्रीण्याद्यान्याश्रितास्त्वेषाम् ७।७२
त्रैविद्येभ्यस्त्रयीं विद्याम् ७।४३

द

दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वाः ७।१८
दण्डव्यूहेन तन्मार्गम् ७।१८७
दण्डस्य पातनं चैव ७।५१
दण्डो हि सुमहत्तेजः ७।२८
दश कामसमुत्थानि ७।४५
दशाब्दाख्यं पौरसख्यम् २।१३४
दशी कुलं भुञ्जीत ७।११९
दुष्येयुः सर्ववर्णाश्च ७।२४
दूत एव हि संधत्ते ७।६६
दूतं चैव प्रकुर्वीत ७।६३
दूतः संप्रेषणं चैव ७।१५३
दूरस्थो नार्चयेदेनम् २।२०२
दूरादाहृत्य समिधः २।१८६
देवदानवगन्धर्वाः ७।२३
द्यूतं च जनवादं च २।१७९
द्वयोरप्येतयोर्मूलम् ७।४९
द्वयोस्त्रयाणां पञ्चानाम् ७।११४

ध

धन्वदुर्गं महीदुर्गम् ७।७०
धर्मज्ञं च कृतज्ञं च ७।२०९
धर्मार्थावुच्यते श्रेयः २।२२४
धर्मार्थौ यत्र न स्याताम्

न

न कूटैरायुधैर्हन्यात् ७।९०
नगरे नगरे चैकम् ७।१२१
न च हन्यात्स्थलारूढम् ७।९१
न जातु कामः कामानाम् २।९४
न तं स्तेना न चामित्राः ७।८३
न तथैतानि शक्यन्ते २।९६
न तिष्ठति तु यः पूर्वां २।१०३
न तेन वृद्धो भवति ६।१५६
न पूर्वं गुरवे किंचित् २।२४५
न सुप्तं न विसन्नाहम् ७।९२
न स्कन्दते न व्यथते ७।८४
न हायनैर्न पलितैः २।१५४
नापृष्टः कस्यचिद्ब्रूयात् २।११०
ना ब्राह्मणे गुरौ शिष्यः २।२४२
नाभिव्याहारयेद्ब्रह्म २।१७२
नामधेयं दशम्यां तु २।३०
नामधेयस्य ये केचित् २।१२३
नायुधव्यसनप्राप्तम् ७।९३
नारुन्तुदः स्यादार्तोऽपि २।१६१
नास्यच्छिद्रं परो विद्यात् ७।१०५
निग्रहं प्रकृतीनां च ७।१७५
नित्यं तस्मिन्समाश्वस्त ७।५९
नित्यं स्नात्वा शुचिः कुर्या २।१७६

नित्यमुद्धतपाणिः स्यात् २।१९३
नित्यमुद्यतदण्डः स्यात् ७।१०२
नित्यमुद्यवदण्डस्य ७।१०३
निर्वर्तेतास्य यावद्भिः ७।६१
निषेकादिश्मशानन्तः २।१६
निषेकादीनि कर्माणि २।१४२
नीचं शय्यासनं चास्य २।१९८
नैतैरपूतैर्विधिवत् २।४०
नैत्यके नास्त्यनध्यायः २।१०६
नोच्छिन्द्यादात्मनो मूलं ७।१३९
नोच्छिष्टं कस्यचिद्दद्यात् २।५६
नोदाहरेदस्य नाम २।१९९

प

पञ्चानां त्रिषु वर्णेषु २।१३७
पञ्चाशद्भाग आदेयः ७।१३०
पणो देयोऽवकृष्टस्य ७।१२६
पत्रशाकतृणानां च ७।१३२
परपत्नीति या स्त्री स्यात् २।१२९
परस्परविरुद्धानाम् ७।१५२
पराङ्मुखस्याभिमुखः २।१९७
परीक्षिताः स्त्रियश्चैनम् ७।२१९
परीवादात्खरो भवति २।२०१
पात्रस्य हि विशेषेण ७।८६
पानमक्षाः स्त्रियश्चैव ७।५०
पार्ष्णिग्राहं च संप्रेक्ष्य ७।२०७
पिता वै गार्हपत्योऽग्निः २।२३१
पितुर्भगिन्यां मातुश्च २।१३३
पुरोहितं च कुर्वीत ७।७८
पूजयेदशनं नित्यम् २।५४
पूजितं ह्यशनं नित्यम् २।५५
पूर्वां सन्ध्यां जपस्तिष्ठन्नैश २।१०२
पूर्वां सन्ध्यां जपंस्तिष्ठेत् सा २।१०१
पृथुस्तु विनयाद्राज्यम् ७।४२
पैशुन्यं साहसं द्रोहः ७।४८
प्रतिगृह्येप्सितं दण्डम् २।४८
प्रतिवातेऽनुवाते च २।२०३
प्रतिश्रवणसंभाषे २।१९५
प्रमाणानि च कुर्वीत ७।२३०
प्रहर्षयेद्बलं व्यूह्य ७।१९४
प्राक्कूलान्पर्युपासीनः २।७५
प्राङ्नाभिवर्धनात्पुंसः २।२९
प्राज्ञं कुलीनं शूरं च ७।२१०

ब

बकवच्चिन्तयेदर्थान् ७।१०६
बलस्य स्वामिनश्चैव ७।१६७
बहवो विनयान्नष्टाः ७।४०
बालः समानजन्मा वा २।२०८
बालोऽपि नावमन्तव्यः ७।८
बुद्धीन्द्रियाणि पञ्चैषाम् २।९१
बुद्ध्या च सर्वं तत्त्वेन ७।६८
ब्रह्मणः प्रणवं कुर्यात् २।७४
ब्रह्मणस्त्वननुज्ञातम् २।११६
ब्रह्मवर्चसकामस्य २।३७
ब्रह्मारम्भेऽवसाने च २।७१
ब्राह्मं प्राप्तेन संस्कारम् ७।२
ब्राह्मणं कुशलं पृच्छेत् २।१२७
ब्राह्मणं दशवर्षं तु २।१३५
ब्राह्मणस्यैव कर्मैतत् २।१९०
ब्राह्मणान्पर्युपासीत ७।३७
ब्राह्मणो बैल्वपालाशौ २।४५
ब्राह्मणस्य जन्मनः कर्ता २।१५०

भ

भवत्पूर्वं चरेद्भैक्षम् २।४९
भिन्दन्त्यवमता मन्त्रम् ७।१५०
भिन्द्याश्चैव तडागानि ९।१९६
भुक्तवान्विहरच्चैव ७।२२१
भैक्षेण वर्तयेन्नित्यम् २।१८८

भो शब्दं कीर्तयेदन्ते २।१२४
भ्रातुर्भार्योपसंग्राह्या २।१३२

म

मङ्गल्यं ब्राह्मणस्य स्यात् २।३१
मध्यंदिनेऽर्धरात्रे वा ७।१५१
मध्यमस्य प्रचारं च ७।१५५
मन्येतारिं यदा राजा ७।१७३
मातरं वा स्वसारं वा २।५०
मातुरग्रेऽधिजननम् २।१६९
मातुलांश्च पितृव्यांश्च २।१३०
मातृष्वसा मातुलानी २।१३१
मात्रा स्वस्रा दुहित्रा २।२१५
मार्गशीर्षे शुभे मासि ७।१८२
मुञ्जालाभे तु कर्तव्या २।४३
मुण्डो वा जटिलो वा स्यात् २।२१९
मृगयाक्षा दिवास्वप्नः ७।४७
मेखलामजिनं दण्डम् २।६४
मोहाद्राजा स्वराष्ट्रं यः ७।१११
मौञ्जी त्रिवृत्समा २।४२
मौलाञ्छस्त्रविदः शूरान् ७।५४
म्रियमाणोऽप्याददीत ६।१३३

य

यं मातापितरौ क्लेशम् २।२२७
यः कश्चित्कस्यचिद्धर्मः २।७
यः स्वाध्यायमधीतेऽब्दम् २।१०७
य आवृणोत्यवितथम् २।१४४
यच्चास्य सुकृतं किंचित् ७।९४
यजेत राजा क्रतुभिः ७।७९
यतश्च भयमाशङ्केत् ७।१८८
यत्किंचिदपि वर्षस्य ७।१३७
यत्र श्यामो लोहिताक्षः ७।२५
यथा काष्ठमयो हस्ती २।१५७
यथा खनन्खनित्रेण २।२१८
यथा दुर्गाश्रितानेतान् ७।७३
यथा फलेन युज्येत ६।१२८
यथाल्पाल्पमदन्त्याद्यम् ७।१२९
यथा षण्ढोऽफलः स्त्रीषु २।१५८
यथेदमुक्त्वाञ्छास्त्रं २।११९
यथैनं नाभिसंदध्युः ७।१८०
यथोद्धरति निर्दाता ७।११०
यथा तु यानमातिष्ठेत् ७।१८१
यथा तु स्यात्परिक्षीणः ६।१७२
यथा परबलानां तु ७।१७४
यथा प्रकृष्टा मन्येत ७।१७०
यथा मन्येत भावेन ७।१७१
यथावगच्छेदायत्याम् ६।१६९
यदि तत्रापि संपश्येत् ७।१७६
यदि त्वात्यन्तिकं वासम् २।२४३
यदि स्त्री यद्यवरजः २।२२३
यद्यस्य विहितं चर्म २।१७४
यमेव तु शुचिं विद्यात् २।११५
यश्चैतान्प्राप्नुयात्सर्वान् २।९५
यस्तु भीतः परावृत्तः ७।९४
यस्मादेषां सुरेन्द्राणाम् ७।५
यस्य प्रसादे पद्मा श्रीः ७।११
यस्य मन्त्रं न जानन्ति ७।१४८
यस्य राज्ञस्तु विषये ७।१३४
यस्य वाङ्मनसी शुद्धे २।१६०
यानि राजप्रदेयानि ७।११८
यावत्त्रयस्ते जीवेयुः २।२३५
ये कार्यिकेभ्योऽर्थमेव ७।१२४
ये पाकयज्ञाश्चत्वारः २।८६
योऽधीतेऽहन्यहन्येता २।८२
योऽनधीत्य द्विजो वेदम् २।१६८
यो नवेत्त्यभिवादस्य २।१२६
योऽवमन्येत ते मूले २।११

र

रथाश्वं हस्तिनं छत्रम् ७।९६

निर्माण प्रकाशन

19/ए, राम नगर, लोनी रोड़, शाहदरा, दिल्ली-32
(के० एल० राठी मिल के सामने)

दिल्ली विश्वविद्यालय के बी० ए० (आनर्स) संस्कृत की पाठ्य पुस्तकें

उत्कीर्णलेखस्तवकः ✓	डा. जियालाल काम्बोज	20.00
मुण्डकोपनिषद्	डा. जियालाल काम्बोज	20.00
मनुस्मृतिः ✓	तीर्थानन्द झा	25.00
लघुसिद्धान्तकौमुदी	डा. रमण कुमार शर्मा	20.00
कुमारसम्भवम् ✓	विनोद कुमार शर्मा	20.00
शिवराज विजय ✓	विनोद कुमार शर्मा	10.00
(बी० ए० आनर्स हिन्दी)		
गोस्वामी तुलसीदास रचित कवितावली	मंजु गुप्ता	25.00
कबीर वाणी पीयूष	मंजु गुप्ता	20.00
उस्मान कृत-चित्रावली	डा. निरंजन लाल शर्मा	20.00
सूर सागर सार	मंजु गुप्ता	20.00
मीराबाई की पदावली	मंजु गुप्ता	20.00
उस्मान कृत चित्रावली	मंजु गुप्ता	20.00
अरुण बी० ए० आनर्स	हिन्दी गाइड प्रथम भाग	33.00
अरुण बी० ए० आनर्स	हिन्दी गाइड द्वितीय भाग	33.00
एम० ए० संस्कृत		
भरत कृत-नाट्यशास्त्रम्	प्रो० ब्रजमोहन चतुर्वेदी	25.00
आगमी नवीन प्रकाशन की सूची		
कठोपनिषद्	डा. रघुवीर वेदालंकार	
नीतिशतकम्*	विनोद कुमार शर्मा	15.00

निर्माण संस्कृत गाइड—कक्षा दस (1990 की परीक्षा हेतु)

हमारे प्रमुख विक्रेता

कला मन्दिर—1687, नई सड़क, दिल्ली फोन-278828

अग्रवाल एण्ड सन्स—6, एफ कमला नगर, दिल्ली फोन-2913891

ज्ञानदीप प्रकाशन—47-ए, कमला नगर, दिल्ली-7

Piyush